



मुनि धीमन्मतीर्नि दि० जैन ग्रन्थ-मालाका द्वितीय खण्ड ।



धीपरमात्मने नमः ।

श्रीमदमित्तगति आचार्यविरचित  
श्रावकाचार ।



पं० भागचंद्रजीकृत वचनिका सहित ।

धावण, वि० सं० १९७९ ।

## ग्रंथकर्ता ।



इस ग्रंथके मूल कर्ता माधुरसंघके आचार्य अमिनगति हैं । उक्त नामके दो आचार्य हुये हैं । जिनमेंसे एक तो मुंगराजाके शासनकाल विक्रमसंवत्की ११ वीं शताब्दीमें । जिन्होंने धर्मपरीक्षा, मुभापितरत्नसंशोह, पंचसंग्रह तथा इस श्रावकाचार आदि ग्रंथोंकी रचना की है । ये अमिनगति माधुरसंघके आचार्य माधवसेनके शिष्य थे इमवातका उल्लेख उक्त आचार्यप्रवरने प्रायः अपने सभी ग्रंथोंमें किया है । इनकी विशेष प्रशंसिका वर्णन मुभापितरत्नसंशोह, आदि प्रायः सभी ग्रंथोंमें है । इसलिये जिज्ञासु महोदयोंको वहाँमें जानना चाहिये वहाँ विन्तारके अयसे और मुभापितरत्नसंशोहमें प्रशंसिके मुद्रित होजानेसे विशेष वर्णन नहीं किया गया है ।

दूसरे अमिनगति आचार्य इन्हीं अमिनगतिके गुरुके गुरु आचार्य नेमिपेणके गुरु तथा देवसेनके शिष्य हुये हैं । योगसार नामक जो अमिनगति कृत अध्यात्मविषयक ग्रंथ है उसके कर्ता शायद ये ही अमिनगति हैं । क्योंकि योगसारकी शब्दार्थरचना तथा धर्मपरीक्षादि ग्रंथोंकी रचनामें विभिन्नताके अनिश्चित एक गुण प्रमाण यह भी है कि धर्मपरीक्षादि ग्रंथोंमें माधवसेनके शिष्य अमिनगतिने अपने नामका उल्लेख प्रायः सभी अध्यायों परिच्छेदोंके अन्तमें अन्य शब्दोंके विशेषणरूपमें किया है । परन्तु योगसारके किसी अधिकारमें ऐसा नहीं है, बल्कि एक अंतिम श्लोकमें अपना नाम स्पष्ट प्रकट किया है,—जैसे:—

एवमि गगननगरस्यप्रभायोपमाने

निःसंसारमामितगतिरिदं प्राभूतं योगसारम् ।

ब्रह्मप्रान्या परमकृत स्येषु चाग्नप्रतिष्ठं

निग्यानंदं गलितकण्ठिलं सूक्ष्ममत्यक्षलक्ष्यम् ॥

अनिश्चित धर्मपरीक्षादि सभी ग्रंथोंमें अमिनगतिने अपने गुरुका स्मरण किया है परन्तु योगसारमें नहीं । इसलिये योगसारके कर्ता देवशिष्य अमिनगति ही होने चाहिये ।

## भाषाटीकाकार ।

इस संघकी हिन्दीभाषाटीकाके कर्ता रंजित भी भागचन्द्रजी हैं । आप ईमागढ़ जिला खालियारके रहनेवाले भोमवाल जैन थे । परन्तु आप दिगम्बर जैनधर्मके ही बड़े अनुयायी थे । आप बीमरी राजास्त्रीके अच्छे गण्यमान्य जैनविद्वानोंमेंसे हैं । आप संस्कृत एवं हिन्दीभाषाके प्रतिभाशाली विद्वान् एवं कवि थे । संस्कृतमें आपका बनाया हुआ महावीराष्टक स्तोत्र है । जो सर्वत्र प्रचलित है । आपने भक्तिगतिभावकाचार, उपदेशविद्वान्तराममाला, प्रमाणपरीक्षा, नेमिनाथपुराण और ज्ञानसूर्योदयनाटक इन संघोंकी भाषा कथनिका की है । और उलमोक्तम अनेक भाषणपूर्ण पद अज्जन बनाये हैं । जिनका संग्रह छप भी चुका है । आप प्रतिभाशाली, मौड, धर्मिष्ठ एवं अनुभवी विद्वान् थे ।

## हिन्दीभाषा ।

इस संघकी हिन्दी भाषा जैसी भी बँसी ही रक्की गई है । नवीन शोलचालकी हिन्दीमें परिवर्तन नहीं की गई है क्योंकि भाषा परिवर्तन करदेनेसे भाषाटीकाकारकी कृतिका ज्योंका त्यों आश्वादन नहीं होता और स्वाध्यायप्रेमी मज्जनोंको यथापूर्व भाषामें ही विशेष आनन्द होता है ।

निवेदक,

राजमल खड्गारया,

मंत्री

भाषाट्ट दृष्टा आठमी }  
वि० संवत् १९७९ }

मुनि श्रीअनंतकीर्ति दि० जैन संघ माला ।



जे पंचविध आचार निर्मल पंच अपि सु साधने,  
 पुनि द्वादशांग समुद्र अवगाहत सरल भ्रम बाधने ।  
 वर मूरि संत महंत विधिगण हरणको अतिदक्ष हैं,  
 ते मोक्षलक्ष्मी देहु हमको जहां नाहि विपक्ष हैं ॥ ३ ॥  
 जो घोर भव कानन कुअटवी पापपंचानन जहां,  
 तीक्ष्ण सकलजन दुःखकारी जासको नखण महा ।  
 तहं भ्रमत भूले जीवकों शिवमग बतार्ये जे सदा,  
 तिन उपाध्याय मुनिद्रिके चरणारविंद नमूं सदा ॥ ४ ॥  
 विन संग उग्र अभंग तपतें अंगमें अति रागि हैं,  
 नाहि हीन ज्ञानानंद ध्यावत धर्मशुल प्रवीन हैं ।  
 अतितपोकमलाकलित भासुर सिद्धपद साधन करे  
 ते साधु जयवंतो सदा जे जगतके पाविक हरे ॥ ५ ॥

दोहा ।

जिनवर सिद्धाचार्य पुन उपाध्याय मुनिराय ।  
 नमस्कार गुरु पंचको होउ सदा मुगदाय ॥ १ ॥  
 जयवंतो जिनधर्म मो वीतरागपरिनाम ।  
 कृगतिपातने जीवको काटि धरे शिष्याम ॥ २ ॥  
 बंदे पुन जिनवचनको जाके स्यात्पद चेतु ।  
 मया प्रसाये भ्रम हरे गयजगको सुख हेतु ॥ ३ ॥  
 ध्यान ध्यान गदादिदिन जिनप्रतिमा अभिगम ।  
 मान्यो कर्म है जहां नहि नित करे प्रनाम ॥ ४ ॥  
 मन्त्रनामपुत्र निग पूजित पावनद्वार ।  
 येन्याय जिननेउके बंदे वेगलक्षण ॥ ५ ॥

इमं नय देवः प्रणामं करि निजमतके अनुसार ।

ग्रंथ आवकाचारकी रचूं वचनिका सार ॥ ६ ॥

ऐसे मंगल करि थी अमितगत्याचार्यवृत्त आवकाचारकी वचनिका कोरेवे है । तहों ओ हानकी मंदतातैं हीनाधिक अथ होय ताकी विशेषज्ञानी मुधार लीओ, मोकी मंदबुद्धी जानि हास्य मति कीओ यह विशेषज्ञानीनतैं मेरी परोक्ष प्रार्थना है ॥

उपजातिछंद ।

नाशकृतानि प्रमवंति भूयस्तमांमि चैर्दृष्टिहराणि मघः ।

ने शाश्वतीमस्तमपानमिज्ञा जिनैदयो वो वितरंतु लक्ष्मीम् ॥१॥

अर्थ—ते श्रीजिनरूप चंद्रमा तुम्हारे शाश्वती जो मोक्षलक्ष्मी ताहि विस्तारहु । कैसे हैं जिनचंद्र अस्तकिये हैं अज्ञानी परवादी जिननैं । चहुरे जिनकरि शीघ्र ही दूरे किये सम्यक्दृष्टिके हरणेवाले मोह अंधकार से फेर न होय है ॥ १ ॥

विभिद्य कर्माष्टकशंखलं ये गुणाष्टकैश्वर्यमुपेत्य पूतम् ।

श्राप्तासिलोकाप्रशिक्षामणित्वं भवंतु सिद्धा मम सिद्धये ते ॥ २ ॥

अर्थ—ते श्री भगवान मेरे सिद्धिके अर्थ होऊ । जे सिद्ध भगवान ज्ञानावरणादि अष्टकर्मरूप साकल्यकूं छेदि करि अर सम्पत्त्वादि अष्ट गुणरूप पवित्र ऐश्वर्यकौ प्राप्त होय तीन लोकके चूडामणिवनेकौ प्राप्त भये हैं ॥ २ ॥

ये चारयंते चरितं विचित्रं स्वयं चरंतो जनमर्चनीयाः ।

आचार्यवर्या विनरंतु ते मे प्रमोदमाने हृदयारविंदे ॥ ३ ॥

अर्थ—ते आचार्यवर्य बहिये आचार्यनिधिपै प्रधान आचार्य आनंदका देनेवाला जो मेरा हृदयफल ता विपै विषरहु । कैसे हैं आचार्य

जे नानाप्रकार चारित्रकों आचरण करते संते ठीककों आचरण करावै हैं याहींतै पूजनीक हैं । भावार्थ—बौतरागरूप धर्मकों आचरण करैहैं अर दयाल होय औरनिकों आचरण करावै हे तेही बौतराग भावनिके बाँछकनि करि पूजनीक हैं अर ते ही ज्ञानानन्दके कारन हैं । बहुरि इन्तै विपरीत अन्यरागद्वेषभावसहितहैं ते आचार्य नांही ॥ ३ ॥

येषां तपःश्रीरनघा शरीरे विवेचका चेतसि तत्त्वबुद्धिः ।

सरस्वती तिष्ठति वक्त्रपद्मे पुनंतु तेऽध्यापकपुंगवा वः ॥ ४ ॥

अर्थ—ते उपाध्यायनिवैयै प्रधान उपाध्यायभगवान तुमकों पवित्र करहु । कैसे हैं उपाध्याय, जिनके शरीरविषै पापरहित तपो-लक्ष्मी तिष्ठै है, अर जिनके चित्तविषै भेदविज्ञान करनेवाली तत्वबुद्धि तिष्ठै है, अर मुखकमलविषै सरस्वती कहिये जिनवाणों तिष्ठै है ।

भावार्थ—मन वचन कायरूप तीनों योग जिनके निर्मल भये हैं ॥४॥

कषायसेनां प्रतिबंधिनीं ये निहत्य धीराः समशीलशस्त्रैः ।

सिद्धिं विद्यायां लघु साधयन्ते ते साधवो मे वितरन्तु सिद्धिम् ५

अर्थ—ते साधु हमारे अर्थ सिद्धि जो मोक्ष ताहि देहु । कैसे हैं ते साधु, जे धीर समशीलरूप शस्त्रनिकरि सिद्धिकी रोकनेवाली क्रोधा-दिकषायनकी सेनाकों शस्त्रनितै नाशकरे अपनी सिद्धिकों सावै हे तैसे साधु कषायनिकों क्षमादिभावनितै नाशकरि परमनिराकुल अवस्थाकों सावै हे ॥ ५ ॥

विभूषिनोऽज्ञाय यथा शरीरे विमुक्तिकांतां विदधाति यस्याम् ।

मा दर्शनज्ञानचरित्रभूषा चित्ते मदीये स्थिरतामुपैतु ॥ ६ ॥

अर्थ—मां दर्शन ज्ञान चारित्ररूप भूषण मेरे चित्तविषै सदा स्थिरताकों प्राप्त होहु । जिस आभूषणकरि भूषित जो जीव है सो जीव ही मुक्तिस्त्रीकी वश करे है ।

भाषार्थ—जैसे सुंदर दृग्गारमहित पुरुषके ली वशी होय है तेम  
दर्शन ज्ञानसहित आनाके ज्ञानानंदस्वस्व अवरथा प्राप्त होय है ॥ ६ ॥

मानेव या शान्ति हितानि पुंसो रजः क्षिपंती दधनी गुग्गानि ।  
समस्तदारास्वार्थविचारदधा सरस्वती मा तनुतां मतिं मे ॥ ७ ॥

अर्थ—सौ सरस्वती मेरी बुद्धिको विस्तारहू । केनी है सरस्वती,  
जो पुरुषको माताकी उयो हित जे कल्याणके कारण तिनहि मित्रावे  
है, अर रज जो अज्ञान ताहि दरावे है, अर गुग्गानिको पुष्ट करे है,  
अर समस्त शारत्रनिके अर्थके विचारविधि प्रवीण है ।

भाषार्थ—अनेकात्मवी जो जिनवाणी साया नाम सरस्वती है  
सो जैसे चतुर माता पुत्रको लौकिक हितहितके कारण मित्रावे है,  
अर अंगकी भूलि छार है अर गुण बढ़ावे है । तेसे जिनवाणी मोक्षमार्ग-  
विधि हितहित सिखावे है अर अज्ञान दुरि करे है अर ज्ञानानंद पुष्ट  
करे है ऐसा जानना ॥ ७ ॥

शाखांबुधेः पारमियसि येषां निषेवमाणः पदपद्मयुग्मं ।

गुणैः पवित्रगुरुर्यो गरिष्ठाः कुर्वंतु निष्ठां मम ते परिष्ठाम् ॥ ८ ॥

अर्थ—जिनके ध्यानकमलकी प्यावता संता पुत्र शास्त्रसमुद्रके  
पारकी प्राप्त होय है, ते पवित्र गुणनि करि गुणवे ऐसे ही गुण मेरे  
छेष्ट क्रियाके परह ॥ ८ ॥

उपासकाचारविचारमारं संक्षेपतः शास्त्रमहं करिष्ये ।

शक्तोति कर्तुं धुनस्तेष्विभ्यो न प्यामतोऽप्योदि कदाचनापि ॥ ९ ॥

अर्थ—मैं जो हूँ शास्त्रकार सो आपकाकारके विचारका संपन्न  
शास्त्रको संक्षेपते बरूना । जो धुनस्तेष्विभ्यो अर्थात् दूर पुत्र  
विस्तार करनेके कदापि समर्थ नहीं है ।



भावार्थ—विस्तारसहिततौ श्रुतकेवलीके सिवाय दूजा कोन कहे; मैं सो संक्षेपरूप श्रावकाचार कहूंगा ॥ ९ ॥

क्षुद्रस्वभावाः कृतिमस्तदोपां निसर्गतो यद्यपि दूयन्ते ।  
तथापि कुर्वन्ति महानुभावास्त्याज्या न यूकामयतो हि शोटी । १० ।

अर्थ—जो पुनः नीचपुरुष निर्दोष कार्यकौ स्वभावहीतें दूयन लगार्वे है तौ भी महान पुरुष कार्यकौ करे है, जातें यूकानके भयतें साढी त्यागने योग्य नाहीं ।

भावार्थ—दुष्टनिके भयतें सज्जन उत्तम कार्यकौ न त्यागें जैसे लोक यूकानके भयतें बह्व न त्यागें ऐसा जानना ॥ १० ॥

संसारकांतारमपास्तसारं ब्रह्मम्यमाणो लभते शरीरी ।

कृच्छ्रेण नृत्वं सुखशस्यबीजं प्ररूढदुःकर्मशमेन भूतं ॥ ११ ॥

अर्थ—साररहित संसारवनविषै अतिशयकरि भ्रमता यह जीव है सो कष्टकरि मनुष्यपना पावै है । कैसा है मनुष्यपना, नित्यही सुखरूप धान्यका बीजसमान, अर फैल रद्या जो पापकर्म ताके उपशम करि उपज्या ऐसा है ।

भावार्थ—इस असारसंसारविषै मनुष्यपना दुर्लभ है बड़े पापके उपशम करि होय है, जातें इस ही करि मोक्षका कारन तपधरणादि होय सकै है ॥ ११ ॥

नरेषु चक्री त्रिदशेषु चक्री मृगेषु सिंहः प्रशमो व्रतेषु ।

मतो महीभृत्सु सुवर्णशूलो भवेषु मानुष्यभवः प्रधानम् ॥ १२ ॥

अर्थ—जैसे मनुष्यनिविषै चक्रवर्ती प्रधान है, अर देवनिविषै इंद्र प्रधान है, अर मृगनिविषै सिंह प्रधान है, अर व्रतनिविषै प्रशमभाव प्रधान है, अर पर्वतनिविषै मेरु प्रधान है; तैसे मनुष्यनिविषै मनुष्यमय प्रधान है ॥ १२ ॥

त्रिवर्गसारः सुखरत्नरानिर्धर्मः प्रधानो भवतीह येन ।

सम्यक्त्वशुद्धाविव धर्मलाभः प्रधानता सेन मताग्य मद्भिः ॥ १३ ॥

अर्थ—जैसे सम्यक्त्वकी शुद्धिता होतेतैसे धर्मका लाभ होय हे तैसे इस नरभवविषये त्रिवर्ग जे धर्म अर्थ काम तिनविषये सार अर सुख-रत्नकी एतनि ऐसा प्रधान धर्म होय हे; ता कारण करि इग नरभवकी प्रधानता सेतनि करि मानी हे ।

भाषार्थ—साक्षात् मोक्षका कारण धर्म नरभवविषये ही होय हे ताते नरभव उत्तम कदा हे ॥ १३ ॥

यथा मणिर्भासगणेष्वनर्घ्यो यथा कृतज्ञो गुणशतु लभ्यः ।

न सारवश्येन तयांगिवर्गः सुखेन मानुष्यभवो भवेत् ॥ १४ ॥

अर्थ—जैसे पत्थानिके समुहविषये अमोलक रत्न गुल्म नहीं तथा जैसे गुणवाननविषये कृतज्ञ गुल्म नहीं, तैसे सारवानपने करि सुख-करि सहित भवनिविषये मनुष्यभव गुल्म नहीं ।

भाषार्थ—सर्व संसारविषये तदधरणादिषुके साधनपने करि सार-भूत मनुष्यभव पावना अति कठिन हे ॥ १४ ॥

शमेन नीतिर्विनयेन विद्या तापेन पीषिरतपसा मपर्या ।

विना नरत्वेन न धर्ममिद्धिः प्रजायते जातु जनस्य पथ्या ॥ १५ ॥

अर्थ—जैसे शमभाषविना नीति न होय, अर विनयविना शिवा न होय, अर शीघ्र बहिये निर्भयपना ताविना बहिये न होय, अर तपविना पूजा न होय; तैसे मनुष्यपने विना जीविये, दिनकर धर्मकी सिद्धि कदाचिद् न होय हे ॥ १५ ॥

अग्नेन गात्रं नयनेन वारत्रं नयेन राज्यं तदप्येन भोष्यह ।

धर्मेण हीनं बत जीवितस्यं न राज्ये चंद्रमया निर्लीयं ॥ १६ ॥

अर्थ—जैसे अन्न करि हीन शरीर, अर नेत्रनि करि हीन मुख, अ नीतिकरि हीन राज्य, अर लक्षण करि हीन भोजन, अर चंद्रमा करि हीन रात्रि न सोढै; तैसे धर्मकरि हीन जीवितव्य नही सोढै है ॥ १६ ॥

शस्येन देशः पयसाब्जखंडं शीर्येण शम्बी विटपी फलेन ।

धर्मेण शोभामुपयाति मर्त्या मदेन दंती तुरगो जवेन ॥ १७ ॥

अर्थ—जैसे धान्यकरि देश, अर जलकरि कमलनिका वन, अ शूरवीरपने करि शस्त्रधारी, अर फलकरि वृक्ष, अर मद करि हस्ती, अ वेगकरि घोडा शोभाका प्राप्त होय है तैसे मनुष्य धर्मकरि शोभाका प्राप्त होय है ॥ १७ ॥

मानुष्यमासाद्य सुकृच्छूलभ्यं न यो विबुद्धिविंदयाति धर्मम् ।

अनन्यलभ्यं स सुवर्णराशिं दारिद्र्यदग्धो विजहाति लब्ध्वा १८

अर्थ—जो बुद्धिरहित पुरुष कष्टकार पावने योग्य जो मनुष्यपना ताहि पाय करि धर्मको न धारैहै सो दारिद्र्य करि पीडित नर अन्य करि न पावने योग्य ऐसी पाई जो सुवर्णकी राशि ताहि तजैहै ।  
भावार्थ—न प्रहं है ॥ १८ ॥

अनादरं यो वितनोति धर्मे कल्याणमालाफलकल्पवृक्षे ।

वितामणिं हस्तगतं दुरापं मन्ये स मुग्धस्तृणवज्रहाति ॥ १९ ॥

अर्थ—जो पुरुष कल्याणनिकी माला जो पंगति सोढी भये फल ताके देनेको कल्पवृक्षसमान जो धर्म ता त्रिवे अनादरको विस्तारैहै, सो मूढ दुःखकारी पावने योग्य हस्तत्रिवे आया जो वितामणि ताहि तृणकी उषो तजैहै, ऐसी न मानूं हूं ॥ १९ ॥

दुःखानि सर्वाणि निहतुकामैर्निःपीडितप्राणिगणानि धर्मः ।

उपासनीयो विधिना विधिजैरग्निर्हिमानीव दुरुत्तराणि ॥ २० ॥

अर्थ—पीडित किये हैं जीवनिके समूह जिनने ऐसे जे समस्त दुःख तिनहि नाश करनेकी है इच्छा जाके ऐसे पुरुषनि करि विधिसहित विधिके जाननेवालेनि करि धर्म सेवना योग्य है; जैसे दुःख करि उतरे जाय ऐसे जाडेनकी नाश करनेके बाँछकनि करि अग्नि सेवन योग्य है तैसे ।

भावार्थ—जैसे शीत मेटे चाहत हैं तिनकरि अग्नि सेवना योग्य है, तैसे मिथ्याज्ञानजनित परद्रव्यनिकी तृष्णारूप दुःखको दूर करे चाहें हैं तिन करि धर्म सेवना योग्य है ॥ २० ॥

शस्थानि रीजं सलिलानि भेषं घृतानि दुग्धं कुसुमानि पृथं ।  
कांक्षत्यहान्येष विना दिनेशं धर्मं विना कांक्षति यः मुखानि २१

अर्थ—जो पुरुष धर्म विना मुखनिको चाहे है सो यहु बाँज विना धान्यनिको चाहे है, अर भेषयिना जलनिको चाहे है, अर दुग्धविना घृतनिको चाहे है, अर वृक्ष विना फूलनिको चाहे है, अर सूर्य विना दिनको चाहे है ।

भावार्थ—जैसे बाँजादिक हैं ते धान्यादिकनिके कारण हैं तैसे धर्म मुखनिका कारण है, अर कारण विना कार्यकी उत्पत्ति चाहे है सो होय नाही ताते पुरुषार्थनिकरि धर्मका संग्रह करना योग्य है ॥ २१ ॥

आयाति लक्ष्म्यः स्वयमेव भव्यं धर्मं दधानं पुरुषं पवित्राः ।  
प्रसूनगंधस्थगिताखिलाशं मरोजिनीखंडमिवालमाला ॥ २२ ॥

अर्थ—कूटनिकी सुगंध करि ग्यात करी है समस्त दिशा जाने ऐसा जो कमलनीनिका बन ता प्रति जैसे भौरानिकी पकति स्वयमेव आव प्राप्त होय है तैसे धर्मको धारन करना जो भव्यपुरुष ता प्रति पवित्र लक्ष्मी स्वयमेव आव प्राप्त होय है ॥ २२ ॥

निषेवते यो विषयं निहीनो धर्मं निराकृत्य सुखाभिलाषी ।  
पीयूषमत्यस्य स कालकूटं सुदुर्जरं खादति जीवितार्थी ॥ २३ ॥

अर्थ—जो नीच पुरुष धर्मका निराकरण करि सुखका अभिलाषी  
विषयनिकों सेवे हे सो अमृतकों त्यागि करि जीवनेका अर्थी प्रबल  
कालकूट विषकू खाय हे ॥ २३ ॥

भोगोपभोगाय करोति दीनो दिवानिशं कर्म यथा सयत्नः ।  
तथा विधत्ते यदि धर्ममेकं क्षणं तदानीं किमु नैति सांख्यम् २४

अर्थ—जैसे यहू दीन भया संता यत्नसहित रातदिन भोगोपभो-  
गके अर्थ कर्म करे तैसें जो क्षणमात्र भी धर्मको धारं तो कहा सुखको  
प्राप्त नहीं होय, होय ही होय ॥ २४ ॥

ये योजयंते विषयोपभोगे मानुष्यमासाद्य दुरापमत्नाः ।  
निकृत्य कर्पूरवनं स्फुटं ते कुर्वति वार्तां विषपादपानां ॥ २५ ॥

अर्थ—जो अज्ञानी दुःख करि पावनें योग्य जो मनुष्यपना ताहि  
पाय करि विषयभोगनि विषै लगावे हैं, ते प्रगट कर्पूरके वनकू काटि  
करि विषवृक्षनिकी वाडी करें हैं ॥ २५ ॥

गृह्णन्ति धर्मं विषयाकुला ये न भंगुरे मंक्षु मनुष्यभावे ।  
प्रदह्यमाने भवनेऽग्निना ते निःसारयंते न धनानि नूनं ॥ २६ ॥

अर्थ—जो विषयनि विषै आकुञ्चित जन क्षणभंगुर जो मनुष्यभव  
ता विषै शीघ्र धर्मका प्रहण न करें हैं, ते निश्चयतैं अग्नि करि घर  
जलते संतैं धननिकों न निकासैं हैं ॥ २६ ॥

सर्वेऽपि भावाः सुखकारिणोऽस्मी भवन्ति धर्मेण विना न पुंसः ।  
तिष्ठन्ति वृक्षाः फलपुष्पयुक्ताः कालं कियन्तं खलु मूलहीनाः ॥ २७ ॥

अर्थ—पुरुषके ये गुणकारी सब ही पदार्थ धर्म बिना न होय है, जैसे पल झूलने करि सहित कृश जडरहित निक्षेपकरि कितने काष्ठ तिष्ठे ! किरू भी रहे नाही ॥ २७ ॥

मोक्षावगमानस्य सुखस्य पात्रं भवंति भव्या भवभीरवो ये ।  
भवंति भक्त्या जिननायघृष्टं धर्मं निराम्नादमदूषणं ते ॥ २८ ॥

अर्थ—जो समाजमें भयभीत भयभीत भयभीत जिननाय करि उपदेश्या जो धर्म ताहि भक्तिसहित सेवे हैं, ते मोक्षपर्यंत सुखके भाजन होय हैं । केसा है धर्म, नाही है इन्द्रियजनित विषयनिका आस्वाद जागिरे, अर रागादि दूषण करि रहित सेवे ।

भावार्थ—जो पुरुष विषयरहित निर्दोष धर्म सेवे हैं ते चक्रवर्ती ईश अहमिद्र मोक्षपर्यंत सुख पावें हैं ॥ २८ ॥

लक्ष्मीं विधातु सकलां समर्थं सुदुर्लभं विश्वजनीनमेतं ।  
परीक्ष्य गृह्णन्ति विचारदक्षाः सुवर्णवर्द्धनभीतचिन्ताः ॥ २९ ॥

अर्थ—समस्त लक्ष्मीके रचनेके समर्थ, अर महादुर्लभ, अर समस्तका हित उपजावने बाटा ऐसा जो धर्म ताहि विचार विवे प्रवीन अर टिगापत्र करि भयभीत हैं चित्त जिनके ऐसे पुरुष हैं ते सुवर्णकी ज्यों परीक्षा करि ग्रहण करें हैं ।

भावार्थ—धर्म धर्म सब ही कहें हैं परंतु परीक्षाप्रधान है ते असाधारण लक्षणमें परखि ग्रहण करें हैं ॥ २९ ॥

स्वर्गापवर्गामलसौख्यस्थानि धर्मं ग्रहीतुं परमो विवेकः ।  
मदा विषेयो हृदये प्रविष्टर्षुर्धस्तु तं रत्नमिवापदोषं ॥ ३० ॥

अर्थ—स्वर्ग मोक्षके निर्मल सुखनिका स्थानि जो धर्म ताहि ग्रहण करनेको पंडित जन करि हृदयविवेक पाम विवेक सदा करने योग्य है । बहुरि ज्ञानवान तिस धर्मकी निर्दोष रत्नकी ज्यों ग्रहण करें हैं ॥ ३० ॥

तं शब्दमात्रेण वदन्ति धर्मं विश्वेपि लोका न विचारयन्ते ।

स शब्दमाम्येऽपि विचित्रभेदविभिद्यते क्षीरमिवार्चनीयं ॥ ३१ ॥

अर्थ—तिस धर्मकी शब्दमात्र करि सब ही लोक कहै हैं, अर विचार न करै हैं । बहुरि सो पूजनीक धर्म शब्दकी समानता होतै भी नानाप्रकारके भेदनि करि भेदरूप कीजिये हैं ।

भावार्थ—जैसैं आकका दूध गायका दूध नाममात्र तौ समान है, परंतु गुणनि करि बड़ा भेद है, तैसैं धर्म धर्म तौ सब कहै हैं, परंतु बीतरागभावरूप जिनधर्मविषै अर अन्य धर्म विषै बड़ा अंतर है ॥ ३१ ॥

हिंमानृतम्लेपवरांगसंगप्रंथग्रहा दत्तदुरंतदुःखाः ।

धर्मेषु येऽत्र भवन्ति निंद्याम्ले दूरतो बुद्धिमता विवर्ज्याः ॥ ३२ ॥

अर्थ—इहां जिन धर्मनिषै निंदनीक अर दिशे हैं महादुःख जिनने ऐंम हिंमाशुठ चौरी भैद्युत परिग्रहरूप पिशाच हैं ते धर्म बुद्धि-वान करि दूरिते त्यागने योग्य हैं ॥ ३२ ॥

निहन्त्यते यत्र शरीरवर्गो निर्णीयते मद्यमुपास्यते स्त्री ।

बौद्धवृत्ते मांममनर्थमूलं धर्मस्य मात्रापि न तत्र नूनं ॥ ३३ ॥

अर्थ—जिम विषै जीवनिंक समूह हनिए है, अर मदिरा पीइये है, अर दास्यी भोगिए है, अर अनर्थका मूल मांस भविये है, तहां निश्चय करि धर्मका अंत नाही है ॥ ३३ ॥

वरादय कन्मपहेतवो ये न सेविताम्ले वितरन्ति धर्मम् ।

न कौटुंबा हापि वगुंथगयां निर्णीयमाना जनयन्ति शार्दीन् ३४

अर्थ—जे दासके वराज हिंसादिक से सेवे मने धर्मकी न रिकी है । जेने कौटु वृत्तिनिषै परं मने कइ भी धार्य न उपजै है तेने ॥ ३४ ॥

हिंसापरस्त्रीमधुमांभतेषां कुर्वन्ति धर्माय विबुद्धयो ये ।

पीपुपलाभाय विशद्व्यंते विपट्टमांस्ते विविधैरुपायैः ॥ ३५ ॥

अर्थ—ये दुर्बुद्धि धर्मके अर्थ हिंसा परस्त्री मधु मामका सेवन करे ते ते अमृतके आर्थे नाना उपायनि करि विपट्टधनिकी बदावे दे ॥ ३५ ॥

धर्मधर्मांगिरघादयोर्धर्मनिर्माणयुक्ताः कुशलाय शास्त्रैः ।

आकर्णनीयानि न तानि दध्मः शत्रुदितानीव वचांसि जातु ॥ ३६ ॥

अर्थ—जिन शास्त्रनि करि पट्ट मद्य मांस जीवहिंसादिक करि रचेभये मंगलके अर्थ बहे, ते शास्त्र शत्रुके बधननिकी उपी पडितानि करि कदाचिन् मुनना योग्य नाही ॥ ३६ ॥

पठन्ति शृण्वन्ति वदन्ति भक्त्या स्तुवन्ति रक्षन्ति नयन्ति श्रद्धि ।

ये तानि शास्त्राण्यनुमन्यमानास्ते याति सर्वेऽपि कुयोनिमज्ञाः ३७

अर्थ—जे पुरण तिन पापरूप शास्त्रनिकी नमते संते भक्ति करि पठे हे मुने हे कहे हे श्रुति करे हे रक्षा करे हे श्रद्धेकी प्राप्त करे हे, ते सब ही अज्ञानी कुगतिकी प्राप्त होय हे, नरक तिर्यवादि गतिनमें अनंतकाल भवे हे ॥ ३७ ॥

धर्म ददन्तंऽगिरघादयोऽमी विधीयमाना यदि नाम तथ्यं ।

सांसारिकाचारविधां प्रवृत्ता न पापिनः केऽपि तदा भवन्ति ३८

अर्थ—ये जीवहिंसा आदि करि भये जो प्रगटपने सत्यार्थधर्मकी देय हे तो लौकिक आचारकी विधि विधे प्रवर्तते कोई भी पापी न होय ।

भावार्थ—जो हिंसादिक ही धर्म होय तो कसई भीउ धीवर इत्यदिक सर्व ही धर्मात्मा ठहरे । ताते हिंसादिक हे ते धर्म नाईहे ऐसा जानना ॥ ३८ ॥



महामयानक है नक्रादिकके समूह जा त्रिपै ऐसे समुद्रकूं नाथ विना तैरना चाहै हैं ॥ ४५ ॥

येषां प्रसादेन मनःकरिंद्रः क्षणेन वश्यो भवतीह दुष्टः ।

भजंति ये तान् गुणिनो न भक्त्या तेभ्यः कृतम्ना न परे भवंति ४६

अर्थ—इहां लोकत्रिपै जिनके प्रसादकरि मनरूप गजेंद्र क्षणमात्र करि वश होय है, तिन गुणवान गुरुनिकों जे भक्तिसहित न सेवैहैं तिनतैं सिवाय और कृतप्री कौन है ! ॥ ४६ ॥

कृतोपकारो गुरुणा मनुष्यः प्रपद्यते धर्मपरायणत्वम् ।

चामीकरस्येव सुवर्णभावं सुवर्णकारेण विशारदेन ॥ ४७ ॥

अर्थ—गुरु के करया हे उपकार जापै ऐसा जो मनुष्य है सो धर्म-त्रिपै परायणपनोके प्राप्त होय है । जैसे चतुर मुनार करि सुवर्णके भले वर्णका भाव होय तैसैं ।

भावार्थ—जैसे मुनारकी संगनि करि मोना सोलहवानीका होय हे तैसैं श्रीगुरुके प्रसादकरि जीव धर्मको प्राप्त होय है ऐसा जानना ॥ ४७ ॥

विवर्त्तमानो व्रतनो गुरुभ्यो न शस्यते वारयितुं परेण ।

व्यर्त्तकनादी व्यवहारकार्ये मार्त्तार्त्तरेव निषम्यते हि ॥ ४८ ॥

अर्थ—व्रतन पराङ्मुख होता जो गुरु सो गुरु विना और करि रोक्नेहूं समर्थ न हूजिये है । जैसे व्यवहारकार्य त्रिपै छूट बोलने वाला गुरु जे साथी करे हें तिन करि ही निधय करि रोकिए हे तैसैं ॥ ४८ ॥

दुग्धेन घेनुः कृगुमेन बह्वी शीलेन भार्या गरसी जलेन ।

न मूरिना मात्रि विना व्रतास्या शुभेन विद्या नगरी जनेन ॥ ४९ ॥

अर्थ—दुग्धसें गाय सांहे है, अर फूलनिसें घेदि सांहे है, अर शीलसें स्त्री सांहे है अर जलसें तडाई सांहे है, आचार्यके विना मतकी स्थिति नहीं होय है, शांतभाषसें विद्या सांहे है, मनुष्यनिसें नगरी सांहे है । ४९ ॥

विधीयते शूरिवरेण भारो धर्मो मनुष्ये वचनैर्द्वारः ।

मेघेन देशे सलिलैः फलाढ्यं निरस्ततापरिव सस्यवर्गः ॥ ५० ॥

अर्थ—जैसें दूरकिया है ताप जिनने ऐसे जलनि करि फलसहित देशमें मेघकरि धान्यका समूह उपजाइए है तेसें उदार वचननि द्वारा आचार्यकरि मनुष्यविषे सारभूत धर्म उपजाइए है ॥ ५० ॥

लब्ध्वोपदेशं महनीयपृचेर्नुरोरनुष्ठाय विनीतचेताः ।

पापस्य भव्यो विदधाति नाशं व्याधेरिव व्याधिनिषूदनस्य ॥ ५१ ॥

अर्थ—जैसें रोगी वैद्यका उपदेशते महण करि बाकी बताई औषधिकी लेकरि व्याधिका नाश करेहे तेसें विनययुक्त है चित्त जाका ऐसा भव्य, पूज्य है आचरण जाका ऐसे गुरुके उपदेशको प्राप्त करि अर बाहु अनुष्ठान करि पापका नाश करे है ।

भाषार्थ—जैसें रोगी वैद्यके उपदेशते रोगकू मारीहे तेसें भव्य गुरुके उपदेशते पापकू मारी है ॥ ५१ ॥

सर्वोपकारं निरपेक्षचित्तः करोति यो धर्मधिया यतीशः ।

स्वकार्यनिष्ठरूपमीपतेर्जा कथं महात्मा खलु बंधुलोकः ॥ ५२ ॥

अर्थ—जो आचार्य विनास्वार्थके धर्महुदिकरि सर्वथा उपकार करे है सो वह महात्मा अपने अपने कार्यसाधने विषे तापर ऐसे बंधुलोकनि करि कैसें बराबर हुदिर है ॥ ५२ ॥

निपेक्ष्यमाणानि वचांसि येषां जीवस्य ह्येत्त्वज्रामरत्वम् ।

नाराधनीया गुरवः कथं ते विमीरणा संसृतिराधर्सावः ॥ ५३ ॥

अर्थ—जिन आचार्यनके वचन सेवन किये मए जीवके अजरामर-पना करिए है वे गुरु संसाररूप राक्षसीतैं डर मए पुल्य करि कैसैं आराधना न किये जाय हैं, अपि तु आराधना किये ही जाय हैं ॥५३॥

माता पिता ज्ञातिनराधिपाद्या जीवस्य कुर्वत्युपकारजातम् ।  
यत्सूरिदत्तामलधर्मनुद्वास्तेनैष तेभ्योतिशयेन पूज्यः ॥ ५४ ॥

अर्थ—माता पिता जाति राजा आदिक जे हैं ते आचार्य करि दिये हुए निर्मल धर्मसैं प्रेरित हुए धके जीवके उपकारनिके समूहकौ करै हैं अर आचार्य बिना प्रेरे हुए ही करै है तातैं या अतिशय करि गुरु जो है सो माता पिता जाति राजादिक करि भी पूज्य है ॥५४॥

निषेवमाणो गुरुपादपद्मं त्यक्तान्यकर्मा न करोति धर्मम् ।  
प्ररूढसंसारवनक्षयाग्निं निरर्थकं जन्म नरस्य तस्य ॥ ५५ ॥

अर्थ—छोडे है अन्य कार्य जानै ऐसा गुरुके चरणकमल कौही सेवन करै ऐसा जो पुरुष, अंकुरित ऐसा जो संसार वन ताके नाश करनेमें अग्निसमान ऐंसे धर्मकौ न करै है वा पुरुषका जन्म निरर्थक है ॥५५॥

यं मूरयो धर्मधिया ददंति यं व्रांघवः स्वार्थधिया जनानाम् ॥  
अर्थ तयोर्ंतरमत्र वेद्यं मताणुमेवोरिव जायमानम् ॥ ५६ ॥

अर्थ—जा अर्थकौ आचार्य सो धर्मबुद्धिकरि मनुष्यनिकौ देवै हैं अर भाई बंधु जन स्वार्थबुद्धिकरि देवै हैं सो यहां सत्पुरुषनिकरि इन दोऊनि में परमाणु अर मेरु में होय ऐंसे अंतर समान अंतर जानना योग्य है ।

भावार्थ—आचार्य अर भाई बंधुनिमें इतना अंतर है जितना मुमेक अर परमाणुमें है ॥ ५६ ॥

लक्ष्मीं कर्त्तुं धनं स्थिरत्वात्  
 तृणाग्रतांयस्थिति जीवितव्यम् ।  
 विमृत्वरिं यौवनिकां च दृष्ट्वा  
 धर्मं न कुर्वन्ति कथं महान्तः ॥ ५७ ॥

अर्थ—लक्ष्मीकू हाथीके कानसमान चबल दधि करि अर गृण-  
 निका अनीपर लाया जलकी स्थिति समान ज्ञावितक्य देवकरि अर  
 यौवन अतिशयकरि जानेवाला देखि करि महंत पुण्य धर्म ये,मै न करी  
 हे ! करेही है ॥ ५७ ॥

अनर्थरीं यो विदधाति लक्ष्मीं  
 विभूय सर्वा विपदं क्षणेन ।  
 कथं स धर्मः क्रियते न मद्भि-  
 न्न्याजयेन देहेन मलालयेन ॥ ५८ ॥

अर्थ—जो धर्म क्षणमात्रमे सब विपदानिको दूरि करि अविनाशकर  
 लक्ष्मीकू करेहे तो धर्म तापुष्टपनिकरि मलका पर अर त्यागने योग्य  
 ऐसे देहकरि कैसे न करिये हे ॥ ५८ ॥

विदं ददाना न नियोजयन्ते  
 कलेषु मृत्युमिवात्मनीने ।  
 कार्ये सदा ये रक्षितोपकारे  
 ते संपद्यन्ते स्वयमेव मृदाः ॥ ५९ ॥

अर्थ—जे पुरुष भोजन देते सते अर दारिको खाकरकी म्यो  
 सदाकाल करपा हे उपकार जाने देने अपने हितरूप कार्यविषे न  
 लगावेहे ते मृद स्वयमेव टिगाने हे ।

आचार्य—जैसे कोई खाकरकी भोजनकरि सामंती तो हरे अर  
 अपने हितरूप कार्यविषे न लगावे तब वो सचछंद होय हे अर आठिक

ठिगाया जाय हे तैमें शरीरकी भोजनादि सामग्रीने तो पेटिरे अर  
हितरूप तपभरणादि कार्यमें न लगाने हैं ते ठिगाये जायरे ऐस  
जानना ॥ ५९ ॥

गृहांगजापुत्रकलत्रमित्र-

म्वस्वामिभृत्यादिपदार्थवर्गे ।

विहाय धर्मं न शरीग्भाजा-

मिहास्ति किंचित्सहगामि पथ्यम् ॥६०॥

अर्थ—इस लोकमें गृह पुत्री पुत्र स्त्री मित्र धन स्वामी चाकर  
आदि पदार्थनिके समूहविषे धर्मको छोड़ और किछू जावनिके साथ  
जानेवाला हितकारी नाही ।

भावार्थ—इस जीवका साथी धर्महो है और पदार्थ साथी  
नाही ॥ ६० ॥

घातिक्षयोद्भूतविशुद्धबोध-

प्रकाशविद्योतितसर्वतत्त्वाः ।

भवति धर्मेण जिनेन्द्रचन्द्रा-

स्त्रिलोकनाथार्चितपादपद्माः ॥ ६१ ॥

अर्थ—घातिया कर्मनिके क्षयतै उपज्या जो निर्मल केवलज्ञान  
ताके प्रकाश करि प्रकाशे हैं सर्व पदार्थ जिनने अर तीनलोकके नाथ  
जे इंद्र धरणेद्र चक्रवर्ती तिन करि पूजित है चरणकमल जिनके ऐसे  
जे जिनेंद्रचंद्र तीर्थकर भगवान हैं ते धर्मकरि होय है ॥ ६१ ॥

आराध्यमानस्त्रिदशैरनेकै-

विराजते स्वैः प्रतिविंबकैर्वा ।

धर्मप्रसादेन निर्लिपराजः

सुरांगनावक्त्रसरोजभृङ्गः ॥ ६२ ॥

अर्थ—धर्मके प्रसादकरि अपने प्रातेविव समान अनेक देवनि करि सेव्यमान देवनिका राजेद्र मोहे है, केसा है इद्र देवागनानिके मुख कमलनिविधे भुंगसमान है ।

भावार्थ—इंद्रपद धर्म करि मिले है ऐसा जानना ॥ ६२ ॥

द्वात्रिंशदूर्वीशसहसमूर्द्ध-

प्रमूनमालापिहितंघिपमः ।

धर्मेण राज्यं विदधाति चक्री

विलंबमानस्त्रिदशेशलीलाम् ॥ ६३ ॥

अर्थ—धर्मकरि चक्रवर्ती राज्यको धारे है, केसा है चक्रवर्ती शतीम हजार राजानिके मन्त्रकनिकी जे पुष्पनिकी माला तिनकर मिले है शरणकमल जाके भर इद्रकी लीलाको धरे ऐसा चक्रवर्ती धर्म करि होय है ॥ ६३ ॥

मनोभवाक्रांतविदग्धरामा-

कटाक्षलक्ष्मीकृतकांतकायः ।

दिगंगनाप्यापिविशुद्धकीर्ति-

धर्मेण राजा भवति प्रतापी ॥ ६४ ॥

अर्थ—कामकरि भरी अर चतुर जे स्त्री तिनके कटाक्षनि करि निसानारूप किया है दैदांप्यमान शरीर जाका अर दिशारूप स्त्रीनि विधि व्यापी है निर्मल कीर्ति जाकी ऐसा प्रतापी राजा धर्म करि होय है ॥ ६४ ॥

मतंगजा जंगमशूललीला-

स्तुरंगमा निर्व्रितत्रायुवेगाः ।

पदातयः शक्रपदानिकल्पाः

रथा विवस्वद्रथसन्निकाशाः ॥ ६५ ॥

योपाः स्वर्गोभाजितदेवयोपाः  
 निर्लिपवामप्रतिमा निवामाः ।  
 अनन्यलभ्या घनधान्यकोशाः ॥  
 भवंति धर्मेण पुरार्जितेन ॥ ६६ ॥

अर्थ—चालते पर्वतनिकी लीला घरें ऐमे हस्ती, अर जीत्या है पवनका वेग जिननें ऐसे घोड़े, अर इंद्रके पयादेसमान पयादे, अर सूर्यके रथके तुल्य रथ ॥ ६५ ॥

बहुरि अपनी शोभाकरि जीती हैं देवांगना जिननें ऐसी स्त्री, अर इंद्रके मंदिरसमान महल, अर औरनिकरि न पावने योग्य ऐसे घन धान्यनिके भंडार पूर्वोपार्जित धर्मकरि होयहैं ॥ ६६ ॥

परेऽपि भावा भुवने पवित्रा  
 भवंति पुण्येन विना जनस्य ।  
 विनाःमृणालैः कचनापि दृष्टाः  
 संपद्यमाना न पयोजखंडाः ॥ ६७ ॥

अर्थ—लोकविपै और भी जे पदार्थहैं ते पुण्यविना जीवके न होयहैं जैसे मृणाल जो कमलका जड तिनविना कमलनिके बन कमी प्राप्त भए न देखे ॥ ६७ ॥

स्वपूर्वलोकानुचितोऽपि धर्मो  
 ग्राह्यः सतां चिंतितवस्तुदायी ।  
 प्रप्रार्थयन्ते न किमीधरत्वं  
 स्वजात्ययोग्यं जनता सदापि ॥ ६८ ॥

अर्थ—अपने पूर्वलोक जे पितादिक तिनके अनुचित भी धर्म को वांछित वस्तुका देनेवाला ग्रहण करना योग्य है, जैसे

अपनी जानिके अयोग्य जो ईश्वरपना ताहि लोक कहा अतिशयकरि  
गदा न चाहेहे ! अपितु चाहेही है ।

भावार्थ—कोऊ कहे हमारे कुलमें जिनधर्म नाही हम कैसे प्रहण  
करे ताहू कहेंहे जो अपने कुलमें जिनधर्म नाही तो भी नवीन प्रहण  
करना योग्य है जैसे कोऊको नवीन राज्य मिलैतो कहा प्रहण न  
करे । ॥ ६८ ॥

त्यजंति वंशागतमप्यवधं

संप्राप्य पुण्यं जनतार्चनीयम् ।

कुष्ठं कुलापातमपि प्रवीणः

कल्पत्वमासाद्य परित्यजंति ॥ ६९ ॥

अर्थ—जैसे सुंदरशरीर निरोगपनाकूं पावकरि प्रवीण पुरुष कुल-  
विधे चल्या आया भी जो कुष्ठ रोग ताहि तजैहे तैसे लोकगुण्य धर्मको  
पावकरि कुलमें चल्या आया भी जो पाप ताहि तजैहे ॥ ६९ ॥

मूर्खापवादप्रसनेन धर्मं

मुंचंति संतो न पुधार्चनीयम् ।

ततो हि दोषः परमाणुमात्रो

धर्मव्युदासे गिरिराजतुल्यः ॥ ७० ॥

अर्थ—मूर्खनके अपवादक भयकरि पंडितनिकरि भूष्य जो धर्म  
ताहि सत्पुरुष न त्यागैहे, जातें तिस मूर्खापवादतें तो दोष परमाणु-  
मात्र है अरु धर्मनाश भए सुमेरुतुल्य दोष है ऐसा जानना ॥ ७० ॥

मालिनी

निखिलसुरफलानां कल्पने कल्पवृक्षं

कुमतिमनविभीता ये विमुंचंति धर्मम् ।



विमलमणिनिधानं पावनं दुष्टदुष्टै

स्फुटमपगतबोधाः प्राप्य ते बर्जयन्ति ७१

अर्थ—जे कुबुद्धिनिके मतवै भयभीत भए सँते समस्तसुखरूप फलनिके देनेविषै कल्पदृक्ष तुल्य जो धर्म ताहि तजैहँ ते अज्ञानी पवित्र निर्मल रत्नका भंडारकाँ प्रगट पापकरि दुष्टनिकी प्रसन्नताके अर्थ त्यागैहँ ॥ ७१ ॥

अमरनरविभूतिं यो विधायार्थनीयां

नयति निरपवादां लीलया मुक्तिलक्ष्मीम्।

अमितगतिजिनोक्तः सेव्यतामेव धर्मः

शिवपदमनवद्यं लब्धकामैरकामैः ॥ ७२ ॥

अर्थ—जो धर्म, प्रार्थना योग्य जो देवमनुष्यनिकी विभूति ताहि राखि, अर लीलायात्र करि निर्दोष लक्ष्मीकाँ प्राप्त करैहँ सो अमितगति-जिनोक्त कहिए अनंत हे ज्ञान जाका ऐसे जिनदेव करि कदा अथवा अमितगतिध्यायकरि कदा बहु धर्म पापरहित शिवपद लेनेके पाछफ अर गति काम जे जीव तिनकरि सेवना योग्य है ॥ ७२ ॥

एण्य

दुर्लभमगम्य पाप अन्य कारज तजर्दजि,

होय विषयतँ विमुखा गुगुरुगनाशृत पीजे ।

मिथ्यामात्र निवार गार जिनधर्म धार उर

इंद्रादिक पद पाप धर्मतँ होय जगतगुर ॥

कल्याणकार कटिमलहान धर्म परम उत्तम गान ।

जिनमात्र अमितगति कवित तगु मागधंद बंदित परन ॥

ऐमें श्री अमितगति ध्यायार्थकृत ध्यायकाचारविनि

पदका परिच्छेद समाप्त भवा ।

## अथ द्वितीय परिच्छेद ।



मिथ्यात्वं सर्वथा हेयं धर्मं वर्द्धयता सता ।

विरोधो हि तयोर्षाढं मृत्युर्जीवितयोस्त्रि ॥ १ ॥

अर्थ—धर्मको बढावता जो सत्पुरुष ताकरि मिथ्यात्व सर्व प्रकार त्यागना योग्य है, जाते मिथ्यात्व अरु धर्म इन दोउनिका मरन अरु जीवनकी उयो अतिशय करि बड़ा विरोध है ॥ १ ॥

संयमा नियमाः सर्वे नाशयन्ते तेन पावनाः ।

क्षयकालानलेनेव पादपाः फलशालिनः ॥ २ ॥

अर्थ—जैसे प्रलयाम्नि करि फलनि करि शोभित जे वृक्ष हैं ते नाशकू प्राप्त होय हैं तैसे तिस मिथ्यात्व करि पवित्र संयम नियम सर्व नाशकू प्राप्त होय हैं ॥ २ ॥

अतत्त्वमपि पश्यन्ति तत्त्वं मिथ्यात्वमोदिताः ।

मन्यन्ते वृषितास्तोयं मृगा द्वि मृगवृष्णिकां ॥ ३ ॥

अर्थ—मिथ्या व करि मोहित जीव हैं ते अतत्त्वको तत्व मानै हैं, जैसे तिसारा मृग हैं ते मृगवृष्णाकू निधय करि जल मानै हैं ॥ ३ ॥

विभ्रान्ता क्रियन्ते वृद्धिर्मनोमोहनकारिणा ।

मिथ्यात्वेनोपयुक्तान मयेनेव शरीरिणः ॥ ४ ॥

अर्थ—मनको अचेत करनेवाला उपयुक्त भया जो मिथ्यात्व ता करि मदिराकी उयो जीवकी बुद्धि विशेष भ्रान्तिरूप करिये है ॥ ४ ॥

पदार्थानां त्रिनोक्तानां तदथद्वानलक्षणम् ।

प्रेकांतिकादिभेदेन सप्तभेदमुदाहृतम् ॥ ५ ॥

अर्थ—जिन मायिन जीवादिक पदार्थनिका अथद्धान है लक्षण जाका ऐसा, सो मिथ्यात्व ऐकांतिक आदि भेद करि सात प्रकार कहा है ॥ ५ ॥

अब एकांत, संशय, विनय, गृहीत, विपरीत, निसर्ग, मूढदृष्टि, ऐसे सात प्रकार मिथ्यात्वका स्वरूप कहैं हैं,—

क्षणिकोऽक्षणिको जीवः सर्वथा सगुणोऽगुणः ।

इत्यादि भाषमाणस्य तद्देकांतिकमिष्यते ॥ ६ ॥

अर्थ—जीव एकांत करि सर्व प्रकार क्षणिकही है, वा नित्यही है, वा निर्गुण ही है, वा सगुणही है, इत्यादिक कहनेवाले के एकांत मिथ्यात्व कहिए ॥ ६ ॥

सर्वज्ञेन विरागेण जीवाजीवादि भाषितम् ।

तथ्यं न वेत्ति संकल्पे दृष्टिः सांशयिकी मता ॥ ७ ॥

अर्थ—सर्वज्ञ बीतरागकरि कहा जो जीव अजीव आदि तत्व से सत्य हैं अथवा असत्य हैं ऐसे विकल्प होतेसतैं संशयजनित दृष्टि कही है ।

भावार्थ—सो संशयमिथ्यात्व कहा है ॥ ७ ॥

आगमा लिंगिनो देवाः धर्माः सर्वे सदासमाः ।

इत्येषा कथ्यते बुद्धिः पुंसो वैनयिकी जिनैः ॥ ८ ॥

अर्थ—सर्व आगम, अर सर्वभेदी, अर सर्व देव अर सर्व धर्म सदा समान हैं ऐसी यह पुरुषकी बुद्धि, जिनदेवनिकरि चिनप-मिथ्यादृष्टि कहिए है ॥ ८ ॥

पूर्णः कुहेतुदृष्टांतर्न तत्त्वं प्रतिपद्यते ।

मंडलधर्मकारस्य भोज्य चर्मलवैरिव ॥ ९ ॥

अर्थ—जैसे रोगी को दवा मिलाने की जरूरत है तब ही दवा न होकर ही जैसे अग्नि, दूध, आदि की पूजा करना पता भोजनको प्राप्त न होय है ।

भावार्थ—जैसे अकारण गुला धर्मके दूबड़े गाय है ताको भोजन मरये जैसे रोगी रोगी को दवा मिलाने की जरूरत है तब ही दवा न होय है सो मूर्खता मिथ्यादृष्टि है ॥ ९ ॥

अतर्क्यं मन्यते तर्क्यं विपरीतमचिर्जनः ।

दोषातुरमनाम्नित्तं ज्वरीर मधुरं रमम् ॥ १० ॥

अर्थ—जैसे वातपित्तादि रोगी को दवा जो अवरसहित पुरुष सो मिथ्याको कटुक माने है जैसे विपरीत है दधि जाके ऐसा जीव सत्यार्थको असत्यार्थ माने है, यह विपरीत मिथ्यादृष्टि जानना ॥ १० ॥

दीनो निमर्गमिथ्यान्यात्त्वात्त्वं न मुच्यते ।

मुंदरामुंदरं रूपं जान्यंथ इव गर्वथा ॥ ११ ॥

अर्थ—जैसे जनमका अथवा पुरुष सर्वथा मुंदर वा अमुंदर रूपको न जाने है जैसे दीन एकद्विपादि अज्ञानी जीव स्वभावजनित मिथ्या-त्वं तत्त्वको न जाने है, ऐसा निमर्ग मिथ्यात्वका स्वरूप कदा ॥ ११ ॥

देवो रागी यतिः संगी धर्मः प्राणिनिशुंभनम् ।

मूढदृष्टिरिति भूते शृक्तायुक्ताविवेचकः ॥ १२ ॥

अर्थ—योग्य अयोग्यके विवेकाहित मूढ है दृष्टि जाकी ऐसा पुरुष सो रागी देव अर परिग्रहारी मुक्त, जीवनिशी हिमाख्य धर्म ऐसे कहै है यह विपरीतमिथ्यादृष्टिलक्षण कदा ॥ १२ ॥

सप्तप्रकारमिथ्यात्वमोहितेनेति जंतुना ।

सर्वं विपाकुलेनेव विपरीतं विलोक्यते ॥ १३ ॥

अर्थ—ऐसे सातप्रकार मिथ्यात्वकरि मोहित जो जीव ताकरि विद्या-कुलकी ज्यों सर्व विपरीत देखिए है ॥ १३ ॥

न तत्त्वं रोचते जीवः कथ्यमानमपि-स्फुटम् ।

कुर्धारुक्तमनुक्तं वा निसर्गेण पुनः परम् ॥ १४ ॥

अर्थ—कुबुद्धी जीव प्रगट उपदेश्या तत्वकौ भी नहीं श्रद्धान करैहै । बहुरि कथा वा विना कथा जो अतद्व ताहि स्वभावकरिही श्रद्धान करैहै ॥ १४ ॥

पठन्नपि वचो जैनं मिथ्यात्वं नैव मुंचति ।

कुदृष्टिः पन्नगो दुग्धं पिवन्नपि महाविषम् ॥ १५ ॥

अर्थ—जैसेँ दुग्धकौ पीवता भी सर्प महाविषकौ न त्यागैहै तैसेँ मिथ्यादृष्टि जीव जिनवचनकौ पढता भी मिथ्यात्वकौ न त्यागैहै ॥ १५ ॥

उदये दृष्टिमोहस्य मिथ्यात्वं दुःखकारणं ।

घोरस्य सन्निपातस्य पंचत्वमिव जायते ॥ १६ ॥

अर्थ—जैसेँ घोर सन्निपातके उदय होतसंतेँ मरण होय है तैसेँ दर्शनमोहका उदय होतसंतेँ दुःखका कारण मिथ्यात्व होयहै ॥ १६ ॥

बहु धम्वति यः कर्म स्तोकं भुंक्ते कुदर्शनः ।

स भवारण्यदुःखेभ्यो विमोक्षं लक्ष्यते कथं ॥ १७ ॥

अंजलिं बल्भमानस्य पुरुषस्य दिने दिने ।

धान्यस्य गृह्णतः सारी कदा धान्यविमुक्तता ॥ १८ ॥

न वक्तव्यमिति शार्ङ्गः कदाचन यतो भवी ।

कर्म भुंक्ते बहु स्तोकं स्वीकरोति विसंगयं ॥ १९ ॥

अन्यथैकेन जीवेन सर्वेषां कर्मणां ग्रहे ।

सर्वेषां जायते ज्येषां न कथं मुक्तिसंगतिः ॥ २० ॥

समस्तानां तर्धकेन पुद्गलानां ग्रहेणिना ।

अनंतानंतकालेन न बंधः सांतरः कथम् ॥ २१ ॥

अर्थ—जो मिथ्यादृष्टी बहुत कर्म बांधे है अर थोडा कर्म भोगे है सो संसारबनके दुःखनिर्ते मोक्ष कैसे पावेगा ॥ १७ ॥

अर्थ—जैसे दिनदिन विषे धान्यकी अंजली खाते अर खारी ग्रहण करने के धान्यका बीतना कदे हूनी होय ॥ १८ ॥

ऐसे कोऊ कहे तासे आचार्य कहे है,—

मुद्दिधाननि करि “ न वक्तव्यं ” कहिए ऐसा कहना कदाचित् योग्य नाही, जाते संसारी जीव निश्चयते बहुत कर्म भोगे है अर थोडा अंगीकार करे है ॥ १९ ॥

जो ऐसे नहीं होय तो एक जीव करि सर्व कर्मनिका ग्रहण होत-सते बाकी और सर्व जीवनिके मुक्तिका प्राप्ति कैसे न होय ॥ २० ॥

महुरि तैसेही एक जीवकरि सर्व पुद्गलनिका ग्रहण न होत जीव-निके अनंतानंत कालकरि अंतरसहित बंध कैसे न होय ऐसा उत्तर है ॥ २१ ॥

सस्यानीशोपरे क्षेत्रे निशिमानि कदाचन ।

न व्रतानि प्ररोहन्ति जीवे मिथ्यात्ववासिते ॥ २२ ॥

अर्थ—जैसे ऊपर भूमिविषे बोए अर धान्य कदाचित् न उपजे है तैसे मिथ्यात्वकरि वासित जो जीव ताविषे प्रत नाही होय है ॥ २२ ॥

मिथ्यात्वेनानुविद्धस्य शल्येनेव महीपमा ।

समस्तापचिधानेन जायते निर्धृतिः कुतः ॥ २३ ॥

अर्थ—जैसे महाशल्यकरि अनुविद्ध पुरुषके मुख कहते होय ! तैसे समस्त आपदानिका निधान जो मिथ्यात्व ताकरि अनुविद्ध पुरुषके मुख कहते होय है ! नाही होय है ॥ २३ ॥

पोढानायतनं जंतोः सेवमानस्य दुःखदं ।

अपथ्यमिव रोगित्वं मिथ्यात्वं परिवर्द्धते ॥ २४ ॥

अर्थ—जैसे अपथ्यकी सेवन करते हैं रोगीपना बढ़े है तैसे दुःखदायक जो यह प्रकार अनायतन ताकूं सेवता जो पुरुष ताकें मिथ्यात्व बढ़े है ॥ २४ ॥

मिथ्यादर्शनविज्ञानचारित्र्यैः मह भाषिताः ।

तदाधारजनाः पापाः पोढान्नायतनं जिनैः ॥ २५ ॥

अर्थ—मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र्य इन तीनों करि सद्धित पापस्वरूप जिन मिथ्यादर्शनादिकके आधार मनुष्य ऐसे यह प्रकार अनायतन जिनदेवनि करि कहे हैं ।

भावार्थ—मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान मिथ्याचारित्र्य ये तीन; भर जिनके धारक पुरुष तीन, ऐसे यह अनायतन जानना । आयतन नाम ठिकानेका है सो ये धर्मके ठिकाने नाही ताते अनायतन कहे हैं ॥ २५ ॥

एकैकं न त्रयो द्वे द्वे गोचरे न परे त्रयः ।

एकस्मीर्गतिं जायते ममाप्येते कुदशीनाः ॥ २६ ॥

अर्थ—तीन ती मयादर्शन ज्ञान चारित्र्यविषे एकको न मानेहें । भर और तीन मिथ्यादृष्टी दोयको न मानेहें । बहुति एक तीनको न मानेहें ऐसे वे मात्र मिथ्यादृष्टी होय हैं ॥ २६ ॥

द्वीयः कृष्णं स्थानं मिथ्यादृष्टिरमीमितम् ।

अन्यत्र गमकार्ग्यं घोरैर्युक्तौ प्रनैरपि ॥ २७ ॥

अर्थ—द्वेय बननि करि सद्धित भी मिथ्यादृष्टि बांछित स्थानको अन्य स्थान जानेवालेकी ओर अनिदूर करे है ।

भाषार्थ—जैसे मारगते अन्यत्र चलनेवाला बहुत घाटता भी बाहिन स्थानको उलटा दूर करेहे तेने मिथ्यादृष्टी घोर तप करता भी बाहिन मोक्षपदको उलटा दूर करेहे कर्म बाधेहे, ऐसा जानना ॥ २७ ॥

न मिथ्यात्वममः शत्रुर्न मिथ्यात्वममं विषम्

न मिथ्यात्वममो रोगो न मिथ्यात्वममं तमः ॥ २८ ॥

अर्थ—मिथ्यात्वममान वैरी नाहीं, अर मिथ्यात्वममान विष नाहीं, अर मिथ्यात्वममान रोग नाहीं, अर मिथ्यात्वममान अंधकार नाहीं ॥ २८ ॥

द्विपद्विपतमोरोर्गदुःखमेकत्र दीयते ।

मिथ्यात्वेन दुरतेन जंतोर्जन्मनि जन्मनि ॥ २९ ॥

अर्थ—वैरी, विष, अंधकार रोग इन करि दृग् एक जन्मधिरे दीयिण् हे । अर दूर हे अंत जाका ऐसा जो मिथ्यात्व ताकरि जीवको जन्म जन्मधिरे दृग् दीयिण् हे ॥ २९ ॥

परं ज्वालानुले क्षिप्तो दंष्टिनात्मा हुताशने ।

न तु मिथ्यात्वसंयुक्तं जीवितव्यं कथंचन ॥ ३० ॥

अर्थ—ज्वालानि करि आशुल जो अग्नि ताविरे तौ आत्मा ऐसा भला परंतु मिथ्यात्वसहित जोशना कोई प्रकार भला नाहीं ॥ ३० ॥

पापे प्रवर्ष्यते येन येन धर्माभिवर्ष्यते ।

दुःखे निक्षिप्यते येन तन्मिथ्यात्वं न शांतये ॥ ३१ ॥

अर्थ—जिस मिथ्यात्व करि पारविरे प्रवृत्ति बराह्ये हे, अर धर्मे परामुख करिण् हे, अर दुःखविरे पशयिरे हे सो मिथ्यात्व शांतिके अर्थ नाहीं ।

भाषार्थ—मिथ्यात्वसेवन करि कोऊ शांति माने सो मिथ्यात्वकरि शांति न होय हे उलट शिख होयहे ऐसा जानना ॥ ३१ ॥



क्षेत्रस्वभावतो घोरा निरंता दुःसहाधिरम् ।  
 विविधा दुर्वचाः श्वश्रे कायमानससंभवाः ॥ ३२ ॥  
 दाहवाहांकनच्छेदशीतवाताद्रिगोचराः ।  
 परायत्तेषु तिर्यक्षु विवेकरहितात्मसु ॥ ३३ ॥  
 दैनदारिद्र्यदौर्भाग्यरोगशोकपुरःसराः ।  
 आर्यम्लेच्छप्रकारेषु मानुषेषु निरंतराः ॥ ३४ ॥  
 स्वस्य हानिं परस्पाद्रिमीक्षमाणेषु मानिषु ।  
 योज्यमानेषु देवेषु हटतः प्रेष्यकर्मणि ॥ ३५ ॥  
 मिथ्यात्वेन दुरंतेन विधीयंते शरीरिणाम् ।  
 वेदना दुःमहा भीमा धैरिण्येव दुरान्मना ॥ ३६ ॥

अर्थ—क्षेत्रके स्वभाव करि भयानक अर अंतरहित दुःख करि  
 सहे जाय ऐसे नानाप्रकार दुर्वचनने उपनी वा शरीर मनने उपनी  
 बहुत काठार्यन नरकरिने जे दुःखवेदना होत, बहुत विवेकरहित  
 पगभीन निर्वेद्योनि में दाहदेना बाधना चिद्धकरना शीत वात श्यादि-  
 कने उपनी पीडा, बहुत आर्यम्लेच्छ हे भेद जिनके ऐसे मनुष्यनि-  
 रिने निमित्त दीनपना दारिद्र्यपना दुर्भाग्यपना रोग शोक आदि अनेक  
 वेदना, बहुत हटने भाकरके कर्मविने युक्त भये अर अपनी हानि अर  
 दुःखवेदना वृद्धि हेतुने ऐसे मानी देवनिविने दुःखकरि मुनी जाय  
 ऐसी भयानक वेदना दुष्ट वेगीही ज्यों दुष्ट हे अर जाका ऐसा जो  
 निष्प्राय ता करि दीननेके करिगे हे ।

अर्थ—अपमानि मन्त्री दू जनिका मूढ याग एक मिथ्याय  
 हे ऐसा जनना ॥ ३६ ॥

यान्वन्यान्परि दुःखानि संगमामोधिगणिताम् ।  
 न ज्ञातुं शक्यता तानि मिथ्यात्वेन रिग्यते ॥ ३७ ॥

अर्थ—संसारसमुद्रवर्ती प्राणानिकों और भी जे दुःख है । तिनहि देता जो मिथ्यात्व ताकरि अंतकों प्राप्त न हुआये है ।

भावार्थ—और भी अनेक दुःखनिकों देता मिथ्यात्व गमन न पाय है, निरंतर दुःख देय है ॥ ३७ ॥

विभेको हन्यते येन मूढता येन जन्यते ।

मिथ्यात्वतः परं तस्मात् दुःखदं किमु विद्यते ॥ ३८ ॥

अर्थ—जिस करि विभेक हनिये है अर अचेतपना उपजायेहै, ता मिथ्यात्वसिवाय कहा और दुःख देनेवाला है ! अपि तु नांही है ॥ ३८ ॥

लब्धं जन्मफलं तेन सार्थकं तस्य जीवितम् ।

मिथ्यात्वविपमुत्सृज्य सम्यक्त्वं येन गृह्यते ॥ ३९ ॥

अर्थ—जिस जीव करि मिथ्यात्वविपकों त्यागिकें सम्यक्त्वकों ग्रहण करिये है, तिस जीव करि जन्मका फल पाया, अर ताका जीवना सार्थक है प्रयोजन सहित है ॥ ३९ ॥

मन्यः पंचेन्द्रियः पूर्णो लब्धकालादिलम्बिकः ।

पुद्गलार्द्धपरावर्त्ते काले शेषे स्थिते सति ॥ ४० ॥

अंतर्मुहूर्त्तकालेन निर्मलीकृतमानसः ।

आद्यं गृह्णाति सम्यक्त्वं कर्मणां प्रशमे सति ॥ ४१ ॥

अर्थ—मन्यजीव पंचेन्द्रिय पर्याप्तक अर पाई है कालादिलम्बिक जानै अर्द्धपुद्गल परिवर्तनकाल बाकी रहे संतै अंतर्मुहूर्त्त काल करि निर्मल किया है मन जानै ऐसो जीव कर्मनिका उपशम होनेसंतै प्रथमोपशमसम्यक्त्वकों ग्रहण करेहै ॥ ४० ॥ ४१ ॥

निशीथं वासरस्येव निर्मलस्य मलीममम् ।

पथादायाति मिथ्यात्वं सम्यक्त्यस्यास्य निश्चितम् ॥ ४२ ॥

अर्थ—जैसे निर्मल दिनके पानी अत्यन्त मलिन गरि आते जैसे इस प्रयमोपशमसम्बन्धके अन्तर्मुहूर्तगाँ अत्यन्त विषय-य आते हैं ॥ ४२ ॥

तस्य प्रपद्यते पश्चान्महात्मा कोऽपि वेदकम् ।

तस्यापि ध्यायितुं कथिदामन्त्रीभूतनिर्गुणः ॥ ४३ ॥

अर्थ—नाके पीछे कोई महात्मा पुरा वेदकसम्बन्धको प्राप्त होय है, अरु कोई महात्मा पुरा जाके मुक्ति आमत है सो क्षयिक-सम्बन्धको प्राप्त होय है ॥ ४३ ॥

आगे सम्बन्ध होनेका विशेष स्वरूप कहें हैं,—

लब्धशुद्धपरीणामः कल्मषस्थितिहानिकृत् ।

अनंतगुणया शुद्धया वर्द्धमानः क्षणे क्षणे ॥ ४४ ॥

प्रकृतीनामशस्तानामनुभागस्य सर्वकः ।

वर्द्धकः पुनरन्यामां युक्तायुक्तविवेचकः ॥ ४५ ॥

स्थितेऽऽःकोटिकोटीकस्थितिके सति कर्मणि ।

अथाप्रवृत्तिकं नाम करणं कुरुते पुरा ॥ ४६ ॥

अपूर्वं करणं तस्मात्तस्मादप्यनिवृत्तिकम् ।

विदधाति परीणामः शुद्धकारी क्षणे क्षणे ॥ ४७ ॥

अर्थ—पायाहै विशुद्ध परिणाम जानै, बहुरि पापप्रकृतिनिर्गी स्थितिर्की हानि करनेवाला समय समय अनंतगुणशुद्धि करि वर्द्धमान होता संता ॥ ४४ ॥

अप्रशस्त प्रकृतिनिर्गी अनुभागका घटावनेवाला बहुरि अन्य प्रशस्त प्रकृतिनिर्गी अनुभागकी बढावनेवाला योग्य अयोग्यका विवेक वान ॥ ४५ ॥

ऐसा जीव अंतःकोटाकोटी सागर प्रमाणहै स्थिति जाकी ऐसे कर्मकी स्थिति होतेसंतै प्रथम अवःप्रवृत्तिनाम करणकी करैहै ॥ ४६ ॥

बहुरि ता पीछे समय समय परिणामनिकी शुद्धि करता अपूर्व-  
करण करेहे ता पीछे अनिष्टि करणको करेहे ॥ ४७ ॥

भावार्थ—उपशमसम्पत्त्वके अंतर्मुहूर्त्त पहले अधःकरण अपूर्व-  
करण अनिष्टिकरण ऐसे तीन करण होयहे । इनका विशेषस्वरूप  
धीमद्गोमहसारावेषे कछाहे तहाते जानना ॥

तत्राद्यकरणे नास्ति छेदः स्थित्यनुभागयोः ।

अनेतगुणया शुद्धया कर्म बध्नाति केवलम् ॥ ४८ ॥

अर्थ—तहां आदिके अधःकरणविषे स्थिति अनुभागका छेद  
नाहीहे अनेतगुणविशुद्धिकाकि केवल पुण्यकर्मको बाधेहे ॥ ४८ ॥

द्वितीयं कुस्ते तत्र किंचित्स्थितिरसक्षयम् ।

शुभानामशुभानां च वर्द्धमन् दासयन् रसम् ॥ ४९ ॥

अर्थ—बहुरि तहां दूना जो अपूर्वकरण हे सो किछ स्थितिकोड-  
कघात वा अनुभागकाडक घातको करेहे । कैसा हे सो अपूर्वकरण  
अतिशयकरि समय समय प्रति शुभप्रकृतिनको बढ़ावे हे अर अशुभ  
प्रकृतिनको पटावेहे ॥ ४९ ॥

अंतर्मुहूर्त्तकः कालस्नेपां प्रत्येकमिष्यते ।

आदिमे कुस्ते तस्मिन्नांतरं करणं परम् ॥ ५० ॥

अर्थ—उनमें प्रत्येकका अंतर्मुहूर्त्तकाल जानना, आमें आदिके प्रथ-  
ममें आंतर करणको करेहे ॥ ५० ॥

आंतरे करणे तत्र सहानंतानुरंधिभिः ।

अंतर्मुहूर्त्तकालेन मिष्यात्वमपवर्तते ॥ ५१ ॥

अर्थ—तिस अंतर करणविषे अंतर्मुहूर्त्तकालकरि अनंतानुरंधी-  
सहित मिष्यावका अपवर्तन करेहे ॥ ५१ ॥

मिथ्यात्वं मिगते भेदः शुद्राशुद्रविमिश्रकैः ।

ततः सम्यक्त्वमिथ्यात्वगम्यगमिमिथ्यात्वनामभिः ॥ ५२ ॥

अर्थ—ताके अंतर शुद्र अशुद्र करि मिउं जे सम्यक्त्व मिथ्यात्व सम्यगिमिथ्यात्व हे नाम जिनके ऐसे भेदनि करि मिथ्यात्व भेदरूप कीजिएहे ।

भावार्थ—प्रथमोपशम सम्यक्त्व करि मिथ्यात्वका द्रव्य, मिथ्यात्व, मिश्र, सम्यक्त्वप्रकृतिरूप परिणमयेहे ॥ ५२ ॥

प्रशमय्य ततो भव्यः कर्मप्रकृतिमसक्तम् ।

आंतर्माहूर्त्तिकं पूर्वं सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते ॥ ५३ ॥

अर्थ—ताके अनंतर भव्यजीव मात कर्मप्रकृतिनिकों उपशमाय करि अंतर्मुहूर्त्तहे स्थिति जाकी ऐसा प्रथमसम्यक्त्वको प्राप्त होयहे ।

भावार्थ—अनादि मिथ्यादृष्टितौ मिथ्यात्व अर अनंतानुबंधी चतुष्क ऐसे पांच प्रकृतिनिकों अर सादि मिथ्यादृष्टि अनंतानुबंधीसाहित तीनप्रकृतिनिकों उपशमाय सम्यक्त्वी होयहे यह विशेषहे ॥ ५३ ॥

आगे क्षायिकसम्यक्त्वको कहैहे,—

क्षपयित्वा परः कथित्कर्मप्रकृतिमसक्तम् ।

आदत्ते क्षायिकं पूर्वं सम्यक्त्वं मुक्तिकारणम् ॥ ५४ ॥

अर्थ—बहुरि दूजो कोई जीव कर्मप्रकृतिनिका सक्त जो अनंतानुबंधी चार कपाय अर मिथ्यात्व मिश्र, सम्यक्त्वप्रकृति इन सात प्रकृतिनिकों खिपाय करि प्रथम मुक्तिका कारण जो क्षायिकसम्यक्त्वसाहिप्रहण करैहे ॥ ५४ ॥

प्रशमे कर्मणां षण्णामुदयस्य क्षये सति ।

आदत्ते वेदकं बंधं सम्यक्त्वस्योदये सति ॥ ५५ ॥

अर्थ—अनंतानुबंधी कपाय चारि अर मिथ्यात्व, मिश्रमिथ्यात्व इन छह कर्मनिका उपशम होतसंतै अर उदयका क्षय होतसंतै अर सम्यक्त्व

प्रकृतिका उदय होतसतैं बंदनेयोग्य जो वेदकसम्पत्त्व ताहि ग्रहण करैहै ।

भाषार्थ—वर्तमानमें उदय आवनेयोग्य निपेकनिका उदयका अभाव है लक्षण जाका ऐसा तो क्षयहो, तैं सतैं अर ता पीछैं उदय आवने योग्य निपेक ते उदीरणारूप होय वर्तमानमें उदय न आवैं ऐसैं तिनकी सत्ता है लक्षण जाका ऐसा उपशम अर सम्पत्त्वप्रकृति देशघातीहै ताका उदय होतैं वेदकसम्पत्त्व होयहै जातैं जाके उदयसैं मछ उपत्रै अर गुणका अंश भी बन्या रहै ऐसा देशघातीका लक्षण सर्वत्र कदाहै ॥ ५५ ॥

आदिमं त्रितयं हित्वा गुणेषु सकलेष्वपि ।

सम्यवत्त्वं क्षायिकं श्रेयं मोक्षलक्ष्मीसमर्पकम् ॥ ५६ ॥

अर्थ—आदिके निष्यात्व सासादन मिथ्र ए तीन गुणस्थाननिकों छोडकरि सर्वही गुणस्थाननिषिदै मोक्षलक्ष्मीका देनेवाला क्षायिक सम्पत्त्व जानना ॥ ५६ ॥

तुर्यादारभ्य विज्ञेयमुपशांतांतमादिमम् ।

चतुर्थे पंचमे षष्ठे सप्तमे वेदकं पुनः ॥ ५७ ॥

अर्थ—चौथे गुणस्थानतैं लगाय उपशांतकराय पर्यंत आदिका उपशमसम्पत्त्व जानना । यहुरि चौथे पांचवें छठे सातवें गुणस्थान विषै वेदकसम्पत्त्व जानना ॥ ५७ ॥

साध्यसाधनभेदेन द्विधा सम्यवत्वमिष्यते ।

कथ्यते क्षायिकं साध्यं साधनं द्वितयं परम् ॥ ५८ ॥

प्रथमार्यां प्रयं पृथ्व्यामन्यासु क्षायिकं विना ।

सम्यवत्वमुच्यते सद्भिर्भवभ्रमणसूदनम् ॥ ५९ ॥

अर्थ—साध्य साधनके भेद करि दोय प्रकार सम्पत्त्व कहिये है, धार्मिक साधने योग्य है अर उपराम वेदक ये दोय साधन हैं ॥५८॥

प्रथम पृथीविरे सैसार भ्रमणके नाशक तीनों सम्पत्त्व हैं अर एह पृथीविरे धार्मिक विना दोय सम्पत्त्व पंडितनि करि कहिए है ॥५९॥

निर्गह्मानदेशानां सम्पत्त्वं प्रितयं मतम् ।

न निर्लिपीनिरधीनां धार्मिकं विद्यते परम् ॥ ६० ॥

अर्थ—विशेष मनुष्य देशनिहैं तीनों ही सम्पत्त्व कहे हैं, अर देशान्ता निर्गह्मानीनिहैं एक धार्मिक सम्पत्त्व नाही है ॥ ६० ॥

शायोपशमिरुम्योक्ताः पट्टपट्टिर्जलराशयः ।

श्रीगर्भाद्गुर्लिकी शेषा प्रथमस्य परा स्थितिः ॥ ६१ ॥

अर्थ—शायोपशम सम्पत्त्वकी उच्छ्रय स्थिति छपामटि भागरकी कही, अर शायोप सम्पत्त्वकी उच्छ्रय स्थिति अंतर्गुर्लिकी जाननी ॥६१॥

पूर्वोद्दिष्टयोगेताम्यपश्चिन्नभट्टीशिनः ।

ईशदनास्थितिर्त्रेया धार्मिकम्योत्तमा पृथेः ॥ ६२ ॥

अर्थ—त्रिनिष्ट इन दोय कोटि पूर्वमस्थित त्रेयीम भागरकी धार्मिक सम्पत्त्वकी स्थिति पंडितनि करि जाननी योग्य है ॥ ६२ ॥

अस्मान् शश्रुषुष्टके गर्वाय प्रमदातने ।

निष्कार्याचरंशुर्वे प्रायते न मुदशनः ॥ ६३ ॥

अर्थ—शश्रुषुष्टके उह मनुष्यनिहैं, गर्वाय अर्थात् विषे अर शश्रुषुष्टके मनुष्यकी उच्छ्रय इन मनुष्य निष्कार्य अर्थात् अस्मान्शुर्वे अस्मान्शुर्वे न हरे है ॥ ६३ ॥

वैश्वदेवं संश्रितं दिवा रात्रौ शश्रुषुष्टयि ।

उच्छ्रयते न मृदरुर्दिश्यात्परदमाशिव् ॥ ६४ ॥

अर्थ—पंचेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्त अपर्याप्त, इति दोष जीवसमासनिर्को  
वर्जिकरि और मिष्यात्वके बलकरि उपजनेवाले जे वादर एकेन्द्रिय  
सूक्ष्म एकेन्द्रिय वे इंद्रिय प्रीन्द्रिय चतुर्द्रिय अर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिनके  
पर्याप्त अर अपर्याप्त ऐसें बारह जीवसमासनि विरै सम्यग्दृष्टी न  
उपजै है ॥ ६४ ॥

वीतरागं सरागं च सम्यक्त्वं कथितं द्विधा ।

विरागं क्षायिकं तत्र सरागमपरं द्वयम् ॥ ६५ ॥

अर्थ—वीतराग अर सराग ऐसें सम्यक्त्व दोष प्रकार कइया है ।  
तहां क्षायिक सम्यक्त्व वीतराग है, अर क्षयोपशम, उपशम ए दोष  
सम्यक्त्व सरागहैं ॥ ६५ ॥

संवेगप्रशमास्तिरयकारुण्यव्यक्तलक्षणम् ।

सरागं पदुमिर्ज्ञेयमुपेक्षालक्षणं परम् ॥ ६६ ॥

अर्थ—संवेग कहिये धर्मतैं अनुराग, प्रशम कहिये कषायनिकी  
मंदता, आस्तिक्य कहिये आत आगम पदार्थनिविर्षे 'हे ऐसेहीहे' ऐसा  
भाव, कारुण्य कहिये दयाभाव, ए हें प्रगट लक्षण जाका सो सराग-  
सम्यक्त्व पंडितनिकरि जानना । बहुरि उपेक्ष जो वीतरागता, सो है  
लक्षण जाका ऐसा दूसरा वीतराग सम्यक्त्व जानना ॥ ६६ ॥

निसर्गाधिगमौ हेतु तस्य शाखायुदाहृतौ ।

लब्धिः कर्मशमादीनामंतरंगो विधीयते ॥ ६७ ॥

अर्थ—सा सम्यक्त्वके निसर्ग कहिए रभावा, अधिगम कहिए उप-  
देश पावना ये दोऊ बाधा कारण कहेहैं, अर कर्मनिके उपशमादिक-  
निकी जो प्राप्ति सो अंतरंग कारण कहियेहैं ॥ ६७ ॥

सम्यक्त्वाध्युपिते जीवे नाशानं न्यवतिष्ठते ।

भास्वता भामिते देशे तमसः शीघ्रं स्थितिः ॥ ६८ ॥ •



अर्थ—सम्पत्त्वकरि सहित जीवविषै अज्ञान न तिष्ठै, जैसे सूर्य-  
करि प्रकाशित क्षेत्रविषै अंधकारकी स्थिति कैसी ? ।

भावार्थ—जैसे सूर्यके प्रकाश होते अंधकार न होय तैसे सम्पत्त्व  
होतै अज्ञान न होय है ॥ ६८ ॥

न दुःखबीजं शुभदर्शनक्षितां  
कदाचन क्षिप्तमपि प्ररोहति ।

सदाप्यनुप्तं सुखबीजमुत्तमं  
कुदर्शने तद्विपरीतमीक्ष्यते ॥ ६९ ॥

अर्थ—सम्पददर्शनरूप पृथ्वीविषै दुःखका बीज बोयाभी कदाचित्  
न उगैहै बहुरि विना बोयाभी उत्तम सुखका बीजसदा उगैहै । बहुरि  
मिथ्यादर्शनविषै सो विपरीत देखियेहै ।

भावार्थ—सम्पददर्शिके कोई दुःखका कारण पाप कर्म बंध्या होय  
सो सोभी सुखका कारण होय परिणमैहै ऐसा जानना ॥ ६९ ॥

मम्यवत्वमेघः कुशलांबुचंद्रितं  
निरंतरं वर्षति धातकल्मषः ।

मिथ्यात्वमेघो व्यमनांबुनिद्रितं  
जनावनां धालितपुण्यसंचयः ॥ ७० ॥

अर्थ—धोपेहै पापरूप मल जानै ऐसा सम्पत्त्वरूप मेघहै सो  
निरंतर वनरूप भूमिविषै पूजनीक कन्यागरूप जलको बरमेहै । बहुरि  
मिथ्यात्वरूप मेघ, धोपेहै दूरि किमाहै पुण्यका संचय जानै सो जनरूप  
भूमिविषै निदनीक कष्टरूप जलको बरमेहै ॥ ७० ॥

न मीयगो क्षोभगणः सुदर्शने  
विगर्हणीयः स्थिरतां प्रपद्यते ।

भुजंगमानां निवहोऽवतिष्ठते

कदा निवासेऽध्युपिने गरुत्मता ॥ ७१ ॥

अर्थ—सम्बद्दर्शनके होतसतैं भयानक निदने योग्य जो दोष-  
निका समूह सो स्थिरताकी न प्राप्त होयहे । जैसे गरुडकरि सहित जो  
स्थान ताविषैं सर्पनका समूह कब तिष्ठै ? ।

भाषार्थ—सम्बद्दर्शन होतैं मिथ्यात्वादिदोष न रहैहैं, ऐसा  
जानना ॥ ७१ ॥

विवर्द्धमाना यमसंयमादयः

पवित्रसम्यवत्वमुणेन सर्वदा ।

फलंति हृद्यानि फलानि पादपाः

घनोदकेनेव मलापहारिणा ॥ ७२ ॥

अर्थ—जैसे मलका हरणे वाला जो मेघका जल ताकरि वृक्षहैं ते  
मनोहर फलनिकी फले हैं, तैसे विशेषपने वर्द्धमान जे यमसंयमादिक  
से पवित्र सम्यक्त्वगुण करि सदा फले हैं ॥ ७२ ॥

निपेवते यो विषयामिलापुको

निरस्य सम्यक्त्वमपीः कुदर्शनम् ।

न राज्यमत्यस्य भुजिप्यतां स्फुटं

वृहत्स्वकांशी वृणुते दुराशयः ॥ ७३ ॥

अर्थ—जो विषयामिलापी अज्ञानी सम्यक्त्वकी त्यागि करि मिथ्या-  
दर्शनकी सेवै है सो दुष्टचित्त बहस्पनका बाँठक प्रगट राज्यकी  
छोडि करि चाकीकी बंगीकार करे है ॥ ७३ ॥

आगैं संवेगादिक सम्यक्त्वके आठ गुण करे है;—

मध्ये धर्मे ध्वलहिंसाप्रपंचे

देवे रागद्वेषमोहादिमुक्ते ।

माघौ सर्वग्रंथसंदर्भहीने

संवेगोऽग्नौ निधलो योज्जुरागः ॥ ७४ ॥

अर्थ—नव भया है हिमाका विस्तार जा गिने ऐसा जो सांवा-  
भर्म नागिने तथा रागरेवमोहादिकरि रहित देवगिने तथा सर्व परि-  
पदमगूडकरि रहित माधुगिने जो निधल अनुराग सो संवेग कहा  
हे ॥ ७४ ॥

देहे भोगे निदिने जन्मरासे

कृष्टेष्वागुधिस्राणाभ्यिरत्ये ।

षड्रग्यं जायते निःप्रकंपं

निर्दिश्या कल्पते मुक्तिहेतुः ॥ ७५ ॥

अर्थ—निदिन शरीरगिने तथा भोगगिने षड्रि शीघ्र धात्वा जो  
कल्प ता समान है अभ्यिराणा ना गिने ऐसे केशव्य संसारवागिने  
ना निधल वैराग्य रूपे दे मो षड् मुक्तिका कारण निर्दि करिने  
हे ॥ ७५ ॥

कृतापुत्रघ्नानृमित्रादिहेतोः

शिर्यद्विष्टे निर्मिते कार्यजाते ।

पञ्चाणपो यो विरक्तस्य पूगो

विदा मोक्तात्रयपुत्रस्य हर्षी ॥ ७६ ॥

अर्थ—श्री' पुत्र मंड निव अदिके कारणों रागरेवक्य कार्यनिहे  
सुदुर्बले ही कहे ना विरक्त रूपे के पञ्चाणपो ह्यो यो पापपुत्री नाथ  
करिनेवही विदा कही हे । ७६ ॥

इने इने इवगमादिहेतौ

स्त्रे मन्त्रा लोचना वा गुरुणा ।

पंचाचाराचारकाणामदोषा

मोक्ता गर्हा गर्हणीपस्य हंप्री ॥ ७७ ॥

अर्थ—द्वेष राग आदि दोषनिकरि दोष उपब्रते सर्वे पंचाचारके आचरण पताबणेवाळे जे गुह्य तिनके आगे भक्ति सहित जो आलोचना करिये अपने दोष कहिये सो निदनीक पापके हरनेवाली दोष रहित गर्हा कही है ॥ ७७ ॥

रागद्वेषक्रोधलोभप्रपंचाः

सर्वानर्थोयामभूता दुरंताः ।

यस्य स्याति कुर्यते न स्थिरत्वं

शांतात्मासां शस्यते भव्यसिंहः ॥ ७८ ॥

अर्थ—सर्व अनर्थनिका घरममान, दूर है अंत जिनका ऐसे जे राग द्वेष क्रोध लोभादिकनिके प्रपंचहै से जाके चित्तविषे स्थिरताको न करे है सो यह भव्य प्रधान, शांतहै आत्मा जाका ऐसा प्रशंसा रूप कीजिए है ।

भावार्थ—तीव्र रागद्वेष जाके मनमें न होय सो उपशम गुण कहिये ॥ ७८ ॥

लोकाधीशाभ्यर्चनीयांघ्रिपद्ये

तीर्थाधीशे माधुवर्गे सपर्या ।

या निर्व्याजाऽऽभ्यते भव्यलोकै-

भक्तिः सेष्टा जन्मकांतारशस्त्री ॥ ७९ ॥

अर्थ—लोकनिके अधीश जे नरेन्द्र नागेंद्र देवेंद्र तिन करि पूजनीक हैं चरन कमल जाके, ऐसे तीर्थनाथ भए भगवान तिन विषे तथा साधुनिके समूहविषे भव्य जीवनिकरि जो कपटरहित पूजा आरंभिये है सो संसारबनके छेदनेवाली भक्ति इष्टरूप कहीहै ॥ ७९ ॥

कर्मारण्यं छेत्तुकामैरकामै-

र्धमाधारे व्यावृत्तिः प्राणिवर्गे ।

भैवाज्याद्यैः प्रागुक्तैर्द्वैर्धते या

तद्वात्मल्यं कथ्यते तथ्ययोधैः ॥ ८० ॥

अर्थ—कर्मजनके छेदनेके बाँडरु, बाँडारहित ऐसे पुरुषानि की धर्मके आधारभूत जीवनिके समूहविधे जो प्रागुक्त भोगनि आदिकनि करि वेवाज्याय बडाइये, करिए सो सार्वार्थज्ञानीनि करि वास्तव्यगुण करिने हे ॥ ८० ॥

जन्मांमोर्धं कर्मणा भ्रम्यमाणे

गीरप्रामे दूःगिते नैकमेदे ।

विचारद्वन्द्वं पट्टिधसे महात्मा

तत्कारण्यं दर्शयते दर्शनीयैः ॥ ८१ ॥

अर्थ—जन्मांमोर्धविधे कर्मकार भ्रमता अर दूःगित ऐसा अनेक प्रकार वा जीवनिका समूह तारिणे तो महापुरुष दयाभावकी धीरे धीरे कायजानाव दर्शन करने योग्य जे आचार्यादिक निवकरि दिनाइत हे ।

भावार्थ—समाजी जीवनिके देवि वा कठना कठना सो कठना-नाम सम्यक्त्व गुण करिबहे ॥ ८१ ॥

उत्ते सम्यक्त्वक अर गुणनिका वधेन विद्या अर विनया क व हेतु ॥ ८१ ॥

प्रवृत्त्येने दृष्टेनपर्यामिगुणैः

दृष्टिचित्तोन्मीनिगाम्यदृष्टेः ।

सुखदंष्ट्रिषु च संवदने

वि संवदनेद्वंद्वं विनाशय ॥ ८२ ॥

अर्थ—जैसे निर्दिता दृश्यविषे स्वभवे जे श्रीगुरुके उपदेश तिन-  
करि धर्मका जानपणा बटेहे तेने जीवके दृग्गतरहित ये संशेगादि आठ  
गुण तिनकरि सम्भग्दर्शन बट्टे ॥ ८२ ॥

अपारसंगारममुद्रतार्कं  
पशीकृतं येन सुदर्शनं परम्  
बशीकृतान्नेन जनेन संपदः  
परंरलभ्या विपदामनास्पदम् ॥ ८३ ॥

अर्थ—अपार संसारसमुद्रका तारनेवाला अर विपदानिका अना-  
स्पद करिये ठिकाना नाही ऐमा एक सम्भग्दर्शन जाने बश किया,  
भेगीकार किया ता पुण्यकरि औरनि करि न पावने योग्य ऐसी  
संपदा बरा बरी ॥ ८३ ॥

सुदर्शने लब्धमहोदये गुणाः भियो निवासा विकसन्ति देहिनि ।  
निरस्वदोषोपचये मरोचरे हिमेतरांशुविव पंकजाकराः ॥ ८४ ॥

अर्थ—पायाहे महाउदय जाने ऐमे सम्भग्दर्शनके होतमते जीव-  
विषे लक्ष्मीके निवास जे गुण ते विकसमान होवहे, कैता हे सम्भ-  
ग्दर्शन, निरस्वदोषोपचये करिये दूर किया हे शोकादि दोषनिका समूह  
जाने । जैसे सरोवरविषे दूर कियाहे दोषा जो रात्रि ताका समूह जाने  
अर पायाहे महा उदय जाने अर भलाहे दर्शन जाका ऐसा सूर्यके  
होतमते कमलनिके वन लक्ष्मीके निवास हे ते विकसते हे ।

भावार्थ—शोक करेहे लक्ष्मी कमलनिविषे बसैहे ऐसा अलंकार  
वाक्यहे । इहां एक एक सूर्यपक्षविषे अर दर्शनपक्षविषे समान अर्थ  
होवहे ॥ ८४ ॥

दर्शनबंधोर्नपरो बंधुर्दर्शनलाभात्त परो लाभः ।

दर्शनमित्रात्त परं मित्रं दर्शनसौख्यात्त परं सौख्यं ॥ ८५ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनरूप बांधवतैं सिवाय और दूसरा बांधा नाहीं अर दर्शनके लाभतैं सिवाय और दूसरा लाभ नाहीं, अर दर्शनतैं सिवाय दूसरा मित्र नाहीं, अर दर्शनके मुखतैं सिवाय और दूसरा मुख नाहीं ॥ ८५ ।

लब्ध्वा मुहूर्त्तमपि ये परिवर्जयन्ते

सम्यक्त्वरत्नमनवद्यपदप्रदायि ।

आम्यन्ति तेऽपि न चिरं भववारिराशौ

तद्विभ्रतां चिरतरं किमिहास्ति वाच्यम् ॥ ८६ ॥

अर्थ—पापरहित पदका- देनेवाला जो सम्यक्वरत्न ताहि एक मुहूर्त्तभी पायकरि जो त्यागै है ते पुरुषभी संसारसमुद्रविषै बहुतकाल नहीं भ्रमै है तो इहांतौ सम्यग्दर्शनको धारते पुरुषनिके कहा अति-शयकरि बहुत भ्रमण कहना योग्य है !

भावार्थ—एक मुहूर्त्त भी सम्यग्दर्शन ग्रहण हो जाय तो संसार उत्कृष्ट किंचिदून अर्द्धपुद्गलपरिवर्त्तनमात्र रहि जाय सो अनंतानंतकाल अपेक्षा थोडा ही कहिये । बहुरि जो सम्यग्दर्शनतैं नहीं छूटै क्षायिक सम्यग्दृष्टी होय सो बहुत कैसे भ्रमै ! याकैं तौ अतिनिकट संसार है ऐसा इहां आशय जानना ॥ ८६ ॥

पापं यदार्जितमनेकभवेर्दुरंतैः

सम्यक्त्वमेतदखिलं सहसा हिनस्ति ।

भस्मीकरोति सहसा तृणकाष्ठराशिं

किं नोर्जितोज्वलशिखो दहनः समृद्धम् ॥ ८७ ॥ ।

अर्थ—जो पाप दूर है अंत जिनका ऐसे अनेक भवनिकिर उपाग्या सो इस समस्त पापको सम्यक्त्व शीघ्र ही नाश करै है । इहां दृष्टांत कहै है,—बड़ी उज्ज्वल है शिखा जाकी ऐसा जो अग्नि सो

इन्द्रियो प्राप्त होगा जो तूण भर काहनका समूह ताहि शोमही कहा  
भाम न करे हे ! कौही हे ॥ ८७ ॥

नैव भवस्थितिवेदिनि जीवे  
दर्शनशालिनि तिष्ठति दुःखम् ।  
कुत्र हिमस्थितिर्गस्ति हि देशे  
प्रीप्सद्दिवाकरदीधितिर्दीप्ते ॥ ८८ ॥

अर्थ—संसारकी स्थितिका जाननेवाला भर सम्यग्दर्शनकरि  
शोभित देमा जो जीव ताविये दुःख नहीं तिष्ठे हे । जैसे प्रीप्सके  
सूर्यकी किरणपरि तत जो क्षेत्र ता विये शितकी रियति कहाते होय ?  
अपि तु माही होय हे ॥ ८८ ॥

ध्रुवनजननाजन्मोत्पत्तिप्रबंधनिषूदनी  
त्रिनमतरुचिर्धिनामप्या यकैरूपमीयते ।  
त्रिदशमरणि ते भाषंते समां परमाणुना

प्रभवति मतिर्मिथ्या मिथ्यादशमथ वा सदा ॥ ८९ ॥

अर्थ—लोकके जीवनिके संसारकी उत्पत्तिके प्रबंधकी नाशक-  
रनेवाली ऐसी जो त्रिनमकी रुचि थदा सो त्रिनिकरि चित्तमणि-  
करि उपमा दांभिये ( त्रिनमकी थदाको चित्तमणिकी उपमा देयहे )  
से आकाशको परमाणुके समान कहेहे । अथवा मिथ्यादृष्टिकी सुद्धि  
सदा मिथ्यारूप होयहीहे ताका कहा आश्चर्यहे ! ॥ ८९ ॥

अवहितनाः मद्मोत्संगं निधानमिवोत्तमं  
नयति हृदयं यः सम्यक्त्वं शशांककरोञ्जलग्म् ।  
अमितगयः क्षिप्रं लक्ष्म्यः श्रयंति समाहता  
निरुपमगुणाः कान्तं कान्तं स्वयं प्रमदा इव ॥ ९० ॥



अर्थ—जैसे एकाग्र है मन जाका ऐसा पुरुष घरके मध्यभाग प्री-  
निधानको प्राप्त करे तैसे जो हृदय प्रति चंद्रमाकी किरणतन  
उज्ज्वल सम्पत्त्वको प्राप्त करे, ता पुरुषको जैसे सुंदरपतिको आदर-  
सहित स्त्री है ते स्वयमेव शीघ्रही सेवेहे तैसे उपमासहित है पुन  
त्रिनके अर प्रमाण है ज्ञानदर्शन त्रिनविधै ऐसी आदरसहित ईश्वरि-  
पदकी लक्ष्मी स्वयमेव सेवेहे ॥ ९० ॥

दोहा ।

त्रिपरीत्रामिनिवेश तत्रि भजि निर्मल भद्वान ।

याके धारक अमितगति लहत सकल कल्पान ॥

ऐसी श्री अमितगति भाष्यार्यहत भाष्यकाव्यारविधै

द्वितीय परिच्छेद समाप्त भया ।



## तीसरा परिच्छेद ।

आगे सम्यग्दर्शनके विषय जे जीवादिक पदार्थ तिनका वर्णन रहे,—

जीवाजीवादितत्वानि ज्ञातव्यानि मनीषिणा ।

अद्भानं कुर्वता तेषु सम्यग्दर्शनधारिणा ॥ १ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनका धारणेवाला अर तिन जीवादिकनिविषे अद्भानको करता ऐसा जो पंडितपुरुष साकारि जीव अजीव आदि तत्वहैं ते जानने योग्य हैं ।

भावार्थ—सम्यग्दर्शनकी निर्मलताके अर्थ जीवादिपदार्थ विस्तार-सहित जानने योग्य हैं ॥ १ ॥

तत्र जीवा द्विधा ज्ञेया मुक्तसंसारिभेदतः ।

अनादिनिधनाः सर्वे ज्ञानदर्शनलक्षणाः ॥ २ ॥

अर्थ—तहां जीव हैं ते मुक्त अर संसारी भेदकरि दोय प्रकार जानना । जैसे हैं जीव आदि, अंतररहित हैं अर सर्वही ज्ञानदर्शन हैं लक्षण जिनके ऐसेहैं ।

भावार्थ—द्रव्याधिक नय करि जीव अनादिनिधन है अर एकेदिवसे एगाय सिद्ध भगवानपर्यंत सामान्य ज्ञानदर्शनविना कोई भी जीव नहीं । ऐसा जानना ॥ २ ॥

तत्र क्षताएकमात्राः प्राप्ताष्टगुणसंपदः ।

त्रिलोकवेदिनो मुक्तास्त्रिलोकाप्रनिवासीनः ॥ ३ ॥

अनंतरेपदूनांगसमानाकृतयः स्थिराः ।

आत्मनीनजनाभ्यर्च्या भाविनं कालमासते ॥ ४ ॥

अर्थ—तहां नष्ट भएहैं अष्ट कर्म जिनके अर प्रात भई है अष्टगुण रूप संपदा जिनके, बहुरि तीन लोकके जाननेवाले अर द्रव्यभावसुनै नितै मुक्त भए, बहुरि तीन लोकके ऊपरि बसनेवाले ॥ ३ ॥

बहुरि अंतका किंचित् ऊन अंग प्रमाण है प्रदेशानिकी आकृति जिनकी, अर स्थिर हैं कंपरहित हैं, बहुरि आत्मज्ञानी जननि करि पूर-नीक, ऐसे श्री सिद्धभगवान आगामी अनंतकाळ तिष्ठै हैं ॥ ४ ॥

संमारिणो द्विधा जीवाः स्यावराः कथितास्त्रसाः ।

द्वितीयेऽपि प्रजायंते पूर्णापूर्णतया द्विधा ॥ ५ ॥

अर्थ—ससारी जीव स्यावर अर व्रस ऐसे दोय प्रकार कहैहैं, तिन स्यावर अर व्रसनि त्रिद्वैभी पर्याप्त अपर्याप्तपने करि दोय प्रकार हैं ॥ ५ ॥

आहारविग्रहाश्चाऽऽनवचोमानसलक्षणम् ।

पर्याप्तानां मतं षट्कं पूर्णापूर्णत्वकारणम् ॥ ६ ॥

अर्थ—आहार, शरीर, इन्द्रिय, आसोच्छ्वास, वचन और मन ये है अष्टगुण जाके ऐसा जो पर्याप्तनिका षट्क सो पर्याप्त अपर्याप्तपनेका कारण कसा है ।

भावार्थ—अपने योग्य पर्याप्तिकी जाके पूर्णता है सो पर्याप्त जीव कहिये, जाके पूर्णता नाही सो अपर्याप्त कहिये ॥ ६ ॥

चतस्रः पंच षट् श्रेयास्नेषां पर्याप्तयोऽग्निनाम् ।

एहाश्चत्तिकदाद्याणां पंचाद्याणां यथाक्रमम् ॥ ७ ॥

अर्थ—तिन पर्याप्तनिकाहिन एकेंद्रिय विकेंद्रिय पंचेंद्रिय जीवनि है चार, पाँच, छट, पर्याप्त यथाक्रम जाननी ।

अथ—एकेन्द्रिये मन वचन विना न्याय एवास्ति ? त्रिकान्तत्रय  
कर्मक्षेत्रे एव एवास्ति ? एकेन्द्रिय जीवने वचनमनव्यतिराग एव ? ऐमा  
जायन्ते ॥ ७ ॥

एवाद्याः व्याचरा जीवाः पञ्चपा पञ्चकीर्तिकाः ।

पृथिवी मल्लिङ्गं मित्रो मातुर्गं च वनापदिः ॥ ८ ॥

अर्थ—पृथ्वी १ वा २ अग्नि ३ पवन ४ आ वनापदि ५ ऐने  
एकेन्द्रिय जीवका जीव एव प्रकाश होते ॥ ८ ॥

भेदात्मत्र प्रयः पृथ्व्याः वायवायिकान्द्रवाः ।

निर्मुक्तप्रीवृतागामिरुपा एव परेष्वपि ॥ ९ ॥

अर्थ—महा पृथ्वीके भेद तीन ? पृथ्वीवाय, पृथ्वीवायिक, पृथ्वी-  
जीव ३ हैं । महा जीवने शरीर व्याप्ति दिया सो सो पृथ्वीकापरी, अर  
जी शरीर जीवन एवण विवा सो पृथ्वीवायिक है, अर जो जीव पृथ्वी-  
वायिक, सोनेवाला है सो अलग-गमे पृथ्वीजीव है पाही प्रकार जलादिविषे  
भी जानना ॥ ९ ॥

महा द्वित्रिचतुःपञ्चपृथ्वीकागमकायिकाः ।

पञ्चाधा द्विविधात्मत्र संशयमंशुविकल्पतः ॥ १० ॥

अर्थ—द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुर्न्द्रिय पञ्चेन्द्रिय जीवने ते प्रकायिक  
होते ? । महा पञ्चेन्द्रिये ते सही अमही भेद करि दोय प्रकार है ॥ १० ॥

शिधोपदेशनात्प्राप्राट्ठिणः संज्ञिनो मताः ।

प्रभृषमानमप्राणा विपरीतास्त्रसंज्ञिनः ॥ ११ ॥

अर्थ—शिधोपदेश आशय इनके एवण करनेवाले, प्रवर्षा है  
मन जिनके, ऐने जीव है ते सही पट्टे । बहुरि इन्हें विपरीत है ते  
अमंहीते ऐमा जानना ॥ ११ ॥

स्पर्शनं रसनं घ्राणं चक्षुः श्रोत्रमितीन्द्रियम् ।

तस्य स्पर्शो रसो गंधो रूपं शब्दश्च गोचरः ॥ १२ ॥

अर्थ—स्पर्शन, रसन, घ्राण, नेत्र, श्रोत्र, ऐसे पांच इंद्रिय हैं ।  
बहुरि विनिका स्पर्श, रस, गंध, रूप, शब्द, विषय है ॥ १२ ॥

गंडुपदजन्तूकाश्रुमिश्रं गैद्रगोपकाः ।

गदिता विविधाकारा द्विद्वयीकाः शरीरिणः ॥ १३ ॥

अर्थ—गिदोग जोर कोडी रुमि शंग इद्रगोप ये नानाप्रकार  
काकार गिनके ऐसे इंद्रिय जीव कहे हैं ॥ १३ ॥

गुकापिपीलिका लिखाहंयुमगृहणशुभिकम् ।

विद्वयीकं मत्तं प्राज्ञैर्विचित्राकारसंपुगम् ॥ १४ ॥

अर्थ—गुका कोडी लीकर कुमुवा गरमल विद्वु ये सुशिवान्त  
करि नानाप्रकारभेगुक्त वीद्रिय कहे हैं ॥ १४ ॥

गर्भगमद्विहादेगमगकध्रमरादयः ।

गन्तुग्या विविद्वया विद्वदतिनशागनेः ॥ १५ ॥

अर्थ—(विद्वयाने नान्या हे गिन शासन गिनने ऐसे गुणानि करि  
कला मानी इन मय्यर अमर अति जीव हैं ने अगुगदिय जानने ॥ १५ ॥

निर्गन्तोनिवराः शेषाः शासमानानाकितः ।

विनिश्चा विविदिन्दुः क्विद्वनेद्रियसंपकाः ॥ १६ ॥

अर्थ—ये वी विनिदिन्दु वी अति विद्विय कद्वि नान्ये मपु  
देव है न नानाप्रकारे क वी अति अति है गुण इंद्रिय विद्वने वी  
अति ॥

अर्थ—ये वी विनिदिन्दु वी अति विद्विय कद्वि नान्ये मपु  
देव है न नानाप्रकारे क वी अति अति है गुण इंद्रिय विद्वने वी  
अति ॥

हृषीकपंचकं भाषा कायस्वांतबलत्रिकम् ।

आयुरुच्छामनिधासद्वंद्वं प्राणा दशोदिताः ॥ १७ ॥

अर्थ—इन्द्रियप्राण पंच अर भाषा मन काय ऐसैं बल प्राण तीन बहुरि आयु अर उच्छामनिधाम ये दोय ऐसैं प्राण दश कहे हैं ॥ १७ ॥

शरीराधायुरुच्छामा भाषिता निखिलेष्वपि ।

विकलासंज्ञिनां चाणी पूर्णानां संज्ञिनां मनः ॥ १८ ॥

अर्थ—शरीर इन्द्रिय आयु उच्छाम ये ग्यार प्राण सर्वही पर्याप्तनिधि कहे हैं, अर विकलेन्द्रिय अर अमंझी पंचेन्द्रिय पर्याप्तनिकैं भाषा प्राण है, अर मंझीपर्याप्तनिधिमें मनप्राण है ॥ १८ ॥

एकद्वित्रिचतुःपंचहृषीकाणां विभाजिताः ।

तेऽप्येषां त्रिचतुष्कं च षट्सतांगापुरिन्द्रियैः ॥ १९ ॥

अर्थ—एकेंद्रिय द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय पंचेन्द्रिय जीवनिके भेदरूप प्राणहैं । एकेंद्रियकैं स्पर्शनइन्द्रिय शरीर आयु उच्छाम ऐसैं ग्यार, द्वीन्द्रियकैं रमनाइन्द्रिय अर वचन भिडे छह, त्रीन्द्रियकैं प्राण अधिक सात, चतुरिन्द्रियकैं नेत्रअधिक आठ, असेनी पंचेन्द्रियकैं श्रवण अधिक नौ, संझी पंचेन्द्रियकैं मन अधिक दश; ऐसैं पर्याप्तनिके कहे । बहुरि ते प्राण अपर्याप्तनिधिमें एकेंद्रियकैं स्पर्शनइन्द्रिय काय आयु ऐमें तीन हैं, द्वीन्द्रियकैं रमनासहित ग्यार हैं, त्रीन्द्रियकैं प्राणसहित पाचहैं, चतुरिन्द्रियकैं चक्षुसहित छहहैं, पंचेन्द्रियकैं श्रोत्रसहित सातहैं ऐसा जानना ॥ १९ ॥

जरायुजांढजाः पोता गर्भजा देवनारकाः ।

उपपादभवाः शेषाः सर्वे सम्मूर्च्छना मताः ॥ २० ॥

अर्थ—जरायुज कहिए जात्रत् प्राणीनिकैं शरीर ऊपरि आवरण मांस छोड़ जामें विस्ताररूप पाइए ता सहित उपरैं ते जरायुज, अर

अंडादि उदरै ते अंडज, अर योनिनै निरुक्तताही खाटना आदि सार-  
 र्थ्युक्त उदरै ते पानज ये तीन प्रकार ती गर्भजहै, अर देव नास्की है  
 से उदरतराग्या मो है जन्म जिनका ऐमेहै, बहुरि इनिमिषान सै  
 जीव सम्पूर्णनै है जन्म जिनका ऐमे कहैहै ॥ २० ॥

धातमममूर्च्छिनो जीवा भूरिपापा नपुंसकाः ।

शीपुंदेश मता देवाः मवेदयितयाः परे ॥ २१ ॥

अमे अरुति पाप जिनके ऐसे नास्की अर सम्पूर्णन जीवै ते  
 नपुंसकै; अर देवै ते स्त्रीहै, अर पुण्यपेदीहै; अर बाकी और जीव  
 स्त्रीनै वेदयितहै ऐसा जानना ॥ २१ ॥

शयितः संपुतः शीतः संतपो या विमिभक्तः ।

विभेदेरागर्भिभो नद्या योनिगिनाम् ॥ २२ ॥

अथ -- शयित अर संतप अर शीत, इनिनै इतर जी शयित  
 शिष्ट, दया वर्द्धन इनही विषय कल्पिये शयितशयितशयित संतपशयित-  
 शयित अर शयितशयित शयित अथ वेदनि करि, वेदव्या जीव-  
 शिष्टे नर प्रकृति योनि कहैहै । शीत नद्या अथते ऐमे पुत्रपत्नीविकार  
 अथ शयित, नद्या शयितशयित शयित अर शयित, शयितशयित शयित,  
 शयितशयित शयित अर शयित शयित शयित शयित शयित शयित शयित,  
 शयित शयित अर शयित शयित शयित शयित शयित शयित शयित ॥ २२ ॥

भक्तैश्च इत्युक्तेषु तेषां गतमित्यादिष्वनुत्तरम् ।

नरकदामर्गनिर्वाहं च तेषां विकल्पेण कथं ॥ २३ ॥

अनुत्तरं अनुत्तरं योनिनः सीति विदित्याः ।

अथै इत्युत्तरं चामर्गनिर्वाहानुत्तरम् ॥ २४ ॥

अथ -- इत्युत्तरं है इत्युत्तरं शयित शयित, अर शयितशयित इत्युत्तरं  
 शयितशयित अर शयित शयित शयित शयित शयित शयित शयित शयित

प्यारि ऐरैँ छह स्थाननिविधैँ मानलक्ष योनि जाननी, अर नारकी देव तिर्वच, इनि रिधैँ प्यारि प्यारि लक्ष योनि जाननी, विकलत्रयविधैँ छह-लक्ष योनि हे, अर मनुष्यनि रिधैँ चौदह लक्ष योनिहे । ऐसैँ सब एकठी कगी भईँ चौगसी लक्ष योनिहेँ ये पूर्वोक्त सचितादियोनिनके विशेष भेद जानने ॥ २५ ॥

गतीन्द्रियवपुयोंगजानवेदक्रुधादयः ।

संयमाहारभव्येष्टालेष्ट्यासम्पत्त्वसंज्ञिनः ॥ २५ ॥

अर्थ—गति प्यारि, इन्द्रिय पाच, काय छह, योग पद्मह, ज्ञान आठ, वेद तीन, प्रोधादिक कसय प्यार, संयम सात, आहारक दोष, भव्य दोष, दर्शन प्यार, लेष्ट्या छह, सम्पत्त्व छह, संज्ञी दोष, ऐसैँ चौदह मार्गणा कहीहेँ ॥ २५ ॥

मार्ग्यते सर्वदा जीवा यासु मार्गणकोविदैः ।

सम्पत्त्वशुद्धये मार्ग्यरताथतुर्दश मार्गणाः ॥ २६ ॥

अर्थ—विचारविधैँ प्रवीण जे पुरव तिन फरि जिनविधैँ जीव हेँ ते सदा विचारियेहेँ ते चतुर्दश मार्गणा सम्पत्त्वकी शुद्धिके अर्थ सदा विचारनी योग्यहेँ ॥ २६ ॥

मिध्यादष्टिः साग्नो मिश्रदष्टिः

सम्पदष्टिः संयतासंयताख्यः ।

क्षेपावन्यौ द्वौ प्रमत्ताप्रमत्तौ

सत्रापूरवेणानिशृच्यन्पलोभौ ॥ २७ ॥

शांतसीर्णा योग्ययोग्या जिनेन्द्रौ

द्विः सप्तैवं ते गुणस्थानभेदाः ।

त्रैलोक्याग्राहृडिमोषानमार्गा-

स्तर्ध्वं येषु ज्ञायते जीवतत्त्वम् ॥२८॥



अर्थ—मिथ्यादृष्टि, सासादन, मिथदृष्टि, सम्यग्दृष्टि बहुरि संयतासंपत्तदे नाम जाका, प्रमत्त, अप्रमत्त दोष ये जानने योग्यहैं; अर अदूरकरणसहित अनिष्टतिकरण अर सूक्ष्मलोभ अर उपशांतमोह, क्षीणमोह, समोगीजिन, अयोगीजिन ऐसं गुणस्थाननिके चौदह भेदहैं, ते त्रैलोक्यका अप जो सिद्धपद ताके चढनेहू सोपानमार्गहैं । जिनविधैं सांचा जीवताप जानियेहे ।

भारार्थ—मोहनीय आदि कर्मनिका उदय उपशम क्षय क्षयोपराम परिणामरूप जे अस्थायिशंभ तिनकीं होतसतैं उत्पन्न भये जे भा कहिए जीवकें मिथ्याव्यादिक परिणाम तिनकरि जीव हैं ते “गुण्यते” कहिए ठगिए वा देगिए व लक्षित कहिए; ते जीवके परिणाम गुणस्थानसंज्ञाके धारक हैं । तहा मिथ्या कहिये अस्तस्यमे हे दृष्टि कहिए सदान जाके सो मिथ्यादृष्टि हे, बहुरि आसादन जो विराधन ता सहित बतैं सो आसादन हे सम्यग्दृष्टि जाके, सो सासादनसम्यग्दृष्टि हे अथा आसादन कहिए सम्यक्त्वका विराधन ता सहित जो वर्तमान सो सासादनसम्यग्दृष्टि हे, बहुरि पूर्वे भयाथा सम्यक्त्वर निग न्याय करि इहा सम्यग्दृष्टिना जानना । बहुरि सम्यक्त्वं अर मिथ्यात्वका मित्रवभास सो मिथ्ये । बहुरि सम्यक्त्वं कहिये समीचीन हे दृष्टि कहिए, साधारणज्ञान जाके, मोहें सम्यग्दृष्टि, अर मोही अविगत कहिये अमंगली सो अविगत सम्यग्दृष्टि हे । बहुरि देवान् कहिए एकदेवता हे विगत कहिए, मंगली सो देवविगत हे मंगल अमंगलरि मिथ्या भाव हे । इहाते उगारि सर्व गुणस्थानरनी मंगली ही हे, बहुरि प्रमादनि कहिये प्रमाद करे सो प्रमत्त हे, बहुरि प्रमाद न करे सो अप्रमत्त हे, बहुरि अदूर हे कल्प कहिए पूर्वज्ञान जाके सो अदूरकरण हे, बहुरि न पावये हे निवृत्ति कहिये ... विवेकस्य कल्प कहिए पूर्वज्ञान जाके सो अतिवृत्तिकरण हे, बहुरि मूढन हे मंगल्य कहिये मोहवशास जाके, सो मूढमंगल्य

है; षट्ठि उपजांत भयार्त मोह जाका सो उपजांतमोह है; षट्ठि क्षीण भया है मोह जाका सो क्षीणमोह है; षट्ठि घानिकर्मनिवो जीतता भया सो जिन, षट्ठि केवल ज्ञान है जाके सो केवली, सोई केवली सोही जिन, षट्ठि योग परि गति सो योग सोही सयोगकेवली जिन है; षट्ठि योग जाये, न होय सो योगी नाही सो अयोगी सोही केवलीजिन सो अयोगकेवलीजिन है । ऐंमै गिन्यादृष्टि आदि अयोगी-केवलीजिन पर्यंत श्रीदृष्ट गुणस्थान जानना । इहां संघ बटनेके भयते नामका अर्धमात्र स्वल्प यत्रा विशेष अन्य आगमते जानना ॥

ऐंमै जीवतन्वका वर्णन किया, आंमै अजीवतन्वका वर्णन करे है;

धर्माधर्मनभःकालपुद्गलाः परिकीर्तिताः ।

अर्जीवाः पंच सूत्रैरूपयोगविचर्जिताः ॥ २९ ॥

अर्थ—भूयके जाननेवाले नर धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य आकाशद्रव्य कालद्रव्य पुद्गलद्रव्य ये पांच, उपयोग जो दर्शन ज्ञान ताकरि रहित अर्जीव करे ॥ २९ ॥

अमूर्त्ता निष्क्रिया नित्याधन्वारो गदिता जिनैः ।

रूपगंधरसस्पर्शशब्दवंतोऽत्र पुद्गलाः ॥ ३० ॥

अर्थ—धर्म अधर्म काल आकाश स्व स्थार द्रव्य अमूर्त्त कहिये वर्ण गंध रस स्पर्श रहित अर निःक्रिय कहिए प्रदेशानिके चलिबेकरि रहित जिनदेबनि करि करेहै । षट्ठि इहां रूप गंध रस स्पर्श शब्दवान हैं ते पुद्गलहै, रूप गंध रस स्पर्श है जाते सदा अनुपायी है अर शब्द है सो पर्याय है जाते पुद्गलकंधनितै यदाचित उपजेहै । इहां शब्द कहने करि बंध, सूक्ष्म स्थूल संस्थान भेद सम छाया आतप उद्योत ए सर्व पुद्गलके पर्याय जान लेना ॥ ३० ॥

लोकालोकां स्थितं व्याप्य व्योमानंतप्रदेशरुम् ।

लोकाकाशं स्थितौ व्याप्य धर्माधर्मौ समं ततः ॥ ३१ ॥

अर्थ—लोक अलोक दोउनिहीं व्याप करि अनंत है प्रदेश जहें देना आकाश अस्थित है । बहुरि लोकाकाशको सर्व तरफतें व्याप करि धर्मद्रव्य अरु अधर्मद्रव्य तिउरै ॥ ३१ ॥

धर्माधर्मरुजीवानामसंग्रहेयाः प्रदेशकाः ।

अनेतानंतमानाम्ने पुद्गलानामुदाहृताः ॥ ३२ ॥

अर्थ—धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य अरु एकजीवद्रव्य इनके अर्गस्यारे प्रदेश है । बहुरि पुद्गलनिके प्रदेश अनेतानंतप्रमाण कहेहै ॥ ३२ ॥

जीवानां पुद्गलानां च गतिस्थितिविभायिनी ।

धर्माधर्मौ मत्तौ प्राज्ञैराकाशमरकाशकृन् ॥ ३३ ॥

अर्थ—जीवनिहीं तथा पुद्गलनिकी गति अरु स्थितिके कारणेताते धर्म अधर्मद्रव्य सुखिताननि करि कहे है, अरु आकाश है सो अकाशका कारणेताते करिण देनेवाला है ।

अर्थ—जैसे धर्म अरु अधर्म मण्डलकी जग गमनमहकारीहै, अरु प्रेम अणुही निष्ठा । पणिकनिकी आया निष्पत्तेमें महकारी है तैसे गमन करे वा निष्ठा ही । पुद्गलनिकी नाम अधर्म महकारीहै बहुत प्रेरणाकरि कारणे विद्वाने नही उदासीन कारण है । अरु पणुपि सर्वद्रव्य अपने अपने अणुमें तिउरै है अणुपि सब द्रव्यनिकी अरकाश देना ये अणुपि सब द्रव्य अणु ॥ ३३ ॥

अर्गस्यया वृत्तानां चैव काश्य पात्राणां ।

पृथक् च वृत्तानां चैव मृत्ता इव व्यास्थिताः ॥ ३४ ॥

अर्थ—अणुपि अणुपि वृत्तानां चैव काश्य पात्राणां चैव मृत्ता इव व्यास्थिताः ॥ ३४ ॥ अणुपि अणुपि वृत्तानां चैव मृत्ता इव व्यास्थिताः ॥ ३४ ॥

भावार्थ—दर्शनार्थं तद्व्युत्पन्नं त्रिनयनं ऐसे असंख्यको कल्पान् भिन्न लोकविषये निर्दिष्टं सो तो निश्चयवत्त है। अतः अन्यद्रव्यनिके पर्यायनिकरि समस्तान्भेद करिण सो व्यवहारवत्तै ऐसा जानना ॥ ३४ ॥

जीवितं मरणं मौग्यं दुःखं कुर्वन्ति पुद्गलाः ।

अणुस्कोंधविभेदेन विकल्पद्रव्यभागिनः ॥ ३५ ॥

अर्थ—पुद्गल जे है ते जीना मरण मुग दुःखको करैहै, केसेहै पुद्गल अणु स्कोंधके भद्रपरि दोष भेदके भजनेशोहै । इन समानानिके प्राण-मया संयोग सो जीवन अ त्रिनयन वियोग सो मरण अ इन्द्रियजनित मुग दुःख इनके कारण पुद्गलहै ताते पुद्गल करै ऐसा जानना ॥ ३५ ॥

विशुंभरा जलं छाया चतुरिन्द्रियगोचराः ।

कर्माणि परमाणुध पट्टिधः पुद्गलो मतः ॥ ३६ ॥

स्थूलस्थूलमिदं स्थूलं स्थूलगूक्ष्मं जिनेधरैः ।

सूक्ष्मस्थूलं मतं सूक्ष्मं सूक्ष्मगूक्ष्मं यथाक्रमम् ॥ ३७ ॥

अर्थ—स्थूली, जल, छाया, चार इन्द्रियनिके विषय अरु कर्म, अरु परमाणु ऐसी छह प्रकार पुद्गलद्रव्य कर्ताहै ॥ ३६ ॥

पट्टि जिनेधरनिकरि यथाक्रम पहिए स्थूली सो स्थूलस्थूल, अरु जल स्थूल, अरु छाया स्थूलगूक्ष्म, अरु नेत्र विना चतुरिन्द्रियके विषय सूक्ष्म-स्थूल, अरु यथार्थ वर्णना सूक्ष्म, अरु परमाणु सूक्ष्मगूक्ष्म कर्ताहै ॥ ३७ ॥

ऐसे अजीवनवका वर्णन किया; आगे आस्रवतन्वको कहेंहैं;—

यद्वाशयमनःकर्म योगोत्तावास्रवः स्मृतः ।

कर्मास्रवत्यनेनेति शब्दशास्त्रविशारदः ॥ ३८ ॥

अर्थ—जो वचन काय मन इनका कर्म कहिये चटना सो योग है यह आस्रव है । शब्दशास्त्रविषे निपुण पुरुषनिकरि जाजरि कर्म आस्रवै सो आस्रवहै ऐसा कर्ताहै ॥ ३८ ॥

शुभोशुभस्य विज्ञेयस्तत्रान्योन्यस्य कर्मणः ।

कारणस्यानुरूपं हि कार्यं जगति जायते ॥ ३९ ॥

अर्थ—तहा शुभयोग शुभकर्मका कारण जानना अर अशुभयोग अशुभकर्मका; जातें लोकविषै कारणके अनुरूप कार्य होय है ॥ ३९ ॥

संसारकारणं कर्म कपायेण गृह्यते ।

येनान्यथा कपायेण कपायस्तेन वर्ज्यते ॥ ४० ॥

अर्थ—जा कारणकरि कपायसहित जो जीव ताकरि संसारका कारण कर्म ग्रहण करियेहै अर कपायरहितकरि संसारका कारण कर्म ग्रहण न करिये है ता कारण कपाय त्यागिए है ।

भावार्थ—सापरायिक आस्त्र तौ सकपाय जीवके होयहै अर ईर्ष्या-पथिक आस्त्र कपायरहित एकादशमादि गुणस्थाननिविषै होयहै नो केवल योगकृत है तातें संसारका कारण नाहीं ऐसा जानना ॥ ४० ॥

ज्ञाताज्ञातामंदमंदादिभावैश्चित्रं चित्रं जन्यते कर्मजालं ।

नाचित्रत्वे कारणस्येह कार्यं किंचिच्चित्रं दृश्यते जायमानं ॥ ४१ ॥

अर्थ—ज्ञानभाव अज्ञातभाव तीव्रभाव मंदभाव आदिशब्दकरि अधिकरण अर बीर्य इन प्रकारनि करि नानाप्रकारकर्मजाल उपजाइहै लोकविषै कारणके नानाप्रकारपना न होतें नानाप्रकार कार्य किछु उपज्या न देखिएहै ।

भावार्थ—यह प्राणी हिसनायोग्य है ऐसा जानकरि हिमामें प्रवर्तना इत्यादिक ज्ञानभावहै, बहुरि प्रमादनें या मदतें विनागनें हिमादिकमें प्रवर्तना सो अज्ञानभावहै, तीव्रक्रोमादिकके उदयतें होय सो तीव्रभावहै, मंदक्रोमादिकके उदयतें होय सो मंदभावहै, बहुरि जाके विषै हिमादिक आशरूप कीजिए सो अधिकरण कहिए, बहुरि द्रव्यकी

ज्यो निजसामर्थ्य सो बीर्य कहिए, इनिके नानाप्रकार तीजमंदादि भेद-  
करि आन्वयविषै भी भेद है ऐसा जानना ॥ ४१ ॥

तिरस्कारमात्सर्यपेक्षुन्यविप्र-

प्रपातप्रलापादिदोषरनेकैः ।

विशोधावरोपस्तपेक्षावरोधो

दुरतैः कृतैर्गृह्यते गर्हणीयः ॥ ४२ ॥

अर्थ—ज्ञान दर्शनके धारकनिकर वा ज्ञानदर्शनका तिरस्कार करणा  
वा मात्सर्य मद करणा वा पेक्षुन्य चुगली खाना, वा अंतराय करणा वा  
प्रपात करणा वा छूटे दोष कहना इत्यादि अनेक दूरहै अंत जिनका ऐसे  
करे भये दोषनि करि निदने योग्य ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण ग्रहण  
कौजिएहै ॥ ४२ ॥

पथाशब्ददैन्यप्रलापप्रपंच-

निकृष्टेन तापेन शोकेन सद्यः ।

परात्मोभयस्थेन कर्मागिबर्गे-

रसातं सदा गृह्यते दुःखपाकम् ॥ ४३ ॥

अर्थ—प्राणनिकर विवोग करणा सो बध, अर अशुपातसहित तडा  
बिछाप करणा सो आक्रंदन, अर दीनपना कहिए जादि देखें दया उपजै,  
तथा प्रलाप कहिये बकवाद इनिके विस्तारनिकरि, तथा परके बचन  
मुनि मनमें कसूरता सो ताप ताकरि, तथा ताकी चिंता परता इष्टवि-  
योग भये सतैं निकृष्ट दुःख जो पीडारूप परिणाम ताकरि, तथा छिद-  
म्य परिणाम जो निकृष्ट शोक ता करि दुःखरूप है उदय जावत ऐसा  
जो असाता बेदनीय कर्म ताहूँ जीवनके समूहनि करि सदा हीम  
ग्रहण कहिए है । कैसेक है पूर्वोक्त कारण, परविषै वा आपविषै वा पर  
आप दोउनिविषै स्थित कहिए बर्से है ।

भावार्थ—आपविषै वा परविषै वा पर आप दोउनिविषै को भये बंधादिक कारण करि अमाता वेदर्नायका आम्बव होय है ॥ ४३ ॥

साधुपास्या प्राणिश्ला तितिक्षा

सर्वज्ञार्चा दानशांखादियोगः ।

सातं कर्मोत्पद्यते शर्मपाकं

शिष्टामिष्टैः पोषितैः सज्जनैर्वा ॥ ४४ ॥

अर्थ—साधुनकी सेवा अर जीवनकी रक्षा अर क्षमा अर सर्वज्ञकी पूजा अर दान अर निर्लोभपरिणामादिक अर शुभध्यान इन पापगहित क्रियाका आचरण करि मानावेदर्नाय कर्म उत्पन्न है, जैसे उनमहै मनोरथ जिनके ऐसे पोषे भए सज्जननि करि सुखका परिपाक उत्पन्न होय है तैसे, यह दृश्यत है ॥ ४४ ॥

मोक्तव्येनावर्णवादेन देवे

धर्म संघे वीतरागे श्रते च ।

मद्येनेवाऽऽस्त्रायमानेन मद्यो

घोराकारो जन्यते दृष्टिमोहः ॥ ४५ ॥

अर्थ—देवविषै तथा धर्मविषै तथा मद्यविषै तथा घानराग केवली विषै तथा शास्त्रविषै त्यागनेयोग्य जो अवर्णवाद ताकरि स्वाया मद्य जो मदिरा ताकरि जमे घोरहै आकार जाका ऐसा देखनेमें गहलभाव उत्पन्नहै तैसे दर्शनमोह कर्म उत्पन्नहै ।

भावार्थ—अंतरगकलुषताके दोषनै न होने दोषनिका प्रकट करणा सो अवर्णवादहै, तथा प्यार प्रकार देवहै तिनमें व्यंतर मत्सका संवन कोहै इयादिक कहना सो देवावर्णवाद है, बहुरि जिनभासित दश प्रकार धर्म गुणगहनहै ताके मद्येनेवाऽऽ अमुर होयहै इयादिक कहना सो धर्मका अवर्णवादहै, बहुरि जे मुनिहै ते ग्नानागतित मलकरि उदय्या

है अंग जिनका ऐसे अपवित्र दूह है इत्यादि करना सो संपका अर्घ्यवादी वृत्ति केगी कल्याणार्थों जैसे वा कमप्रवृत्त ज्ञानदर्शन शक्ति है इत्यादि करना सो बेकार्यका अर्घ्यवाद है, वृत्ति मान मच्छीका गाना मदिना पान मेवना सो भोगना शक्तिभोजन इत्यादि पापरहित है ऐसा करना सो शुक्ल अर्घ्यवादी; ऐसे दैत्यदिकके अर्घ्यवादी हीनमोक्षका कथ होय है, जाकरि मंगारविषे अनत परिभ्रमण होयहै ऐसा जानना ॥ ४५ ॥

गौम्यधामी जन्वते निर्दनीयो  
रांद्रो भावो यः कषायोदयेन ।  
दधे जंतोरेष चारित्रमोहं

चिट्ठेपी वा राध्यमानो निकृष्टः ॥ ४६ ॥

अर्थ—जो कषायके उदयकरि निर्दनेयोग्य अर सुगता नारा करने-  
वाय गौत्रभाव उपजायहै सो जीवको चारित्रमोह देयहै, जैसे द्वेषभाव-  
सहित आगध्या भया नीचगुण आचरणमें प्रचेतपना उपजायै तैसे ।

भावार्थ—श्रोतदिक परावतके उदयते जो तीक्ष्णपरिणाम होय  
साकरि जाँके चारित्रमोहका आसय होयहै तैसे जानना ॥ ४६ ॥

षट्कारमग्रं यसंदर्भदर्पः  
गंद्राकारं स्तीव्रकोपादिजन्मैः ।

अश्रावासे प्राप्यते जीवितव्यं

किंवा दुःखं दीयते नापचेष्टः ॥ ४७ ॥

अर्थ—दहन आरंभ कटिये हिसाकर्म, अर यह मेरी वस्तु, मैं याका  
रामी हूँ ऐसा आभीष भाव सो परिग्रह, इनकी ऐसा रचनाके मदनि करि  
सथा भयानक है आकार जिनके ऐसे तीक्ष्णश्रोतदिके उपजावनेवाले भावनि  
करि नापनिवासविषे जीवितपना पाइयहै, अथवा पापरूप घेष्टानिकरि  
कहा दुःख न दीजिए है ! दीजिये ही है ।



पिनपमंपन्नना कहिये, बहुरि अहिगादिक मग अर गिनके पदनेके अ  
 जे जे क्रोधादिक कागपनके त्यागकरा जीउ गिनविषे निरोप प्रवृत्ति सं  
 शीलप्रनेश्वननीचार कहिये, बहुरि ज्ञानभावनाविषे निय उरगुण  
 सो अभीक्षण ज्ञानोपयोग कहिये, बहुरि मंसागके दुःगानिने भयनकर  
 सो संवेग कहिये, बहुरि आपके वा परके अर्थ देना सो त्याग है  
 बहुरि नाही छिगाया है धीर्य जानै ऐसे पुण्यके मार्गने अग्रिन्द कर  
 क्लेश करणा सो तप है, बहुरि जेमें भाडागागमें अग्नि उठो सने तब  
 शमन करिए तैमें अनेक प्रतशील करि महिन मुनिनके मनूके तब  
 कहूँते विप्र उठने मते ताका उपशान करि तपकी स्थिरता करिये सं  
 साधुसमाधि कहिए, बहुरि गुणवानके दुःग आए मने निरोपविषे  
 करि दुःख दूर करणा सो वैयावृत्त्य कहिये, बहुरि अरहतनिविषे त  
 आचार्यनिविषे तथा बहृश्रुतनिविषे तथा प्रवचन जो गिनवागी तवि  
 भावकी शुद्धतासहित जो अनुराग सो अहंभक्ति आचार्यभक्ति बहुश्रु  
 भक्ति प्रवचनभक्ति कहिये, बहुरि मामाधिकदि छह आवश्यक क्रिय  
 निका यथाकाल करणा सो आवश्यकपरिहाणि कहिए, बहुरि ज्ञान ता  
 जिनपूजाकी विधि इनकरि धर्मका प्रकाशना सो मार्गप्रभावना कहिए,  
 बहुरि वच्छाविषे गौकी ज्यो साधुर्मा विषे जो प्रीति सो प्रवचनवासन  
 कहिए । ऐसैं यह षोडशकारण सम्यग्दर्शनसहित तीर्थकरनामकनके  
 आस्ववके कारण जानना ॥ ५१ ॥

नीचैर्गोत्रं स्वप्रशंसान्यनिन्दे

कुर्वाणोऽसत्सद्गुणोच्छादने च ।

प्राप्तोत्पंगी प्रार्थनीयं महिष्ठै—

रुचैर्गोत्रं मंभु तद्वैपरीत्ये ॥ ५२ ॥

अर्थ—आपकी प्रशंसा वा अन्यकी निंदा अर आपके न होते गुण  
 प्रगट करणा अर दूसरेके होते गुण ढांकना इनकी करता संत

नीलकण्ठो प्राग गोप ई, एरि गिनके विपरीतपना होगमते बडे पुण्यनिवृत्ति प्राप्तेन योग्य एव गोत्रक दीपती पारे है ॥ ५२ ॥

दानं ह्यभो वीर्यभोगोपभोगा

नो लभ्यन्ते प्राणिना विप्रभाजा ।

विज्ञापेत्वं विप्रमतेन विप्रो

नो कर्त्तव्यः पंडितेन त्रिधाऽपि ॥ ५३ ॥

अर्थ—विप्र जो अंतर्गत ताका करनेवाला जो जीव ताकीरि दान लाभ भोग उपभोग वीर्य न पाएहै ऐसा जानि विप्रने भयभीत पंडितजनकी मनरचनकायने विप्र करना योग्य नाही ।

भाषार्थ—परके दानादिकमें विप्र करनेने अंतरायका आसव होयहै ॥ ५३ ॥

इहा फोऊ कहै ये ज्ञानावरणादिकके नियमरूप कारण कहे ते सबही कर्मनके आश्रयके कारण होयहै । जाका जाते आगमनविषे ज्ञानावरणका बंध होता युगपत औरनका भी बंध कहिएहै ताते आसवके नियमका अभाव आया ताकी कहिएहै—यद्यपि पूर्वोक्त कारणनकीरि ज्ञानावरणादिक सर्व कर्मनिका प्रदेहादिवंधका नियम नाही तथापि अनुभागविरोधके नियमके हेतुपने करि न्यारे न्यारे कारण कहिएहै ऐसा जानना ।

आगे बंधतत्वका वर्णन करैहै,—

ये गृह्यन्ते पुद्गलाः कर्मयोग्याः

त्रोधाद्यादृषधेतनैरेष बंधः ।

दिध्यादृष्टिर्निवृत्तत्वं कपायो

योगो ह्येयस्त्वस्य बंधस्य हेतुः ॥ ५४ ॥

अर्थ—क्रोधादिक कषायनिकरि सहित जीवनिरुि कर्म के पुद्गल ग्रहण करियेहै सो यह बंध है, बहुरि ता बंधके बीजभूत का भिष्यादर्शन, अघिरत, कषाय, योग जानना योग्य है ।

भावार्थ—जैसे भूतसहित जीव भुक्तद्वार करि आहार ग्रहण करे तैसे मोहसहित जीव योगद्वारतें कामाण वर्गणा ग्रहण करे सो कथा ॥ ५४ ॥

बंधः स मतः प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदेन ।

पटुमिधतुःप्रकारो येन भवे भ्रम्यते जीवः ॥ ५५ ॥

अर्थ—प्रकृति स्थिति अनुभाग प्रदेश इन भेदनिकरि सो प्रवीण पुरुषनिर्णे च्यार प्रकार कथाहै, जिस बंध करि जीव संसार भ्रमाइए है ॥ ५५ ॥

स्वभावः प्रकृतिः प्रोक्ता स्थितिः कालावधारणम् ।

अनुभागो विपाकस्तु प्रदेशोऽशप्रकल्पनम् ॥ ५६ ॥

अर्थ—स्वभाव तो प्रकृति कहीहै जैसे निबका कटुक स्वभा मिथ्रीका मिष्टस्वभावहै ऐसे ज्ञानावरणादिकनिका ज्ञानघातनादि स्वभावहै सो तो प्रकृतिबंध जानना, बहुरि काल जो अवधारण मर्मा सो स्थिति बंध है,

भावार्थ—तिस स्वभावका न दृष्टना सो स्थिति है, बहुरि विप जो रस सो अनुभागबंध है,

भावार्थ—तिस प्रकृतिके रसविशेषका नाम अनुभवहै . जैसे भ गौ महिषी आदिके दुग्धनिके तीव्र मंदादि भावकरि विशेषताहै ते बहु अंश जे परमाणु तिनकी सख्याका कल्पना सो प्रदेशबंध है,

भाषार्थ—अपन्य ही अभव्यनिते अनंतगुणा लच्छेद सिद्धनके अनंत-  
सर्वे भाग जो समयप्रवृत्त ताका ज्ञानावरणादिरूप यथायोग्य हीनाधिक  
परमापूनका बटवारा हो जाय सो प्रदेशबंध हे ऐसा जानना ॥ ५६ ॥

करोति योगात्प्रकृतिप्रदेशा कषायतः स्थित्यनुभागसंज्ञा ।

स्थितिं न बंधः कुरुते कषाये क्षीणे प्रशांति स ततोऽस्ति हेयः । ५७ ॥

अर्थ—योगते प्रकृति अर प्रदेशबंधको कहै, बहुरि स्थिति अर अनु-  
भागनामा बंधको कषायते करै, बहुरि कषायको क्षय होतसते वा  
उपशम होतसते बंध स्थितिको न करै ताते सो कषाय त्यागना  
योग्य है ।

भाषार्थ—कषायविना केषळ योगनते बंध होयहै सो एक साता-  
वेदनीयका स्थितिबंधहै सो अनंतर समयमें गिर जायहै सो सत्तारका कारण  
नाही, बहुरि कषायसहितके बंध होयहै सो स्थिति अनुभाग सहित  
होयहै सो संसारका कारणहै । ताते कषाय त्यागना योग्यहै ऐसा  
जानना ॥ ५७ ॥

स्वीकरोति स कषायमानसो भुञ्चते च विकषायमानसः ।

कर्म जंतुरिति सूचितो विधिबंधमोक्षविषयो विबंधनैः ॥ ५८ ॥

अर्थ—कषायसहितहै मन जाका ऐसा पुण्य है सो कर्मको भंगी-  
कार करै, बहुरि कषायरहितहै मन जाका ऐसा जीवहै सो कर्मको  
त्यागै है; ऐसे बंधमोक्षकी विधि बंधनरहित जे सर्वज्ञदेव तिनकारे कहीहै ।

भाषार्थ—रागभावते सो बंधहै अर वीतराग भावते मोक्षहै ऐसा  
सर्वज्ञका उपदेशहै ताते राग त्यागि वीतराग होना योग्यहै ॥ ५८ ॥

ऐसे बंधतत्वका वर्णन किया; आगे संवरतत्वका वर्णन करैहै:—

आस्रवस्य निरोधो यः संवरः स निगद्यते ।

भाषद्रव्यविकल्पेन द्विविधः कृतसंवरैः ॥ ५९ ॥

अर्थ—करघा है संवर जिनने ऐसे मुनीश्वरनिकरि आनन्द  
रोकना सो संवर द्रव्य भावके भेदकरि दोषप्रकार कहिएहै ॥ ५९ ॥

क्रोधलोभभयमोहरोधनं भावसंवरमुद्यति देहिनाम् ।  
भाविकल्मषनिवेशरोधनं द्रव्यसंवरमपास्तकल्मषाः ॥ ६० ॥

अर्थ—नाश कियेहै पाप जिनने ऐसे आचार्य हैं ते क्रोधलोभ भय  
मोह इनिका जो रोकना ताहि भाव संवर कहैहैं, बहुरि आगामी कर्मे  
प्रवेशका रोकना ताहि द्रव्यसंवर कहैहैं ।

भावार्थ—गगादिभाव रोकना सो द्रव्यसंवर कहिए ऐसा जन्म  
अर ताके निमित्त करि बद्ध जे कर्मपुद्गल तिनका रोकना सो द्रव्यसंवर  
कहिए । ऐसा जानना ॥ ६० ॥

धार्मिकः समितो गुप्तो विनिर्जितपरीपहः ।

अनुप्रेक्षापरः कर्म संशृणोति ससंपन्नः ॥ ६१ ॥

अर्थ—धर्ममहित अर समितिमत्त अर गुप्तिसहित अर जीने  
हैं परीपह जाने, ऐसा बहुरि अनुप्रेक्षामे तप्य अर सधमसहित ऐसा  
जावैहै सो कर्मको मर्यादें—रोकैहै ।

भावार्थ—कदापनिके अभावस्वरूप उत्तमज्ञमादि दण धर्म अर प्रणव-  
रहित प्रवृत्तिस्वरूप पंच समिति अर भेदे प्रकार मनवचन कायके योग-  
निका निष्कल्प तीन गुप्त, अर मार्गने न छुटनेके अर्थ तथा निर्-  
राके अर्थ महने योग्य शुभादि कार्य परीपह, बहुरि अभावका कारण  
चिन्तनस्वरूप अनियादि शास्त्रानुप्रेक्षा, बहुरि प्राणीनिकी हिंसा अर  
उद्विग्निके विषय इनिके त्यागस्वरूप सामादिकादि पंचप्रकार मेषन के  
भाव मर्यादें विनोपे जाने इनिकरि रागादि आग्रह रोकैहै ऐसा  
जानना ॥ ६१ ॥



भावार्थ—सविपाक निर्जरा तौ अपनी स्थिति पूरी करि समयप्रस-  
न्नमात्र कर्म सबहीके खिरैहैं ताते साधारणहै अर ताके उदयते जीवके  
राग द्वेष होयहै ताकरि आगामी कर्मबंध होयहै । अर जो समयप्रसन्न  
दिकके प्रयोग करि बिना स्थिति पूरी भए हीं अनेक समयप्रसन्न के  
काठ खिरै सो अविपाकनिर्जरा है, इहां जीवके रागादिकके अभाते  
आगामी कर्म न बंधैहै ताते मोक्षहीका करनेवालीहै ऐसा जानना ॥६५॥

वितप्यमानस्तपसा शरीरी

पुराकृतानामुपयाति शुद्धिम् ।

न ध्मायमानः कनकोपलः किं

सप्तार्चिषा शुद्ध्यति कश्मलेभ्यः ॥ ६६ ॥

अर्थ—तप करि तमायमान जीवहै सो पूर्वकृत कर्मनकी शुद्धि-  
ताकी प्राप्ति होयहै, जैसे अग्नि करि घम्या भया सुवर्णका पापाग सो  
मटनिने कहा शुद्ध न होयहै ! होय हीहै ॥ ६६ ॥

घातिकर्म विनिहत्य केवलं

स्वीकरोति भुवनावभामकम् ।

चेतनः सकललोकमम्मते

ध्वान्तराशिमिव भास्करो दिनम् ॥ ६७ ॥

अर्थ—चेतन आमाहै सो घातिकर्मनिकी नाराकरि लोकका प्रती-  
शक अर ममत्त लोक करि मान्या ऐसा जो केवलज्ञान, ताहि अंगीकार  
करै, जैसे अंधकारके समूहकी नाराकरि सूर्य दिनकी अंगीकार करै  
तेने ॥ ६७ ॥

निमूलकापं म निवृष्य कल्मषं

प्रयाति निर्दिष्टं कृत्स्नकर्मनिर्जरः ।

विनिर्मलध्यानसमृद्धपावके

निवेश्य दग्ध्वाऽखिलबंधकारणम् ॥ ६८ ॥

अर्थ—विशेषकरि निर्मल ध्यान जो द्युग्धध्यान सो ही भया  
वृद्धिको प्राप्त अग्नि, ताविषै प्रवेश कराव समस्त बंधके कारणनिकी  
जलायकरि करीहै कर्मकी निर्जरा जानै ऐसा जो आत्मा सो कल्प  
ज्यो समस्त कर्म ताहि निर्मूल जैसे होयतैसे उखाडकरि मोक्ष अवस्थाकी  
प्राप्त होयहै ॥ ६८ ॥

निसर्गतो गच्छति लोकमस्तकं

कर्मक्षयानन्तरमेव चेतनः ।

धर्मास्तिकायेन समीरितोऽनघं

समीरणेनैव रजधयः क्षणात् ॥ ६९ ॥

अर्थ—कर्मक्षयके अनंतरही धर्मास्तिकाय करि प्रेरणा आत्मा क्षण-  
मात्रमें निर्मल होय लोकके मस्तक परि गमन करैहै, जैसे पवन करि  
उड़ाया रजका समूह ऊपरकी जाय तैसे ।

भावार्थ—आत्माका ऊर्ध्वगमनस्वभावहै, कर्म नष्ट भये निजस्वभाव  
प्रगटैहै ता करि धर्मास्तिकायके सहायतै लोकके शिखर ताई धर्मास्ति-  
काय है तहां ताई जाय तिष्ठैहै ताके प्रभावतै न जायहै । इहा धर्मा-  
स्तिकाय करि प्रेरणा गमनका सहकारीपना ही जानना जातै धर्मद्रव्य  
खिद्रू जचरीसौ न चलावैहै स्वयमेव चढतेनकी सहकारी कारणहै ऐसा  
जानना ॥ ६९ ॥

निरस्तदेहो गुरुदुःखपीडितां

विलोकमानो निखिलां जगत्त्रयीम् ।

स भाविनं तिष्ठति कालमुज्ज्वली

निराकुलानंतसुखाब्धिमध्येः ॥ ७० ॥



अर्थ—त्याग क्रियाहै शरीर जानै ऐसा सो सिद्धात्मा महादुःख  
करि पीडित जो जगत्की त्रयी कहिये तीन लोक ताहि विशेषता  
संता आगामी काल तिष्ठै, कैसा है सो आत्मा, द्रव्य भावकर्मरहित  
उच्छ्वलै अर निराकुल अनंत मुग्समुद्रके मय्य प्राप्त है ॥ ७० ॥

यदस्ति माख्यं भुवनत्रये परं

मुग्दनाग्दरनेद्रमोगिनाम् ।

अनंतमागोऽपि न तन्निगद्यते

निरेनमः सिद्धिमुग्सस्य मृरिभिः ॥ ७१ ॥

अर्थ—तीन लोकविषै मुग्द नाग्दर नेद्र अर अन्य जे विषयभोग  
सहित है निरका जो उच्छ्वलै सो मुग्स कर्मरहित जो सिद्धात्मा  
ताके मुक्तिमुखके अनंतवै भाग भी आचार्यनिकरि नहीं कहियैहै ।

भावार्थ—तीन लोकके भोगनिका मुख एकठा करिये सो सिद्ध-  
मुखके अनंतवै भाग नांही ऐसा जानना, भोगनिका मुख तौ आकुल-  
तामयहै अर सिद्धमुखहै सो निराकुलहै तातै इन मुग्सनिकी एकजाति  
नाहीं, परंतु निराकुल मुख तौ संसारकी दृष्टिमें आवै नाहीं अर ताके  
सिद्धपद उच्छ्वलै बताया जाइए तातै उपचारतै भोगनका मुख सिद्धनका-  
मुखतै अनंतवै भागभी नाहीं ऐसा जानना ॥ ७१ ॥

ऐसै मोक्षतत्वका वर्णन किया । इहा प्रयोजन ऐसाहै कि चैतन्य-  
लक्षण आपकी जानि चेतनारहित ममस्त देहादि परद्रव्यनिमें अहंकार  
ममकार त्यागना योग्यहै, अर रागादिक आस्त्रवहै तिनतै दुःख अवस्था-  
स्वरूप बंध होयहै सो तिनकी अहित जानि जैसे आस्त्र बंध न होय  
तैसे प्रवर्तना योग्यहै, अर बंराग्यभावरूप संवहै तापूर्वक कर्मनका  
एकदेश नाश होना सो निर्जरा है इनकी हितरूप जानि सवर निर्ज-  
राके कारणनिमें प्रवृत्ति करना योग्यहै, अर सकल कर्मनितै रहित

दानान्तर्यवर्णितः ॥ ७० ॥  
 तान्तर्यवर्णितः ॥ ७० ॥  
 तान्तर्यवर्णितः ॥ ७० ॥  
 तान्तर्यवर्णितः ॥ ७० ॥

इमे पदार्थाः कथिता महर्षिभिः-

यथासुधं गम्यन्ति चिन्ताः हृदि ।

विनिर्मला मन्दमणि वितन्वने

जिनोपदेशा इव पापहारिणीं ॥ ७२ ॥

अर्थ—महाकर्तृनवरि कहे जे ताम पदार्थ मे यथासुध हृदयविषे प्रवेशकूप विसे संते निर्मल पापकी हरनेवाली मणि-प्रतीतिकी विस्तारिते जेने जिनोपदेश उपदेश मणि विस्तारिते ।

भावार्थ—सर्वार्थधदानात्पुण सम्बन्धदर्शनयो बुद्धिता इव मन्त्रनिके विशेष जाने अधिक अधिक होवई ऐसा जानना ॥ ७२ ॥

आगे सम्बन्धके निःसंकितादि अष्ट अंगनिष्ठा वर्णन करेई;—

विरागिणा सर्वपदार्थवेदिना

जिनेजिनैते कथिता न चेति यः ।

करोति शंकां न कदापि मानसे

निःशंकितोऽर्सा गदितो महामनाः ॥ ७३ ॥

अर्थ—वीरताग अर सर्वपदार्थनिका ज्ञाता जिनेद्रदेषता करि वे सर्व पदार्थ कहेई ते है ! वा नाहीई ! ऐसी शकाकी जो कदाचित् मन्त्रविषे नहीं करे सो यह महामुनि ( महामना ) निःशंकित कर्ताई ।

भावार्थ—जिनवचनमें वा आत्मस्वरूपमें संदेह न होना सो निःशंकित अंगई ऐसा जानना ॥ ७३ ॥

विधीयमानाः शुभशीलसंयमाः

धियं ममेमे वितरंतु चिन्तिताम् ।

करोति संघे बहुघोपसर्गं-  
 रूपद्रुते धर्मधियाऽनपेक्षः ।  
 चतुर्विधे व्यापृतिमुज्ज्वलां यो  
 वात्सल्यकारी स मतः सुदृष्टिः ॥ ७९ ॥

अर्थ—मुनि आर्षिका श्रावक श्राविका ऐसे चार प्रकार संघकी बहुत प्रकार उपसर्गकरि पीडित भए संत जो बांछारहित धर्मबुद्धि करि निर्मल वैयाट्टरयाचार करेहं सो सम्यग्दृष्टी वात्सल्य करणेवाला कर्हाई ।

भाषार्थ—जिनधर्मानविधि या आत्मस्वरूपविधि अति प्रीति करणा सो वात्सल्य अंग जानना ॥ ७९ ॥

निरस्तदोषे जिननाथशासने  
 प्रभावनां यो विदधाति शक्तितः ।  
 तपोदयाज्ञानमहोत्सवादिभिः  
 प्रभावकोऽसौ गदितः सुदर्शनः ॥ ८० ॥

अर्थ—दूरि भयेहं गमादिक दोष जाके ऐसा जो जिननाथका शासन तारिषे जो शक्तिगान्ध तप दया ज्ञान महोत्सव इत्यादिकनि करि प्रभावनाकी करेहै उचोत करेहै सो यहू सम्यग्दृष्टी प्रभावना कर-नेवाला कर्हाई । सर्वे जीव माने कि जिनमत भग्यहै तामे ऐसे तपध-रणादि पाइएहै, ऐसे नवधरणादिक करि जिनमताका उचोत करणा तथा निश्चयने आ-मातृ, मनत्रयने आभूषित करणा सो प्रभावना अंग जानना ॥ ८० ॥

शुणैरमीभिः शुभदृष्टिकंठिकां  
 दधाति चर्द्धा इदि योऽष्टमिः सदा ।  
 करोति वश्याः मकन्याः स संपदो  
 षड्वरिवेष्टाः सुमगो वरुणपदः ॥ ८१ ॥

अर्थ—जो पुण्य इन निःशक्तिादि अद्युण कहिए सूत्रनि करि बंधी सम्यग्दृष्टि रूप माताको हृदयविधि सदा धारं है सो समस्त सेपदानको बरा करंहे जैसे भवे बचननिका बोलनेवाला सुंदर पुण्य वांछित कपुनिने बरा धरं तैसे ।

भाषार्थ—जैसे माता परे सुंदर पुण्य भलेबचननिका बोलनेवाला स्त्रीनिकी बरा करंहे तैसे निःशक्तिादि सूत्रनि करि बंधी सम्यग्दृष्टि रूप माता पहरनेवाला जीव इत्यादिसंपदाकी बरा करंहे ऐसा जानना ॥ ८१ ॥

गुदर्शनं यस्य स ना सुमाजनः

गुदर्शनं यस्य स सिद्धिभाजनः ।

गुदर्शनं यस्य स धीविभूषितः

गुदर्शनं यस्य स शीलभूषितः ॥८२ ॥

अर्थ—जाके सम्यग्दर्शन है सो पुण्य भला पात्र है, अर जाके सम्यग्दर्शन है सो सिद्धिका भजनेवालाहै, अर जाके सम्यग्दर्शन है सो शीलकारि भूषित है ॥ ८२ ॥

नो जायेते पात्रने ज्ञानवृत्ते

सम्यक्त्वेन प्राणिनो वर्जितस्य ।

शर्माधारे कोपराज्ये न दृष्टे

नूनं कापि न्यायहीनस्य राज्ञः ॥ ८३ ॥

अर्थ—जैसे सुखके आधार जे भंडार अर राज्य से न्यायरहित राजाके निधयकारि कहुं भी न देखिए तैसे सम्यक्त्व करि वर्जित जीवके पवित्र ज्ञान अर चारित्र न होयहै ।

भाषार्थ—सम्यक्त्व बिना ज्ञान चारित्र सम्यक्त्वनेकी न पावे ताते सम्यक्त्व सबनिमें प्रधान है ऐसा जानना ॥ ८३ ॥

सुदर्शनेनेह विना तपस्या-

मिच्छन्ति ये सिद्धिकरीं विमूढाः ।

कांक्षन्ति बीजेन विनापि मन्ये

कृषिं समृद्धां फलशालिनीं ते ॥ ८४ ॥

अर्थ—जो लोग इहां सम्यग्दर्शनविना सिद्धि करनेवाली तपस्या कू बांछें हैं सौ मैं मानूं हूं कि ते पुरुष बीजविना फल करि शोभित वृद्धिकी प्राप्त ऐसी खेतीकू चाहें हैं ।

भावार्थ—सम्यग्दर्शनविना अनशनादिक्रिया राका विना शून्यवत्, शून्यही है ताते सम्यग्दर्शनसहित क्रिया करणी योग्यहै ॥ ८४ ॥

लोकालोकविलोकिनीमकलिलां गीर्वाणवर्माचितां

दत्ते केवलसंपदं शमवतामानीय या लीलया ।

सम्यग्दृष्टिरपास्तदोषनिवहा यस्यास्ति सा निश्चला,

तेन प्रापि न किं मुखं बुधजनैरभ्यर्च्यमानं चिरम् ॥ ८५ ॥

अर्थ—नारा भये हैं शंकादिक दोषनिके समूह जाके ऐसी निर्दोष निश्चल सम्यग्दृष्टी जाके हैं ता पुरुष करि पंडित जननि करि बहुत काल ताई प्रार्थना किया गया ऐसा जो मुख सां कहा न पाया ? अपि तु पायाही, कंसी है सम्यग्दृष्टी जो छीलामात्र करि मुनिराजनीकी केवल ज्ञानकी जो संपदा ताहि ल्याय करि देय है, कंसी है केवलज्ञान संपदा लोकालोकाकी देखनेवाली अर पापमउ रहित अर देवनिके समूहनि करि शूत्रित ऐसी है ।

भावार्थ—सम्यक्त्व भए केवलज्ञानकी प्राप्ति शीघ्रही होय है ऐसा जनाया है ॥ ८५ ॥

सम्यक्त्वोपमभूरगोऽमितगतिर्दक्षे व्रतं यस्मिन्ना

सुक्त्वा भोगपरंपरामनुपमां गच्छत्यर्मा निर्वृतिम् ।

सर्वापापनिद्रूपिणीमपमलां चिंतामणिं सेवते

यः पुण्याभरणार्चितः स लभते पूर्तां न फां संपदम् ॥८६॥

अर्थ—सम्यक्त्व है उत्तम आभूषण जाके अर अमितगति कहिए न जानी जाय है महिमा जाकी ऐसा जो जीव मन बचन काम करि मतकों धारण करैहै सो उपमारहित भोगनिकी परंपराकों भोग करि मोक्षकों प्राप्त होय है, जो पुण्य आभरण करि अर्चित पुण्योदयसहित पुण्य सर्व दरिद्रकी नाश करनेवाली चिंतामणिपी सेवैहै सो कौन पवित्र संपदाकों न पावैहै ? पावैहीहै ॥ ८६ ॥

ऐसें सम्यग्दर्शनके विषय सत्तत्त्व सम्यक्त्वके अंगका इति साईं निरूपण किया ।

उप्यय ।

वीतराग सर्वज्ञ फहे जीवादि तत्त्व इम

करि प्रतीति यमु अंगसहित अनि होय अचल जिम ।

यह कारण व्यवहार कार्य आत्म तस्मि लीजे

पठ द्रव्यनिर्ते भिन्न नियति गन्धक रम पीजे ॥

इस विना विकल अवगम परण अंकविना विदी यथा ।

सा सहित सार सुख भोग फिर होय अमितगति सर्वथा ॥

इत्युपासकान्तारे तृतीयः परिच्छेदः ।

ऐसें अमितगतिभाष्यदेहत आदत्तःपरविषे तृतीय

परिच्छेद समाप्त भय ।

## अथ चतुर्थः परिच्छेदः ।

आगे अन्यमतिके एकांनपक्षका निराकरण करि जीवादिपक्षका वर्णन हेतुवादसहित करिगे । तहां हेतुके स्वरूप जाननेकू प्रथम प्रमाणका वर्णन संक्षेपमात्र करिगैहै । तहां आप वा अद्वैत अर्थ कहिए अनिश्चित पदार्थ इनिका निश्चयस्वरूप जो सम्यक् ज्ञान सो प्रमाणहै, सो प्रत्यक्ष परोक्षके भेदकरि दोय प्रकार है । सामान्य विशेषनि सहित वस्तुका स्पष्ट जानना सो प्रत्यक्षका लक्षणहै, अर सामान्य विशेषसहित वस्तुको अस्पष्ट व्यवधानसहित जानना परोक्षका लक्षणहै । तहां सांख्य-वहारिक प्रत्यक्ष अर पारमार्थिक प्रत्यक्ष ऐसैं प्रत्यक्ष दोय प्रकार है, तहां इंद्रिय मनसैं उत्पन्न भए तीनसैं छतीस भेदरूप मतिज्ञान सांख्य-वहारिक प्रत्यक्षहै जातैं इनमें दोय प्रकार विशदता पाइगैहै, अर पारमार्थिकप्रत्यक्षमें अवधि, मनः पर्यय देशप्रत्यक्षहैं जातैं इनमें एकदेश विशदता पाइगैहै अर केवलज्ञान सकल प्रत्यक्षहै जातैं सर्वको विशद जानैहै । बहुरि परोक्षप्रमाणके भेद पांचहैं स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, आगम । तहा पूवें अनुभवमें आया वस्तुका स्मरण हो यदि आवना सो स्मृति है; अर दोऊनितैं एकपना अर सदृशपना आदि कोऊ रूपज्ञान होना सो प्रत्यभिज्ञानहै; बहुरि साध्य साधनकी व्याप्ति जो अविनाभाव ताकी जातैं सो तर्क है; बहुरि साधनतैं साध्यपदार्थका ज्ञानहोना सो अनुमानहै, ताके भेद स्वार्थानुमान, परार्थानुमान; तहां साधनतैं साध्यको आपही निश्चयकरि जानै सो स्वार्थानुमान है, बहुरि परक उपदेशतैं निश्चयकरि जानै सो परार्थानुमानहै । ताके पांच अवय-

वदे; प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, निगमन, यह सब अत्र साधनका आश्रय होकर। पक्ष कहे। यह पक्ष कथनकी प्रतीति कहिए। तदा साध्यका अर्थ, उदाहरण अज्ञानका ऐम तात्पर्य है। अत्र साध्यका आश्रय उदाहरणके पक्षके समान है। वदना यत्ने अधिनानात्र प्रामि जाये, तदा अत्र अज्ञानका उदाहरण तदा साका कथनकी हेतु कहिए, वदति पक्ष समान। उदाहरण अत्र, कदापि हेतु ताकू उदाहरण कहिए, ताका कथन। उदाहरणके पक्षके समान कथनकी कहिए विपरिणत, अर्थात्के कथन, वदना कथनकी अर्थ। अत्र पक्षकी समान कथन कह मो उपनयन, वदना उदाहरण पक्षके नियम कथि कहना निगमनके। अत्र उदाहरणके अर्थ— यह पक्ष अभिमान् है यह तो प्रतिज्ञाके जाये यह प्रमाणके यह पक्ष कथनके समान नाही तो अभिमान् नाही जेने जाका निगमन, यह अतिरिक्त उदाहरण, ऐसा कथन यह उदाहरणके वदति यह पक्षकी अज्ञानी अनुमानके यह उपनयन वदति ताके यह अभिमान्के वदति निगमनके। ऐसी पक्ष प्रयोगका परार्थानुमानके तो अयुक्तके अर्थ अत्र अयुक्तके अर्थ प्रतिज्ञा अत्र हेतु ऐसे ही अवयवस्वरूप ही है। वदति आम जो सर्वत्र ताके कथनके चतुर्थ निधय कथना मो आश्रयप्रमाण है। ऐसे प्रमाणकी संख्या कही। वदति प्रमाणका विषय सामान्य विशेषस्वरूप पदार्थ है। वदति वीतरागता वा प्रहणव्याग बुद्धि वा अपने विषयमें अज्ञानका नाश यह कथयित् अभिन्न कथयित् भिन्न प्रमाणफल है।

ऐसे प्रमाणका संश्लेष स्वल्प कदा, विशेष आश्रय समाधान खडन मंडनादि प्रमाणनिर्णय परीक्षामुखादि प्रधानित्ते जानना, यहाँ हेतु आदि आरोगे तिनिकी कथार्थ जान लेना।

आगे चार्वाक मत वाडे अपना पक्ष सापेक्ष है—



केचिद्दंति नाम्न्यात्मा परलोक्तमोषाः ।  
 तन्नाभावे विनामोऽयं तन्नानां पाप्मे कृतः ॥ १ ॥  
 विद्वे पञ्चोक्तोऽपि नामावे पञ्चोक्तिनः ।  
 यभावे पञ्चोक्तस्य धर्माधर्मकिया वृषा ॥ २ ॥  
 एत लोक्तयुगं दिव्या ये तपस्यंति दुर्षिषाः ।  
 दिव्या इत्यगते पापं ते विदंति परांगुलिम् ॥ ३ ॥  
 विद्वान् कतिपयं शंकां यथेष्टं भेष्यां जनः ॥  
 वेपथस्य हि नश्यति विद्वे न पुनर्भवः ॥ ४ ॥  
 मान्य शोभ मतिः कायो मृत्या शर्मोद्गीहिकम् ।  
 एते विद्वान् नाप्ये कानि विद्वान् वृषाः ॥ ५ ॥  
 पूर्वव्यंभोविनानेभ्यो नापने संवत्सकः ।  
 विद्वेदकमुदादिः न्यो मत्तशक्तिविष ष्टुदय ॥ ६ ॥  
 सन्नेवपयोमस्वि नृ सांपयोमियम् ।  
 मन्त्र विवायंभापस्य सर्वान्पुपयिषः ॥ ७ ॥

७०- ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १००  
 ७०- ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १००

१०१- १०२ १०३ १०४ १०५ १०६ १०७ १०८ १०९ ११० १११ ११२ ११३ ११४ ११५ ११६ ११७ ११८ ११९ १२० १२१ १२२ १२३ १२४ १२५ १२६ १२७ १२८ १२९ १३०  
 १०१- १०२ १०३ १०४ १०५ १०६ १०७ १०८ १०९ ११० १११ ११२ ११३ ११४ ११५ ११६ ११७ ११८ ११९ १२० १२१ १२२ १२३ १२४ १२५ १२६ १२७ १२८ १२९ १३०

१३१- १३२ १३३ १३४ १३५ १३६ १३७ १३८ १३९ १४० १४१ १४२ १४३ १४४ १४५ १४६ १४७ १४८ १४९ १५० १५१ १५२ १५३ १५४ १५५ १५६ १५७ १५८ १५९ १६०  
 १३१- १३२ १३३ १३४ १३५ १३६ १३७ १३८ १३९ १४० १४१ १४२ १४३ १४४ १४५ १४६ १४७ १४८ १४९ १५० १५१ १५२ १५३ १५४ १५५ १५६ १५७ १५८ १५९ १६०

१६१- १६२ १६३ १६४ १६५ १६६ १६७ १६८ १६९ १७० १७१ १७२ १७३ १७४ १७५ १७६ १७७ १७८ १७९ १८० १८१ १८२ १८३ १८४ १८५ १८६ १८७ १८८ १८९ १९०  
 १६१- १६२ १६३ १६४ १६५ १६६ १६७ १६८ १६९ १७० १७१ १७२ १७३ १७४ १७५ १७६ १७७ १७८ १७९ १८० १८१ १८२ १८३ १८४ १८५ १८६ १८७ १८८ १८९ १९०

इस लोकके सुखकी छोड़ि अन्य लोकविषे बुद्धि करणी योग्य नाही जातै पंडित हैं ते प्रत्यक्षकी छोडकरि अप्रत्यक्ष विषे बुद्धि न करैहैं ॥ ५ ॥

जैसे पांठी जल गुड इत्यादिकतै प्रगटपने मद्दशक्ति उपजै है तेने पृथ्वी जल अग्नि पवन इनितै चैतन्य जीव उपजैहै ॥ ६ ॥

जन्मके अर मरणके पहलै अर पीउ जीव सदा नहींहैं, जाते विचारते भए जीवकी सर्वथा अनुपपत्ति है ॥ ७ ॥

नाम्निक कहैहैं कि जैसे चून गुड आदितै मद्दशक्ति उपजैहै तैसे पृथ्वी आदितै चैतना उपजैहै । अनादिनिधन जीव नाही ताका पर-लोक नाही तातै पापकी शंका छोडि यथेष्ट विषयनिमे प्रवर्त्ता । ऐसी स्वच्छंद प्रवृत्ति पोरी । अत्र आचार्य ताके बचनका रंजन करै,—

परात्मचेरिणां नैतस्मान्निकानां कदाचन ।

जायते यचनं तथ्य विचारानुपपत्तितः ॥ ८ ॥

अर्थ—यह परके वा आपके बैरी जे नाम्निक तिनका पूरे कदा जो यह बचन सो कदाचिर् सांचा न होवहै, जातै विचारविषे अनुपपत्ति है ॥ ८ ॥

भावार्थ—पूरे कदा नाम्निकका बचन विचार किये छूटा भासैहै । आगे जीवका अस्तित्व साधैहै,—

विद्यते सर्वथा जीवः म्यसंवेदनगोचरः ।

सर्वेषां प्राणिनां तत्र साधकानुपपत्तितः ॥ ९ ॥

अर्थ—संवेदनके गोचर कहिए जाननेवे आवे ऐसा जीवहै सो सर्वथा विद्यमानहै, जाते तहां सब जीवनिषे साधक प्रमाणबद अनुपपत्ति है ।

केचिद्ददन्ति नास्त्यात्मा परलोकगमोद्यतः ।  
 तस्याभावे विचारोऽर्थं तत्वानां घटते कुतः ॥ १ ॥  
 विद्यते परलोकोऽपि नामावे परलोकिनः ।  
 अभावे परलोकस्य धर्माधर्मक्रिया वृथा ॥ २ ॥  
 इह लोकसुखं हित्वा ये तपस्यन्ति दुर्धियः ।  
 हित्वा हस्तगतं ग्रासं ते लिहन्ति पदांगुलिम् ॥ ३ ॥  
 विहाय कलिलां शंकां यथेष्टं चेष्टतां जनः ॥  
 चेतनस्य हि नष्टस्य विद्यते न पुनर्भवः ॥ ४ ॥  
 नान्यलोके मतिः कार्या मुक्त्वा शम्भैर्हलौकिकम् ।  
 दृष्टं विहाय नादृष्टे कुर्वते धिषणां बुधाः ॥ ५ ॥  
 पृथिव्यंभोग्निवातेभ्यो जायते यंत्रवाहकः ।  
 पिष्टोदकगुडादिभ्यो मदशक्तिरिव स्फुटम् ॥ ६ ॥  
 जन्मपंचत्वयोरस्ति पूर्वापरयोरियम् ।  
 सदा विचार्यमाणस्य सर्वथानुपपत्तितः ॥ ७ ॥

अर्थ—कोई कहें है परलोकका आगम जो जाना ताविपै त  
 ऐसा जो आत्मा सो नाही है, अर ता आत्माके अभाव होतसतै  
 कया जो तत्वनिका विचार सो काहेतै वनै ! ॥ १ ॥

बहुरि परलोकवाले आत्माके अभाव होतसतै परलोकभी ना  
 अर परलोकके अभाव होतसतै धर्म अधर्मकी क्रिया वृथा है ॥ २ ॥

अर इस लोकके मुण्यकी त्याग करि जे दुर्बुद्धी तपस्या करै  
 हस्तमें आण ग्रासकी छोटि अंगुलीकी चाटै ॥ ३ ॥

ताने पापकी शंकाकं छोडकरि मनुष्यहैं ते जैसे होय तैसे  
 करी, नष्ट भया जो चेतन ताका फेर जन्म नाही ॥ ४ ॥

इस लोकके मुखकी छोडि अन्य लोकविषे बुद्धि करणी योग्य नाही जाते पंडित हैं ते प्रत्यक्षकी छोडकरि अप्रत्यक्ष विषे बुद्धि न करेहें ॥ ५ ॥

जैसे पांटी जल गुड इत्यादिकते प्रगटपने मद्दशक्ति उपजे है तैसे पृथ्वी जल अग्नि पवन इतिते चैतन्य जीव उपजेहें ॥ ६ ॥

जन्मके अर मरणके पहले अर पीछे जीव सदा नहींहै, जाते विचारते भर जीवकी सर्वथा अनुपपत्ति है ॥ ७ ॥

नास्तिक करेहें कि जैसे चून गुड आदिते मद्दशक्ति उपजेहें तैसे पृथ्वी आदिते चेतना उपजेहें । अनादिनिधन जीव नाही ताका परलोक नाही ताते पापकी शंका छोडि कथेट विषयनिमें प्रवर्त्ती । ऐसी स्वच्छद प्रकृति पोयी । अब आचार्य ताके वचनका खडन करेहें,—

परात्मवैरिणां नैतन्नास्तिकानां कदाचन ।

जायते वचनं तथ्यं विचारानुपपत्तितः ॥ ८ ॥

अर्थ—यह परके वा आपके वैरी जे नास्तिक तिनका पूरे कदा जो यह वचन सो कदाचिन् साचा न होपहें, जाते विचारविषे अनुपपत्ति है ॥ ८ ॥

भाचार्य—पूरे कदा नास्तिकका वचन विचार किये हुंटा भासेहें ।

आगे जीवका अस्तित्व सारिहें,—

विद्यते सर्वथा जीवः स्वसंवेदनगोचरः ।

सर्वेषां प्राणिनां तत्र बाधकानुपपत्तितः ॥ ९ ॥

अर्थ—स्वसंवेदनके गोचर करिए जाननेमें आवे ऐसा जीवहै सो सर्वथा विद्यमानहै, जाते सहा सर्व जीवनिकी बाधक प्रमाणकी अनुपपत्ति है ।

भावार्थ—स्वसंवेदन विषे कोई प्रकार बाधा नहीं आवैहै ।

आगे ताही अर्थको पुष्ट करैहै,—

शक्यते न निराकर्तुं केनाप्यात्मा कथंचन ।

स्वसंवेदनवेद्यत्वात्सुखदुःखमिव स्फुटम् ॥ १० ॥

अर्थ—कोऊ करि भी आत्माहै सो निराकरण करनेहुं कोई प्रकार समर्थ न हूजिये है, जाते आत्माको स्वसंवेदनकरि प्रगट जाननेसौ योग्यपनाहै, सुखदुःखकी उयो ।

भावार्थ—जैसे सुखदुःख आपकरि जाननेमें आवैहै तैसे आत्मा आपकरि जाननेमें आवैहै ताते अभावरूप नाही ॥ १० ॥

आगे ताही अर्थको पुष्ट करैहै,—

अहं दुःखी सुखी चाहमित्येषः प्रत्ययः स्फुटम् ।

प्राणिनां जायतेऽध्यक्षो निर्वाधो नात्मना विना ॥११॥

अर्थ—मैं सुखाहूं मैं दुःखाहूं ऐसी यह जीवानीके प्रगट बाधा-रहित प्रत्यक्ष प्रतीत है सो आत्मा विना न होयहै ॥ ११ ॥

आगे जैसे आपके शरीरमें आत्माहै तैसे परशरीरमें परके आत्मासौ निद करैहै,—

स्वसंवेदनतः मिद्रे नित्रे वपुषि चेतने ।

शरीरे परकीयेऽपि संमिद्वद्यत्यनुमानतः ॥ १२ ॥

अर्थ—स्वसंवेदनते अपने शरीरमें चेतनकी मिडि होतमें परके शरीरमें अनुमानते संमिद्वद्यत्यनुमानतः ॥ १२ ॥

अगे ता अनुमानसौ दिगारैहै,—

परस्य जायते द्रेदं परकीय इव मयंवा ।

चेतनो ष्टिपूरस्य ध्यायाम्योपलब्धितः ॥ १३ ॥

अर्थ—परके देहविषे चैतन्य निक्षयते बुद्ध होयहे, जाते बुद्धि-पूर्वक व्यापारकी उपलब्धिहै; जैसे अपने देहविषे बुद्धिपूर्वक व्यापार होय तैसे, यह दृष्टांतहै ॥ १३ ॥

जन्मपंचत्ययोरस्ति न पूर्वपरयोरयम् ।

नैषा गीर्षुज्यते तत्र सिद्धन्वादानुमानतः ॥ १४ ॥

अर्थ—बहुरि जन्ममरणके पहले अर पाँछे यह आत्मा नहींहै ऐसी धारणा युक्त नाही जाते तथा अनुमानते सिद्धिपना है ।

भाषार्थ—जन्म मरणके पहले पाँछे आत्मा सिद्धहै ॥ १४ ॥

सोही कहेंहैं,—

चैतन्यमादिमं नूनमन्यचैतन्यपूर्वकम् ।

चैतन्यत्वाद्यथा मध्यमंत्यमन्यस्य कारणम् ॥ १५ ॥

अर्थ—आदिका चैतन्यहै सो निधयकरि अन्यचैतन्यपूर्वकहै, जाते चैतन्यपना है; जैसे अन्यका कारण मध्यका चैतन्य अर अंतका चैतन्यहै तैसे ।

भाषार्थ—जीवकी मनुष्यादि नवीन पर्याय उपजैहै सो जीवद्रव्य भगडा पर्याय छोटकरि नवीन धारण करैहै सर्वथा असत् न उपजैहै, जाते चैतनपना है यह हेतुहै; जैसे मध्यका चैतन्य वा अंतका चैतन्य प्रत्यक्ष अन्य चैतन्यपूर्वकहै तैसे यह दृष्टांतहै । इहां प्रयोजन ऐसाहै जो अगले पर्याय अपेक्षा पहला पर्याय कारणहै अर पहले पर्याय अपेक्षा सोही कार्यरूपहै, अर इन्व्यदृष्टि करि सर्व एकही वस्तुहै न्यारा नाही । ऐसै स्याद्वाद समझे यथार्थ ज्ञान होयहै ॥ १५ ॥

आगे इसही अर्थकी पुष्ट करेंहैं;—

तत्रैव चासरे जातः पूर्वैरेणात्मना विना ।

अशिक्षितः कथं घालो मुखमर्पयति स्तने ॥ १६ ॥

अर्थ—पूर्व आत्मा पिना नवीनही आत्मा होय तो निम्ही दिन विरै भयो जो बाळक सो विना मिराया स्तनविरै मुग कैमै लगवई।

भावार्थ—जो प्रथम आत्मा न होय अर नवीन ही उपज्या होय तो उपज्या संताही वाळक दूध कैमै चूमने लगि जायई तानै मनुष्यादिपर्याय नवीन उपजई जीवद्रव्य तो अनादिनिश्चनहीई ऐसा निश्चय करना ॥ १६ ॥

भूतेभ्योऽचेतनेभ्योऽयं चेतनो जायते कथम् ।

विभिन्नजातितः कार्यं जायमानं न दृश्यते ॥ १७ ॥

अर्थ—अचेतन जे पृथ्वी आदि भूत तिनतै चेतन कैसै उपजई, जातै भिन्न जातितै कार्य उपज्या न देखिएई ।

भावार्थ—जैसे माटातै स्वजातीय घटतौ उपजई परंतु विजातीय जो पट सो उपज्या न देखिएई तैमै अचेतन पृथ्वी आदितै अचेतन शरीरादितौ उपजै परंतु चेतन जीव कैसै उपजै तानै जीवकौ भूत-जनित कहना मिष्याई ॥ १७ ॥

आगै दोय पक्ष वृद्धकरि जीवकै भूतजनितपनकौ निगकरण करैहै;—

प्रत्येकं युगपद्वैभ्यो भूतेभ्यो जायते भवी ।

विकल्पे प्रथमे तस्य तावच्चं केन वार्यते ॥ १८ ॥

विकल्पे सद्वितीयेऽपि कथमेकस्वभावकः ।

भिन्नस्वभावकरैभिर्जन्यते यद् चेतनः ॥ १९ ॥

अर्थ—आचार्य वृद्धै है जीवहै सो पृथ्वी आदि भूतानितै प्रत्येक न्यारे न्यारे उपजई कि युगपत् एकठारी उपजईहै; सो न्यारा न्यारा उपजईहै ऐसा प्रथम विकल्प कहैगा तो तिस जावकै तावन्मात्रपना कौन करि निवारिएई ।

भाष्यं—शुद्धी आदि न्याय आर्षादि, तेषु तेषु नो शुद्धी न  
 आदि अथवा शुद्धि नो, आर्षादि अथवा नो नो नो नो नो नो नो नो  
 नो ॥ १८ ॥

शुद्धि शुद्धि शुद्धि शुद्धि शुद्धि शुद्धि शुद्धि शुद्धि शुद्धि शुद्धि  
 शुद्धि शुद्धि शुद्धि शुद्धि शुद्धि शुद्धि शुद्धि शुद्धि शुद्धि शुद्धि  
 शुद्धि शुद्धि शुद्धि शुद्धि शुद्धि शुद्धि शुद्धि शुद्धि शुद्धि शुद्धि ॥

भाष्यं शुद्धी आदि शुद्धि शुद्धि शुद्धि शुद्धि शुद्धि शुद्धि शुद्धि  
 शुद्धि शुद्धि शुद्धि शुद्धि शुद्धि शुद्धि शुद्धि शुद्धि शुद्धि शुद्धि  
 शुद्धि शुद्धि शुद्धि शुद्धि शुद्धि शुद्धि शुद्धि शुद्धि शुद्धि शुद्धि ॥ १९ ॥  
 शुद्धि शुद्धि शुद्धि शुद्धि शुद्धि शुद्धि शुद्धि शुद्धि शुद्धि शुद्धि ॥

शेनोऽशेनोऽपि भूतेभ्यो न विदध्यते ।

मिथानां मीतिः कादीनां मोयादिभ्योऽपि दर्शनान् ॥ २० ॥

अर्थ—अशेनो जे शुद्धी आदि भूत तिनने शेनो सो नाही  
 शिरोध्या अथवा शिरोध्या, आर्षादि अथवा शुद्धि आदि तिनका जडादि-  
 वी भिन्न दर्शन है ।

भाष्यं—अशेनो जे शुद्धी आदि तिनने शेनोके उपक्रमे विदु  
 शिरोध्या नाही आर्षादि न्याय आर्षादि तिनने मीति आर्षादि न्याय आर्षादि  
 उपक्रमे दर्शन है ॥ २० ॥

तां आवापं पर्वण्यं—

तद्दुक्तं यतो मृत्ता मोयादीनां विलोपयते ।

शुद्धा र्शोऽशुद्धिर्जातिभिः सत्ताः बुतस्मनी ॥ २१ ॥

अर्थ—जो मृत्त वादाकि मुत्ताफलादिक अथवा जडादिक इतिवृत्ति भिन्न  
 जाति सो अशुद्धि, जो मुत्ताफला अथवा जडा इत्यादिकानि वी एक  
 पुद्गलसंज्ञानी जाति दर्शित है इत्यवगणने तिनने भिन्नता काहेयी ।



भावार्थ— मुक्ताफल जडादिक इत्यादिकनिर्णी एक जानि, ताँ पुद्मलतै पुद्मलकाही पर्याय भया किछु जीवनी न उपन्या ताँ तेरा इष्टं विषम है ऐना जानना ॥ २१ ॥

यतः पिष्टोदकादिभ्यो मदशक्तिरचेतना ।

संभूताऽचेतनेभ्योज्जो दृष्टान्तस्ते न चेतने ॥ २२ ॥

अर्थ—जानै अचेतन चून गुड आदितै अचेतन ही मदशक्ति प्रगट होयहै ताँ तेरा यह दृष्टान्त चेतनकै विषै नही लगि सकैहै ॥ २२ ॥

न शरीरात्मनोरक्यं वक्तव्यं तत्त्ववेदिभिः

शरीरे तदवस्थेऽपि जीवस्यानुपलब्धितः ॥ २३ ॥

अर्थ—तन्वकी जाननेवारं पुरपनिकारि शरीर आत्माकूं एक कहना योग्य नाही, जाँ शरीरकी तहां अवस्थित होतै भी वाकी अनुपलब्धिहै अप्राप्तैहै ।

भावार्थ—जीव परलोककूं जायहै तव शरीर इहां रहि जायहै अर जीव न देखिपहै ताँ शरीर जीव एक नाही ऐसा निश्चय करना ॥ २३ ॥

आगै विज्ञानाद्वैतका निषेध करैहै;—

ज्ञानं विहाय नात्मास्ति नेदं वचनमंचितम् ।

ज्ञानस्य क्षणिकत्वेन स्मरणानुपपत्तितः ॥ २४ ॥

अर्थ—ज्ञान विना और आत्मा नाही ऐसा कहना सत्यार्थ नाही, जाँ ज्ञानके क्षणिकपने करि स्मरणकी अनुपपत्तिहै ।

भावार्थ—पर्यायका एकांत पकडि करि विज्ञानाद्वैतवादी कहैहै, निरंश अर क्षणिक एक ज्ञानहीहै या सिवाय और आत्मवस्तु नाही ताँ आचार्यने कया जो ऐसाहै तो “ पूर्वे भवे जान्याथा सो अत्र

जानूँ " ऐसा समझ न करेगा, तबे अनन्तभवेका समुद्रादम्ब  
अन्तरिक्षन आमा कार्यणि जानै न्याम मानना योग्य है ॥ २४ ॥

आमै महादेवकी निर्देशः—

नात्मा सर्वगतो पाप्यस्तन्म्यरूपविचारिभिः ।

शरीरव्यतिरेकेण येनामी दृश्यते न हि ॥ २५ ॥

अर्थ—जिम आमा रूपके विचारने वाले पुस्तनि करि सर्वव्यापी  
आमा बतना योग्य नाही जो कारण करि यहू आमा शरीरते न्यारा  
नही देखिणै ।

भावार्थ—सर्वव्यापी आमा मानैँ सो निष्या है, जौँ शरीरके  
बाहिर आमा न टाँरैँ ॥ २५ ॥

आमै दोय पक्ष पुराणी निर्देश करैँ;—

शरीरतो वहिन्म्य कि ज्ञानं विद्यते न वा ।

विद्यते चेन्मयं तत्र कृत्वाकृत्यं नु पुष्यते ॥ २६ ॥

यदि नास्मि कुतश्चन्य तत्र गचावगम्यते ।

लक्षणेन विना लक्ष्यं न तापि व्यवतिष्ठते ॥ २७ ॥

अर्थ—शरीरके बाहिर जिम आत्माका ज्ञान है कि नाही है, जो  
शरीरके बाहिर ज्ञान है तो तहा करने योग्य न करने योग्य क्यों  
जानिण है ॥ २६ ॥

अर जो शरीरके बाहिर ज्ञान नहीं है तो तहां शरीरके बाहिर  
निस आत्मापी सत्ता फारेतै करिणैँ जाने लक्षण विना लक्ष्य कभी न  
निष्ठैँ ।

भावार्थ—ज्ञान लक्षणहै आत्मा लक्ष्यहै सो जहाँ लक्षण नाही  
तहां लक्ष्यभी नाही, ताते सर्वव्यापी आत्मा कहना निष्यहै ॥ २७ ॥

अर्थ—बहुरि सबनिका एकही आत्माहै ऐसे कहना युक्त नहीं, जातै जन्म मरण मुख दुःख इनि न्यारे न्यारेनिका उपलभहै ।

मर्वेपामेक एवात्मा यृज्यते नेति जल्पितुम् ।

जन्ममृत्युसुखादानां भिन्नानामुपलब्धतः ॥ २८ ॥

अर्थ—बहुरिसबनिका एकही आत्माहै ऐसे कहना युक्त नहीं, जातै जन्म मरण मुख दुःख इनि न्यारे न्यारेनिका उपलभहै ।

भावार्थ—जन्म मरण मुख दुःख इत्यादि सबनिकें न्यारे न्यारे देखिएहै तातें सबनिका एक आत्मा कहना मिथ्याहै ॥ २८ ॥

न वक्तव्योऽणुमात्रोऽयं सर्वैरेनानुभूयते ।

अभीष्टकामिनीस्पर्शं सर्वांगीणः सुखोदयः ॥ २९ ॥

अर्थ—बहुरि यह आत्मा अणुमात्रहै ऐसा कहना योग्य नहीं, जा कारण करि वाञ्छित स्त्रीके स्पर्श विषै सर्वांगतें उपज्या सुखका उदय सबनिकरि अनुभव कीजिणहै ।

भावार्थ—स्त्रीके स्पर्शविषै सुखका उपजना सर्व अंगविषै प्रत्यक्ष देखिएहै तातें अणुमात्र आत्मा कहनाहै सो मिथ्याहै ॥ २९ ॥

समीरणस्वभावोऽयं सुंदरा नेति भागती ।

सुखज्ञानादयो भावाः संति नाचेतने यतः ॥ ३० ॥

अर्थ—बहुरि वह कहहै जो यह सर्वांग मुक्त होनाहै सो पवनका स्वभावहै ताकूं आचार्य कहहै ऐसी वाणी सुंदर नहीं, जातै मुक्त ज्ञान इत्यादि चेतन भावहै ते अचेतन पवनविषै नाहींहैं ॥ ३० ॥

न ज्ञानविक्रलो वाच्यः सर्वथात्मा मनीषिभिः ।

क्रियाणां ज्ञानजन्यानां तत्रामावप्रसंगतः ॥ ३१ ॥

अर्थ—इहोति हानवतिन आसा सुहोति इति मरुता वाना योग्य  
नारी जौ विम आसाइते हान करिन विद्यानिवा अभावका प्रमग  
रहिते ।

भाषार्थ—हानवतिन आसा होय तो हानवतिन विद्यावा अभाव  
कारे हान हानवतिन विद्या आसाइते देखिवाते, ताी हानवतिन  
क्याका वाना निष्कारे ॥ ३१ ॥

प्रधानज्ञानमो ज्ञानी न पाप्यो ज्ञानलालिभिः ।

अन्यज्ञानेन न हन्यो ज्ञानी पापि विलोचने ॥ ३२ ॥

अर्थ—इहोति प्रधान हानवति आसाताते तेमा हानवतिन इति  
बहना योग्य नारी, जौ और वानवतान पर और ज्ञानी बहुभी न  
देखिवाते ॥ ३२ ॥

इति चोदोः—

न शुद्धः सर्वथा जीवो संघाभायप्रसंगतः ।

न हि शुद्धस्य मुक्तस्य वेदने कर्मबंधनम् ॥ ३३ ॥

अर्थ—संघा जीव शुद्ध नही जौ संघके अभावका प्रमग आरहे,  
शुद्ध मुक्त जीवके कर्मबंधन नही देखिवाते ।

भाषार्थ—संघा शुद्ध जीव होवतो केषवा अभाव रहै, पुण्य  
पापकय कर्मबंध बानके होय ! मगादिक भाव बानके होय ! ताते  
संघा जीवको शुद्ध करना निष्कारे ॥ ३३ ॥

प्रधानेन कृते धर्मे मोक्षमार्गी न चेतनः ।

वेगेण विहिते भोगे वृत्तिमार्गी कुतः परः ॥ ३४ ॥

अर्थ—इहोति वर कहै धर्म प्रधान कहे आमागी शुद्ध अफसो-  
हति ताके आचार्य परेते;—प्रधानपरि धर्मको परते सते चेतन मोक्ष-

गामी न होय जानै और करि भोग किए संते और तृप्ति भजनेराग  
कैसे होय । ।

भारार्थ—जैसे भोग और भोगे अर मुर्ती और होय ऐसी बने नहीं  
तेमें प्रधान ती धर्मकरे अर चेतनकी मोक्ष होय ऐसी बने नाही ॥३४॥

प्रधानं यदि कर्माणि विधत्ते म्रुंचते यदि ।

किमान्माऽनर्थकः सांख्यैः कल्प्यते मम कथ्यताम् ॥३५॥

अर्थ—जो प्रधान कर्मनिही करे अर त्यागेदे, बर मोक्ष प्राप्त  
होयै, तो सांख्यमतवातेनि करि निःप्रयोजन आमा क्यों कथिपे ?  
सो मोह कथि ॥ ३५ ॥

न ज्ञानमात्रतो मोक्षस्त्वस्य जातूपपद्यते ।

भयस्यज्ञानमात्रेण न व्याधिः कापि नश्यति ॥ ३६ ॥

अर्थ—सांख्यमती करे देतक्य अम करि भया जो वे सो और  
नके ज्ञान मात्र करि भाग जायै, नाकी आभाव करे दे—निम  
सांख्यके ज्ञानमात्रे भाग करीया न प्राप्त राय दे जैने औपरिके  
ज्ञान करि रोग कहु नहीं चितये ।

भारार्थ—जैने मोक्षदिया जानना अर प्रतीति अर आचरण  
न जैने भावित करि रोग चितये मुनी होयै, अर केरउ जानना  
वा केरउ प्रतीति करना वा केरउ आचरण करना इन चारो भावैनि  
बंर रोग न चितये मुनी न होयै जैने ज्ञान दर्शन करि लीनीसी  
जगत् अर वेर लीने होयै ज्ञानादिक चारो भावैनि करि  
जैने होयै न होयै रोग निःप्रय करना ॥ ३६ ॥

अर्थ—ज्ञानके प्रत्यक्ष धर्म मते दे साका निर्द्वन्द्व की है—

अज्ञानस्य न ज्ञानं प्रज्ञानस्य प्रारम्भे ।

स्वर्द्धनद्वयो रथा न क्षापि ज्ञानयोगिनः ॥ ३७ ॥

अर्थ—अचेतन प्रधानके ज्ञान नहीं प्रवर्त्तै है, जातै स्तंभ घट इत्यादि अचेतन पदार्थहैं ते ज्ञानसहित बहूँभी न देखे ॥ ३७ ॥

फेर फेरहैं;—

उक्त्वा स्वयमकर्तारं भोक्तारं चेतनं पुनः ।

भाषमाणस्य सांख्यस्य न ज्ञानं विद्यते स्फुटम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—आपही अचेतनको अकर्ता कहकरि बहुरि चेतनको भोक्ता-कहता जो सांख्य साहूँ ज्ञान प्रगट नाहीहै, अज्ञानी है ।

भावार्थ—सांख्य आमाहूँ आपही अकर्ता कहै बहुरि ताहीको भोक्ता बतारै सो बहूँ प्रगट अज्ञानहै तातै अन्य परै अन्य भांगै यह बात असंभवहै ॥ ३८ ॥

आगे सर्वगुणरहित होय सो मोक्षहै ऐसे अज्ञानक निषेधहै;—

सकलैर्न गुणैर्मुक्तः सर्वथात्मोपपद्यते ।

न जातु दृश्यते वस्तु शशशृंगमिवागुणम् ॥ ३९ ॥

अर्थ—समस्त गुणनिवारि रहित सर्वथा आ मा न होयहै जातै शशकाके शृंगपी औं निर्गुण वस्तु कदापि न देखिए है ।

भावार्थ—गुणका समूहही गुणाहै अर सर्वथा गुणका अभाव होतै गुणीका भी अभावहै तानै गुणरहित मोक्ष कहना मिथ्या है ॥ ३९ ॥

आगे ज्ञानका अर ज्ञानीका सर्वथा भेद मानैहै ताका निषेध करैहै,—

न ज्ञानज्ञानिनोर्भेदः सर्वथा पटने स्फुटम् ।

संबंधाभासतो नित्यं मेरुकैलाशयोरिव ॥ ४० ॥

अर्थ—सबंके अभासतै सर्वथा नुभेद अर फेदकासवी औं प्रगट-पने ज्ञान आर ज्ञानीका सर्वथा भेद बनैहै ।

भावार्थ—जैतै भेद अर फेदका भेदरूपहै तिनका संबंधका अभाव है तैतै ज्ञानका अर ज्ञानीका भेदमानै सर्वथा अभाव आवैहै ॥ ४० ॥

बहुते कहेंगे जो समसायकरी संबंध होयहे ताका निरोध करें;—

ममसायेन संबंधः क्रियमाणो न युज्यते ।

नित्यस्य व्याधिनस्तस्य सर्ववाप्यविशेषतः ॥ ४१ ॥

अर्थ—ममसायकरी कल्या भया संबंध नाही युक्त होय हे, जै  
नित्य अर व्यापक जो ममसाय ताका सर्व अशिरोप है ।

भारार्थ—नैसायिक ममसाय परार्थकी नित्य अर व्यापक माने  
ताकी आशार्थ कहेंहे;—

जो ममसायकरी आत्मा अर ज्ञानका संबंध होयहे तो घटपटा  
अथेन परार्थे सिने ज्ञानका संबंध न भया ? ममसाय तो नित्य  
अर व्यापक भया भेद स्थित मानेहे अर घटपटादि सिने ममसायक  
भेद मानेगा तो नित्य व्यापक ममसाय कहना न जनेगा ताकी ममसाय  
की संबंध मानना नित्याहे ॥ ४१ ॥

अगे आठ है ममसायके, नित्य सांसा नित्यतामे वा अनित्यतामे  
दृष्टा सिगाहे,

नित्यताऽनित्यता तत्र सर्वथा न प्रशस्यते ।

असायादर्थनित्यतेः क्रमतोऽक्रमतोऽपि वा ॥ ४२ ॥

अर्थ—नित्य ममसायके, ममसाय नित्यता वा अनित्यता न  
सांसायिके जने क्रमो स युक्त प्रती उपनिता अनाहे ।

अर्थ—ममसायके ममसाय नित्य माननेमे क्रमो वा युक्त  
असायादर्थनित्यतेः क्रमतोऽपि वा ॥ ४२ ॥

अं १० ॥ ४२ ॥

न नित्यं दृष्टे क्वचिद्विहागदुःखनिवः ।

न नित्यं सर्वं न नष्टमागमं मृतीरात् ॥ ४३ ॥

अर्थ—नित्यहै सो कार्यकौ न करैहै जातै नित्यके अवस्था जो विकारविशेष ताकी अनुपपत्तिहै, बहुरि अनित्य सर्वथा विनाशरूप सो भी कार्यकौ न करैहै जैसे मृत वैद्य नीरोगपनेकौ न करै जैसे, जो आपही नसि गया सो कार्य कैसे करै, ताते नित्य वा अनित्य टोड एकांत भिष्या है ॥ ४३ ॥

आगे अमूर्त्तीकरणको एकांतकौ निरोध करैहै,—

नामूर्त्तः सर्वथा युक्तः कर्मबंधप्रसंगतः ।

नमसो न ह्यमूर्त्तस्य कर्मलेपो विलोक्यते ॥ ४४ ॥

अर्थ—सर्वथा आत्मा अमूर्त्तीक कहना युक्त नाही, जाते कर्मबंधका प्रसंग आवैहै । बहुरि अमूर्त्तीक आकाशके कर्मनिका लेप न है विलोकिएहै ।

भावार्थ—आकाशवत् सर्वथा संसारी जीव मुक्त होयतौ जैसे आकाशके कर्मलेप नाही तैसे आत्माके भी कर्मबंध न टहरे ताते सर्वथा अमूर्त्त मानना भिष्याहै ॥ ४४ ॥

स यतो बंधतो भिक्षो भिक्षो लक्षणतः पुनः ।

अमूर्त्तता तदस्तस्य सर्वथा नोपपद्यते ॥ ४५ ॥

अर्थ—जाते सा आत्मा बंधते बंधविन् अभिन्नहै बहुरि लक्षण करि भिन्नहै ताते तिस आत्माके सर्वथा अमूर्त्तपना नाही निद्र होयहै ।

भावार्थ—बंधका लक्षण जइताहै आत्माका लक्षण येन्यहै ऐसे लक्षणभेद करि आत्मा अरु बंध भिन्नहै तथापि बंधरुटि करि अभिन्नहै जाते बंधका निमित्त पाप आत्माके प्रिया होयहै अरु आत्माका निमित्त पाप बंधका परिणामन होयहै, येना निमित्तवैभित्तिक बंधरु देखिएहै, ताते सर्वथा संसारी जीवकौ अमूर्त्त मानना योग्य नाही ॥ ४५ ॥



भावार्थ—निषेधने योग्य अरु न निषेधने योग्य वस्तुका आगर इन दोऊनिका जाके ज्ञान होय सो आधारविषै आधेयकी न देगि आधेयकी निषेध अभावप्रमाणकरि करैहै, जैसे कोऊ पृथ्वी अरु घट दोऊनिकी जानैहै सो पृथ्वीविषै घटकी न देखि अभाव प्रमाण करि घटका निषेध करै जो इहां पृथ्वीविषै घट नाही, सो सर्वज्ञ अतीन्द्रियै ताविषै ऐसे अभावप्रमाणकी प्रवृत्ति नाही, ऐसे अभाव प्रमाण करि सर्वज्ञका निषेध करना मिथ्याहै ॥ ५१ ॥

प्रमाणाभावतस्तस्य न च युक्तं निषेधनम् ।

अनुमानप्रमाणं हि साधकं तस्य विद्यते ॥ ५२ ॥

अर्थ—बहुरि प्रमाणके अभावतै तिम सर्वज्ञका निषेध योग्य नाही, जातै तिम सर्वज्ञका साधनेसाथ अनुमान प्रमाणहै ।

भावार्थ— सर्वज्ञभाववादी कहैहै;—प्रयत्नप्रमाणका विषय सर्वज्ञ नाही जातै इन्द्रियकरि सो जान्या जाय नाही । बहुरि अनुमानका भी विषय नाही जातै सर्वज्ञका त्रिग किन्तु दीगै नाही । बहुरि आगमभी तका मद्भाव न साधै जातै आगम है सो सो कर्मकांडीका कथन करैहै ताके सर्वज्ञके ज्ञाननेका अयोग्यै अरु अनादि आगम सादि पुराणका कथनेवाला बने नाही, बहुरि अनिय आगम सर्वज्ञकी साधैहै सो तिम सर्वज्ञकरि कहे आगमके साधके निधाय विना प्रमाणनका अनि-  
 धय है, बहुरि आगमकी प्रमाणना होतै सर्वज्ञकी प्रमाणना होय अरु सर्वज्ञकी प्रमाणना होतै आगमकी प्रमाणना होय तैभी इन्द्रियसाधन दूरन नै साधै, बहुरि सर्वज्ञकी अप्रमाणभूम तै आगम ताकी सर्वज्ञ कथना अथवा प्रमाणनहै । बहुरि सर्वज्ञ समान अक्षयवर्षका प्रमाणना अर्थनहै सो उदमानप्रमाणकी सर्वज्ञका अर्थनहैसाय नाही । तै फलै ही प्रमाणका विषय न होतै अभावप्रमाणकी प्रवृत्ति

गो माया अभाव ही व्हाते, मायो आप्तार्थ व्हाते हेणे निवेद्य करणा  
हुन मागी जी सर्वज्ञा भाव्य. अनुमान सिद्धमानदं ॥ ५२ ॥

गोणी अनुमान दिगांर्तः —

धीतरागोऽस्मि सर्वत्रः प्रमाणासाधितन्वतः ।

सर्वदा विदितः गतिः सुगादिकमिव ध्रुवम् ॥ ५३ ॥

अर्थ—मंजनि वरी सर्वत्र ज्ञान्या हेगा दीतराग सर्वज्ञा जाननेवा-  
ला, जेने प्रमाणवरी असाधितपनाई निभयवरी सुगादिकाची उची ।

भावार्थ—जेने सुगादिक स्वमंभदनगोपर निबंध सिद्धहे तेसे सर्वत्र  
दीतराग भी प्रमाणमिद्धहे ॥ ५३ ॥

गो ही व्हाते,—

क्षीयते सर्वथा गगः कापि कारणहानितः ॥

ज्वलनो क्षीयते त्रिषः काष्ठादीनां विषोमतः ॥ ५४ ॥

अर्थ—कोई आप्तारिणी कारणही हानिने सर्वप्रकारभी गग क्षीण  
होयते; जेने काष्ठादिकाके विषोमते त्रेशक्य अग्नि क्षीण होयते ।

भावार्थ—जेने काष्ठादिकाके अभावने अक्रिया अभाव होयते तेसे  
कर्मनिचे, अभावने गगका अभाव होयते । इहा अतिशायक हेतु दियाहे  
कि कोर्दक फिचिन् कर्मके अभावते फिट्टू गगादिकाका अभाव देखिरहे  
तो कोर्दक सर्व कर्मके अभावते सर्व रागकाभी अभाव होयगा, ऐसे  
निभय दिव्याहे ॥ ५४ ॥

आने सर्वज्ञपनेका निभय व्हातेहे;—

प्रकर्षस्य प्रतिष्ठानं ज्ञानं कापि प्रपद्यते ।

परिमाणमिवाकाशे तारतम्योपलब्धितः ॥ ५५ ॥

कार्य—ज्ञान ही कोई आत्मा विषय प्रकृत जो वृद्धि ताकी प्रसिद्ध-  
की प्राप्त होती जाती तारतम्यही उपस्थिति जैसी आकाशविषय प्रसिद्ध-  
पानी इन्द्रियो हरकी प्राप्त होयते तीसरी ।

भावार्थ—जो तारतम्य वादार्थ ही वृद्धिही सीमाही प्राप्त भया भी  
प्राप्त ही भोगमान किया कि ज्ञानका अंश वही काली है तो ज्ञान  
भावही इन्द्रियो हरकी प्राप्त भया भी होगया जैसी परमाणु एक प्रयोग-  
भावही वही प्रयोग इन्द्रियो मों आकाशविषय, यह इन्द्रियो प्रिया  
ही प्रिया ज्ञानका ॥ ५५ ॥

प्रकृतोपस्थितियेव विधत्तथा म गीयते ।

शक्तिता विधत्तानां कवितादोषकर्मणः ॥ ५६ ॥

५६—वदत ताकी ज्ञानका प्रकृतोपस्थिता है हरकी ही विषय  
ज्ञान का ही प्रयोग ही प्रयोग ही प्रयोग ही प्रयोग ही प्रयोग ही प्रयोग  
ही प्रयोग ही प्रयोग ही प्रयोग ही प्रयोग ही प्रयोग ही प्रयोग ॥ ५६ ॥

बोध्यमयनिर्भय नृ यमात्मन्य न भयः ।

बोध्यम्य इदानीं इयं पावकर्मणा विद्यते ॥ ५७ ॥

५७—जैसी प्रकृत ही प्रयोग ही प्रयोग ही प्रयोग ही प्रयोग ही प्रयोग  
ही प्रयोग ही प्रयोग ही प्रयोग ही प्रयोग ही प्रयोग ही प्रयोग ही प्रयोग  
ही प्रयोग ही प्रयोग ही प्रयोग ही प्रयोग ही प्रयोग ही प्रयोग ही प्रयोग ॥ ५७ ॥

समुद्रद्वयसिद्धिं शान्ता शान्तिं शान्तिम् ।

समुद्रद्वयसिद्धिं शान्तिं शान्तिं शान्तिम् ॥ ५८ ॥

५८—समुद्र ही प्रयोग ही प्रयोग ही प्रयोग ही प्रयोग ही प्रयोग ही प्रयोग  
ही प्रयोग ही प्रयोग ही प्रयोग ही प्रयोग ही प्रयोग ही प्रयोग ही प्रयोग  
ही प्रयोग ही प्रयोग ही प्रयोग ही प्रयोग ही प्रयोग ही प्रयोग ही प्रयोग  
ही प्रयोग ही प्रयोग ही प्रयोग ही प्रयोग ही प्रयोग ही प्रयोग ही प्रयोग ॥ ५८ ॥

अर्थ—अतएव सर्वथा पदार्थ अथवा अल्प अल्प इत्यधिक वा  
अर्थ—अतएव सर्वथा पदार्थ अथवा अल्प अल्प इत्यधिक वा  
॥ ५८ ॥

अथपदार्थस्यैव तन्मात्राभावेऽद्वयम् ।  
॥ ५८ ॥

अथ नास्ति ॥ ५७ ॥

अर्थ—असौ देव न योग नो कार्यादिक ताहि देवता नो अस्ति  
ताके अथ नास्ति है तसै शेषको जानता नो आध्यात्मिक ज्ञान ताके

अथपदार्थस्यैव तन्मात्राभावेऽद्वयम् ।  
॥ ५७ ॥

अर्थ—अतएव सर्वथा पदार्थ अथवा अल्प अल्प इत्यधिक वा  
अर्थ—अतएव सर्वथा पदार्थ अथवा अल्प अल्प इत्यधिक वा  
॥ ५६ ॥

अर्थ—अतएव सर्वथा पदार्थ अथवा अल्प अल्प इत्यधिक वा  
अर्थ—अतएव सर्वथा पदार्थ अथवा अल्प अल्प इत्यधिक वा  
॥ ५६ ॥

अथपदार्थस्यैव तन्मात्राभावेऽद्वयम् ।  
॥ ५६ ॥

अथ नास्ति ॥ ५५ ॥

अर्थ—अतएव सर्वथा पदार्थ अथवा अल्प अल्प इत्यधिक वा  
अर्थ—अतएव सर्वथा पदार्थ अथवा अल्प अल्प इत्यधिक वा  
॥ ५५ ॥

अर्थ—अतएव सर्वथा पदार्थ अथवा अल्प अल्प इत्यधिक वा  
अर्थ—अतएव सर्वथा पदार्थ अथवा अल्प अल्प इत्यधिक वा  
॥ ५५ ॥

अर्थ—तीन लोकविषे व्यापक जे अक्षरहैं ते व्यंजक जे प्रगट करनेवाले वायु तिनकरि प्रगट करिणहैं ऐसी बानी यथार्थकहनेवाली नाही, जाते सर्व अक्षरनिकी व्यक्तिका प्रसंग आवैहै ।

भावार्थ—त्रिलोकव्यापक जे मर्ष वर्ण तिनकीं अभिव्यजक वायु प्रगट करैहैं तौ जब वायु प्रगटै तब सर्वही अक्षर मुनिवेमें आए चाहिए सो बने नाही, ताते तू कहैहैं मो मिथ्याहैं ॥ ६३ ॥

एकत्र भाविनः केचित् व्यज्यंते नापरे कथम् ।

न दीपव्यज्यमानानां घटादीनामयं क्रमः ॥ ६३ ॥

अर्थ—बहुरि एक ठिकाने वर्त्तते जे वर्ण ते केई प्रगट करिएहै आर प्रगट क्यों न करिएहै, जाते दीपक करि प्रगट होते जे घटादिक तिनके यहु क्रम नाहीहै ।

भावार्थ—दापक है सो एकस्थानवर्त्ती घट पट आदि सर्वहीसौ प्रकासैहै, ऐसा नाही जो घटकीं प्रकासं पटकीं न प्रकासै तैसे वायु अक्षरनिकी प्रकासैहै तौ सर्वही कौ प्रकासै, इहा तौ कोई अक्षर मुनि-एहै कोई न मुनिएहै । ताते वायु अक्षरनिकी प्रकासैहै ऐसा कहना बने नाही ॥ ६३ ॥

फेर कहैहै,—

व्यंजकव्यतिरेकेण निश्चीयंते घटादयः ।

स्पर्शप्रभृतिमिर्जातु न वर्णाथ कथंचन ॥ ६४ ॥

अर्थ—घटादि पदार्थ हैं ते स्पर्शादिकनि करि व्यजक विना निश्चय करैहैं बहुरि वर्णहैं ते कटाचिन् कोई प्रकार नाही निश्चय कीजिएहैं ।

भावार्थ—घटादि पदार्थहैं ते प्रगट करनेवाले विनाही स्पर्शादि करि निश्चय करिएहै, अरु सर्वव्यापी वर्ण नित्यहैं तिनका निश्चय कदा-

ब बोरे प्रमाणों न होयते । ताते सर्वज्ञानक निच दर्शनवरी मानना  
निघते ॥ ६४ ॥

द्वयमेवेति सर्वज्ञानेन न लभ्यते पुनर्भूषम् ।

इत्यत्र विद्यते काचित् प्रमा वेदवादिनः ॥ ६५ ॥

अर्थ—आचार्य कहेते प्रमा वदनेवाते जे वातु गिनकी वण है ते  
प्रमावसिने वहीर निधाय वरी उपमाइए नाहीं देगी वेदवादीकी प्रमा-  
पना बोरे हां नाही विद्यमान होयते ॥ ६५ ॥

आते वेर वीते;—

विना सर्वज्ञदेवेन वेदार्थः केन कथ्यते ।

स्वयमेवेति नो वाच्यं संवादित्वाप्रसंगतः ॥ ६६ ॥

अर्थ—आचार्य कहेते सर्वज्ञदेव विना वेदका अर्थ कानवरी कहि-  
ते, स्वयमेव वहीर देगा कथना मुक्त नाही जाते भजे वक्तव्यनाफा  
अप्रसंग आयेते ।

भावार्थ—सर्वज्ञ विना वेदका अर्थ कथना वने नाही जाते सर्वज्ञ  
विना औरका ज्ञान प्रमाण नाही और वी और कहि देय, अर वेद  
आवरी अर्थ कहेते नां साका कोई वना न टहग, तब वर अर्थहे वर  
अर्थ नहीरे देगी कान कहे जाते वेदना जडेते ताते वेदकी स्वय-  
मेव अर्थकथना निघ्याते ॥ ६६ ॥

न पारंपर्यतो ज्ञानं सर्वज्ञानां प्रवर्त्तते ।

ममस्त्वानामिवांधानां मूलज्ञानं विना कृतम् ॥ ६७ ॥

अर्थ—पहीर वर कहेते जो असर्वज्ञनिका ज्ञान पारंपरापते सत्यार्थ  
प्रवर्त्ते है । तातुं आचार्य कहेते;—जो सर्व असर्वज्ञनिका ज्ञान पारंपरा  
वने न प्रवर्त्ते, जेते समस्त अधिनिका मूलज्ञान कदा विना कार्य न  
प्रवर्त्ते तेन ।

अर्थ—नीन लोकाभिरे व्यापक जे अक्षरों ते व्यंजक जे प्रगट करनेवाले वायु निरक्षर प्रगट करिण्हे ऐसी शानी व्यापक करनेवाली नहीं, जाते मरे अक्षरनिकी व्यक्तिका प्रमेग आयेहे ।

भावार्थ—त्रिलोकव्यापक जे मरे वर्ण निरक्षर अभिर्भूतक वायु प्रगट करेहे तो जय वायु प्रगटै तब मरेगी अक्षर मुनिमें आण करिण्हे मो बने नाही, नाते तू करेहे मो मियाँ ॥ ६३ ॥

एकत्र भाविनः केचिन् व्यज्यन्ते नापरे कथम् ।

न दीपव्यज्यमानानां घटादीनामयं क्रमः ॥ ६३ ॥

अर्थ—बहुरि एक ठिकाने बत्तते जे वर्ण ते केडे प्रगट करिण्हे आर प्रगट क्यों न करिण्हे, जाते दीपक करि प्रगट होते जे घटादिक तिनके यहू क्रम नाहीहे ।

भावार्थ—दापक है सो एकस्थानवर्ती घट पट आदि सर्वहीको प्रकासैहे, ऐसा नाही जो घटको प्रकास पटको न प्रकासै तैसे वायु अक्षरनिकी प्रकासैहे तो सर्वही को प्रकास, इहा तो कोई अक्षर मुनि-एहे कोई न मुनिएहे । ताते वायु अक्षरनिकी प्रकासैहे ऐसा कहना बने नाही ॥ ६३ ॥

फेर कहैहे,—

व्यंजकव्यतिरेकेण निधीयन्ते घटादयः ।

स्पर्शप्रभृतिभिर्जातु न वर्णाथ कथंचन ॥ ६४ ॥

अर्थ—घटादि पदार्थ हैं ते स्पर्शादिकनि करि व्यजक विना निश्चय करेहे बहुरि वर्णहैं ते कदाचित् कोई प्रकार नाही निश्चय कीजिएहे ।

भावार्थ—घटादि पदार्थहैं ते प्रगट करनेवाले विनाही स्पर्शादि करि निश्चय करिएहे, अरु सर्वव्यापी वर्ण नित्यहैं तिनका निश्चय कदा-

य कोई प्रकारभी न होयहै । ताते सर्वव्यापक नित्य अक्षरनको मानना मियाहै ॥ ६४ ॥

प्यज्यंते प्यजकैर्वर्णा न जन्यंते पुनर्भुवम् ।

इत्यत्र विद्यते काचिन्न प्रमा वेदवादिनः ॥ ६५ ॥

अर्थ—प्यजक कहिये प्रगट करनेवाले जे वायु तिनकरि वर्ण हैं ते प्रगटकरिणहैं बहुरि निभय करि उपजाइण नाहीहैं ऐसी वेदवादीकी प्रमा-  
गता कोई इहां नाही विद्यमान होयहै ॥ ६५ ॥

भागों केर कहैहै;—

विना सर्वज्ञदेवेन वेदार्यः केन कथ्यते ।

स्वयमेवेति नो वाच्यं संवादित्वाप्रसंगतः ॥ ६६ ॥

अर्थ—आचार्य कहैहै सर्वज्ञदेव विना वेदका अर्थ कौनकरि कहि-  
रहै, स्वयमेव कहिणहै ऐसा कहना युक्त नाही जातै भले वक्तापनाका  
अप्रसंग आवैहै ।

भावार्थ—सर्वज्ञ विना वेदका अर्थ कहना बने नाही जातै सर्वज्ञ  
वेना औरका ज्ञान प्रमाण नाही और कौ और कहि देय, अर वेद  
प्रापही अर्थ कहैहै ताका कोई वक्ता न टहरा, तब यह अर्थहै यह  
अर्थ नहींहै ऐसी कौन कहै जातै वेदता जइहै ताते वेदकी स्वय-  
मेव अर्थकहना मियाहै ॥ ६६ ॥

न पारंपर्यतो ज्ञानं सर्वज्ञानां प्रवर्तते ।

समस्तानामिवांधानां मूलज्ञानं विना कृतम् ॥ ६७ ॥

अर्थ—बहुरि कहैहै जो असर्वज्ञनिका ज्ञान परंपरापतै सत्पार्थ  
प्रवर्तै है । ताकू आचार्य कहैहै;—जो सर्व असर्वज्ञनिका ज्ञान परंपरा  
पतै न प्रवर्तैहै, जैसे समस्त अधेनिका मूलज्ञान फला विना कार्य न  
प्रवर्तै तैसे ।



भावार्थ—बहुत भी अंधे पुरख परंपरायतें चलैं तौ भी मूलज्ञान-  
विना वाछित स्थान पावै नाहीं तैसैं परंपरायतें भी अल्पज्ञानीनिका  
वचन प्रमाण नाहीं ॥ ६७ ॥

आगैं फेर कहैहै,—

कृत्रिमेष्वप्यनेकेषु न कर्ता स्मर्यते यतः ।

कर्तृस्मरणतो वेदो युक्तो नाकृत्रिमस्ततः ॥ ६८ ॥

अर्थ—बहुरि वह कहैहै जो वेदकी कर्ता काहूँके स्मरण नाहीं  
तातैं वेद अकृत्रिम है । ताकू आचार्य कहैहै;—जो ऐसा नाहीं जातैं  
अनेक करे पदार्थनिविष्टैं भी कर्ता स्मरण न कीजिए है, अथवा ताके  
कर्ताके स्मरणतैं वेद कृत्रिम युक्त है ।

भावार्थ—कोई कहै वेदके कर्ताको याद नाहीं तातैं अकृत्रिमहै,  
ताकू कहाहै जो ऐमे तौ पुराने मद्रिख वा करे भए मोती इत्यादिकना  
भी कर्ताका याद नाहीं ते भी अकृत्रिम ठहरैं । बहुरि वेदके तौ कर्ता  
भी प्रस्तादिक कहैहै तातैं भी कृत्रिमही वेद ठहरै । तातैं अकृत्रिम वेद  
कहना मिथ्याहै ॥ ६८ ॥

हिंसादिवादकत्वेन न वेदो धर्मकांक्षिभिः ।

शृकोपदेशवद्भूतं प्रमाणीक्रियते बुधः ॥ ६९ ॥

अर्थ—धर्मके वाछक पंडितनि करि हिंसादिकके उपदेशपनैं करि  
जो खारपट ताके उपदेशकी ज्यौं वेदहै मो प्रमाण करना योग्य  
नाहीं ॥ ६९ ॥

वीतरामश्च सर्वज्ञो जिन एवावशिष्यते ।

अपरेषामग्रेषाणां रागद्वेषादिदृष्टिनः ॥ ७० ॥

अर्थ—वीतराम अरु सर्वज्ञ ऐमा जिनैरही एक न्याग कीजिए है  
जातैं और सर्वनिर्गुण रागद्वेषादि दीरहै ॥ ७० ॥

न विगमा न सर्वज्ञा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।

रागद्वेषमदप्रोपलोभमोहादियोगतः ॥ ७१ ॥

अर्थ—ज्ञाना विष्णु महेश्वरों ने न हम सबों को न सर्वज्ञता प्राप्त की है  
इस कष्ट मोह लोभ मातृ इत्यादि कारणों से ॥ ७१ ॥

रागयन्तो न सर्वज्ञा यथा प्रवर्तमानया ।

रागयन्तश्च ते सर्वे न सर्वज्ञास्ततः स्फुटम् ॥ ७२ ॥

अर्थ—रागयन्तों ने न सर्वज्ञता प्राप्त की है यथा प्रवर्तमानया  
स्फुटि जे ब्रह्मादिकों ने न सर्वज्ञता प्राप्त की है तेषां सर्वज्ञता  
नहीं ॥ ७२ ॥

आश्लिष्टास्तेऽत्रिगुणैर्दोषैः कामकोपभयादिभिः ।

आयुधप्रमदाभूपाकमंडल्लादियोगतः ॥ ७३ ॥

अर्थ—ब्रह्मादिकों ने कामकोपभय इत्यादिक कारणों से त्रिगुण  
उक्त हैं, जहाँ आयुध स्त्री आनुषण कामडा इत्यादि कारणों से ॥ ७३ ॥

प्रमदा भापते कामे द्वेषमायुधसंग्रहः ।

अक्षमृधादिकैः मोहं शोचाभावं कर्मण्युः ॥ ७४ ॥

अर्थ—स्त्री ता कामकी कर्त है अर आयुधका संग्रह द्वेषमापन  
जनवि है अर माला यज्ञोपवीतादिक मादकी दिग्भाव है अर पवित्रपत्रक  
अभावकी कर्मण्यु दिग्भाव है ।

भारार्थ—जो कामादिक विकार न होय ता स्त्री आदि काहेकी  
गये, तानें स्त्री आदि हैं ते कामादिविकारनिवृत्त ब्रह्मादिकनिर्म प्रगट  
दिखावै है ऐसा जानना ॥ ७४ ॥

आर्मे पुण्याईतवादी कर्त है ताका निवेद करै.—

परमः पुण्यो नित्यः सर्वदोषरपाहृतः ।

तस्यैतेऽव्ययवाः सर्वे रागद्वेषादिभाजिनः ॥ ७५ ॥

मैत्राभिगेवर्गं भया विनाभेनानेनगाय ।

मणिने वनराती दि नैगमां वशी कृपः ॥ ७६ ॥

अर्थ—...को से वृत्तः विना भेनानेनगाय कृति मणिने  
वै वदुदि तां से कर्मादि ॥ ७६ ॥ ने ॥ ७६ ॥ मणिनेनानेनगाय  
मणिनेनानेनगाय को से ॥ ७६ ॥ विनाभेनानेनगाय को से विना  
विनाभेनानेनगाय को से ॥ ७६ ॥ को से विनाभेनानेनगाय को से  
विनाभेनानेनगाय को से ॥ ७६ ॥

अर्थ—वैदिक लोक का कर्मादि मणिनेनानेनगाय को से ।  
मणिनेनानेनगाय को से ।

बुद्धिमदंशुर्कं विधत्तार्थंन्यायकृत्यादिभ्यः ।

बुद्धिमांशुम्य मः कर्मा कल्पने न महेश्वरः ॥ ७७ ॥

न विना शंभुना नून देवदमनगादयः ।

कृत्यानेनैव तार्थने विविधाः कृत्यादयः ॥ ७८ ॥

गनोऽपि जगतः कर्मा विधत्तया महेश्वरः ।

वचनं युग्यते नैव विन्यमानं विवर्धनः ॥ ७९ ॥

अर्थ—विधत्तं मो बुद्धिमान्ते हेतु । कर्मा । जगता वैमर्हि ।

भावार्थ—बुद्धिमानके निमित्तनी उपार्थ, जगते लोकके कार्यदमने,  
जो जो कार्यहे मो मो बुद्धिमानके निमित्तनी उपार्थने जेने पटादिक ।  
वदुदि ता लोकका जो बुद्धिमान कर्ता मो महेश्वर कर्त्तव्ये ॥ ७७ ॥

जैसे कुम्हार विना विचित्र घटादिक न उपर्जे तैसे ईश्वर विना शरीर  
वृक्ष पर्वत इत्यादिफैते निधयकरि न उपर्जे ॥ ७८ ॥

तार्थ जगतका कर्ता सर्वदशी महेश्वर है । अत्र तारू आचार्य कहैहे—  
यह वचन पंडितनिकरि विचारया भया शुक्त न होयहे ॥ ७९ ॥  
सोही कहैहे,—

कार्यत्वादिन्ययं हेतुस्तस्य साधयते यथा ।

शुद्धिमात्रं तथा तस्य देहमात्रमपि ध्रुवम् ॥ ८० ॥

नाशरीरी भया रष्टः कुंभकारः कश्चित् यतः ।

कुलालस्तस्य रष्टात्सतो भूते मददताम् ॥ ८१ ॥

सदेहस्य च कर्तृत्वे सौञ्जसादादिसमो यतः ।

रन्यतां प्रतिपद्येत कुंभकारादिवगतः ॥ ८२ ॥

सुवनं क्रियते तेन विनोपकरणैः कथम् ।

कृत्वा निवेद्यते कुत्र निरालंबे विहायसि ॥ ८३ ॥

विचेतनानि भूतानि सिद्धधावशतः कथम् ।

विनिर्माणाय विश्वस्य वर्षते तस्य कथ्यताम् ॥ ८४ ॥

अर्थ—आचार्य कहेंगे जो ऐसा वह कार्यहेतु है सो ता ईश्वरके सैं शुद्धिमानपना साधेहे सैंसे देहवानपना भी निधयकरि साधेहे । ८० ।

जाते कुंभकार मेंने कहू शरीररहित न देत्या ताते कुलाल दृष्टत सो ता ईश्वरके सदेहपनेकी बर्हेहे ॥ ८१ ॥

बहुरि देहसहितके कर्त्तापना होतमेंते हम आदि सरीसा भया जाते ईश्वर कुंभकारादिककी ज्यों देखने योग्य पनेकी प्राप्त भया तै ॥ ८२ ॥

बहुरि उपकरणविना ताकरि लोक कैसे करिणहे, बहुरि करिके निगर आकाशधिये कहा धरिणहे ॥ ८३ ॥

बहुरि यह बर्हेहे;—जो ताकी उपजावेकी इच्छा होतैं पृथ्वी आदि हें लोककी रथेहें, ताकी कहिणहे;—जो ताकी उपजापवेकी इच्छाके ताते पृथ्वी आदि भूत अचेतनहें से लोकके बनावनेके आर्थ कैसे रथेहे सो कहि । ताते लोकका कर्त्ता ईश्वर मानना निष्पाहे ॥ ८४ ॥

तैं बीइका निषेध करेहे;—

बुद्धोऽपि न समस्तज्ञः कथ्यते तथ्यवादिभिः ।

प्रमाणादिविरुद्धस्य शून्यत्वादेर्निवेदानान् ॥ ८५ ॥

अर्थ—बुद्धरि तथ्यवादीनि करि बुद्ध भी सर्वज्ञ न कहिएहै, जौते प्रमाणादि करि विरुद्ध ऐसा शून्यपना आदि जनावैहै ताते ॥ ८५ ॥

प्रमाणेनाप्रमाणेन सर्वशून्यत्वमाधने ।

सर्वस्यानिधितं सिद्धयेत्तत्त्वं केन निषिध्यते ॥ ८६ ॥

अर्थ—सर्वके शून्यपना साधनेमें प्रमाणकरि वा अप्रमाणकरि सर्वके अनिधित तत्त्व सिद्ध होय निषेध कौनकरि करिए ।

भावार्थ—सर्व शून्य मानै तब प्रमाण अप्रमाण भी न ठहरे, तब सर्वके अनिधित ही तत्त्वमिति होय प्रमाण बिना संशयका निषेध काहे करि करै ताते सर्व शून्य मानना भिष्याहै ॥ ८६ ॥

सर्वत्र सर्वथा तत्त्वे क्षणिके स्वीकृते सति ।

फलेन सह संबन्धो धार्मिकस्य कुतस्तनः ॥ ८७ ॥

अर्थ—सर्व जायगा । सर्व प्रकार तत्त्वकी क्षणिक अंगीकार करे संते धर्मात्मा जीवके फलकरि महित संबंध कहतै होय ।

भावार्थ—सर्व प्रकार तत्त्वकी क्षणिक अंगीकार करे संते धर्मात्मा जीवके फलकरि संबंध कहतै होय ।

भावार्थ—सर्वप्रकार तत्त्वकी क्षणिक माने धर्मात्मा जीव धर्मका फल न पावे जानै वहनी क्षणिक ही विनसि गया । बुद्धरि ऐसे होतै धर्मका मानन निरर्थक टहगया । ताते सर्वथा क्षणिक मानना योग्य नाही ॥ ८७ ॥

वधस्य वधको हेतुः क्षणिके स्वीकृते कथम् ।

प्रत्यभिज्ञा कथं लौकिक्यरहाप्रवर्तनी ॥ ८८ ॥

अर्थ—बहुरि क्षणिकपरी भेगीकार करे सने दिनक जीवहे सो हि-  
मला कारण केमे होय बहुरि लोकमे स्वरत्तर पलापनेगली प्रत्यभिहा  
केमे होय ।

भाषार्थ—क्षणिक माने हिसा करनेगला हिसक न टरै जातै यह  
लौ वा ही क्षण विनसि गया, बहुरि वाक्य धा जो जवान भया; इस  
पर मेरा तेनाई सो लेऊ देना हे सो देऊँ इत्यारिक लोकव्यवहार  
परावनेवात्री प्रत्यभिहाका भी अभाव टरै, जातै यह तो वाही क्षण  
विनसि गया स्वरत्तर वाँटका चः तातै क्षणिक मानना  
निष्पारै ॥ ८८ ॥

प्याध्याः प्रयच्छतो देहं निगद्य कृमिमंदिरम् ॥

दाहृदेहविमूढस्य करुणा वन कीदृशी ॥ ८९ ॥

अर्थ—यहू शरीर छटनिका घरहे ऐसा बहकै शरीरकी बघेरीके  
कर्षि देव ऐसे दाता अर देहमे गुण ऐसे के करुणा केमाहै ! यहू बड़े  
मेदकी बातहै ॥ ८९ ॥

बहुरि काँटै;—

जननी जगतः पूज्या हिमिता येन जन्मनि ।

मांसोपदेग्निस्तस्य दया शौद्धोदनेः कथम् ॥ ९० ॥

अर्थ—जगतके पूजने योग्य जो माता सो जातै जन्मविये मारी  
सा मांसके उपदेश करनेवाले बुद्धके दया कैसे होय ।

भाषार्थ—बौद्धमतमें कयाहै कि बुद्ध मानाका उदर फाडकर निक-  
स्याहै अर मांस भक्षणमें दोष नाही ताहुं आचार्यने कया ऐसे बुद्धके  
दया काहेकी ॥ ९० ॥

ऐसे बुद्धका निगकरण किया, आगे कपिलका निराकरण  
की है;—

यो ज्ञानं प्राकृतं धर्मं मापतेर्मा निरर्थकः ।

निर्गुणो निष्क्रियो मूढः सर्वज्ञः कपिलः कथम् ॥ ९१ ॥

अर्थ—जो ज्ञानकी प्रकृतिका धर्म कहें है यो मूढ नि-प्रयोजन निर्गुण क्रियारहित मूर्ख कपिल सर्वज्ञ कैसे होय ।

भावार्थ—कपिल ज्ञानकी तो प्रकृतिका धर्म कहें है अर आत्माकी निर्गुण क्रिया रहित प्रयोजनरहित अज्ञान कहें है ताक आचार्यने क्या जो ऐसा सर्वज्ञ कपिल कैसे होय । ताने कपिलका मत निष्याहै ॥ ९१ ॥

आगे और भी कुदेवादिकहें तिनका निषेध करहै;—

आर्यास्कंदानलादित्यसमीरणपुरःसगः ।

निगद्यंते कथं देवाः सर्वदोषपयोधयः ॥ ९२ ॥

अर्थ—सर्वदोषनिके समुद्र ऐसे जे देवी म्बद कहिए, स्वामिकार्ति-केय अग्नि सूर्य वायु इत्यादिकहें ते देव कैसे कहिए ।

भावार्थ—राग द्वेषादि दोष जिनमें पाइये ऐसे कुदेवनीकी देव कैसे कहिए ॥ ९२ ॥

आगे फेर कहैहै;—

गृधमश्नाति या हंति सुरभृंगः शरीरिणः ।

सा पशुर्गौः कथं बंधा वृषस्यंती स्वदेहजम् ॥ ९३ ॥

अर्थ—जो गौ भ्रष्ट खायहै अर प्राणीनी सुरसंगनिकारि हनैहै अर अपने पुत्रसे काम सेवैहै, सो ऐसी पशु अज्ञान गौ कैसे बंधनेयोग्य होय ॥ ९३ ॥

चेद्दुग्धदानतो बंधा महिषी किं न बंधते ।

विशेषो दृश्यते नास्यां महिषीतो मयाधिकः ॥ ९४ ॥





कहेहै—जो बुद्धिमान काचकों छोडकरि चिंतामणिरत्नकों ग्रहण करैहै  
सो कहा निधयकरि मुखकों न पावैहै, पावैहीहै ॥ ९७ ॥

मिध्यात्वदूषणमापस्य विचित्रदोषं  
संरूढसंश्रुतिवधूपरितोपकारि ।

सम्यक्तरत्नममलं हृदि यो विधत्ते

दुष्पयंगनामितगतिस्तमुपैति सद्यः ॥ ९८ ॥

अर्थ—बुद्धिकों प्राप्त जो संसारवधू ताका परितोप करनेवाला  
प्रसन्न करनेवाला अर अनेक दोषास्वरूप ऐसा मिध्यात्व रूपं दूषणकों  
त्यागिकरि जो पुरुष निर्मल सम्यक्तरत्नकों हृदय विधै धरिहै, ता पुरुष  
प्रति अनंतहै ज्ञान जाके ऐसी मुक्तिखी है सो शीघ्रही प्राप्त होयहै।

भावार्थ—मिध्यात्वकों त्यागकरि जो सम्यक्त धरिहै ताकूं मुक्तिकी  
प्राप्ति शीघ्र होयहै ॥ ९८ ॥

छप्पय ।

षोपत विषयकपाय पक्ष एकांत चित्त रसि,

नास्तिकादि मत एम मकल मिध्यास्वरूप लसि ।

हरिहरादि सबही कुदेव रागादिचिन्हयुत,

त्यागि, भजद्रु सर्वज्ञदेव रागादिदोषशुत ॥

संसारहेतु मिध्यात्व इम त्यागि गुददर्शन जे धरै ।

ते जीव अमितगति शीघ्रही भागचंद शिवतिथ परै ॥

• इत्युपायकाचारे चतुर्थः परिच्छेदः ।

इम प्रकार अमितगति भाव्यावृत्त ध्यावकाचारविधि  
चतुर्थ परिच्छेद समाप्त भया ।

## अथ पंचमः परिच्छेदः ।



आगे प्रथमिका वर्णन करैहै,—

मघमांसमधुराश्रिभोजनं

क्षीरशृक्षफलवर्जनं त्रिधा ।

दुर्वते व्रतजिघृक्षया पुषा—

स्तत्र पुष्यति निषेविते व्रतम् ॥ १ ॥

अर्थ—बंदिता है ते व्रतग्रहणया इच्छा करि मदिरा मांस अर मधु अर रात्रिविधे भोजन अर क्षीरशृक्ष कदिए जिनमें दूध निकसे ऐसे बढ पीपर ऊमर इत्यादिकनिके फल इनका त्याग मन बचन कायकरि करैहै, जाते तिनके त्यागवा सेवन करे सते व्रत पुष्ट होयहै ।

भावार्थ—जाके व्रतया प्यारहै सो प्रथम मदिरादिकनिका त्याग अवश्य करे इनके त्यागे व्रत पुष्ट होयहै ॥ १ ॥

आगे प्रथमही मदिराका निषेध करै है,—

मघपस्य धिपणा पलायते

दुर्भगस्य वनितेव दूरतः ।

निघता चलभते महोदयं

हेषितेव गुरुवाक्यमोचिनः ॥ २ ॥

अर्थ—जैसे दरिद्री पुराणकी स्त्री भाग जायहै तैसे मदिरा पीनेवालेकी बुद्धि भाग जाय है, बहुरि निदा बुद्धिकी प्राप्त हो जायहै जैसे गुरुके बचन न माननेवालेके दुरा बुद्धिकी प्राप्त हो जाय है तैसे ।

भावार्थ—मदिरा पीनेवालीकी बुद्धि विगड़ जायै अर निश होय है ॥ २ ॥

विह्वलः स जननीयति प्रियां  
मानसेन जननीं प्रियीयति ।

किंकरीयति निरीक्ष्य पार्थिवं  
पार्थिवीयति कुधीः स किंकरम् ॥ ३ ॥

अर्थ—सो मदिरापानी मन करि विह्वल भया संता स्त्रीको मात्रा-  
वत् आचरैहै अर माताको छावत् आचरन करै है । बहुरि सो कुबुद्धी  
राजाको देखकरि चाकरवत् आचरै है अर चाकरको राजावत् आचरैहै ।

भावार्थ—मदिरापानी सर्थ पदार्थनिको विपरीत देखैहै ॥ ३ ॥

सर्वतोऽप्युपहसन्ति मानवा  
वासमी व्यपहरन्ति तस्कराः

भ्रूयन्ति पतितस्य मंडला  
विस्तृते विवरकांक्षया मुखे ॥ ४ ॥

अर्थ—बहुरि मद्यपानीकी सर्वहां तरफतं मनुष्य हास्य करैहै अर  
चौर बख्र हरैहै, बहुरि स्नानहैं ते पड़ेके विस्ताररूप मुखविषै छिद्रकी  
बांछा करि मूतेहै ॥ ४ ॥

मंभु मूर्च्छति विभेति कंपते  
पृत्करोति रुदति प्रलर्दति ।

खिद्यते स्वलति वीक्षते दिशो  
रोदिति स्वपिति जक्षितीर्ष्यति ॥ ५ ॥

अर्थ—बहुरि मदिरापानी शीघ्रही मूर्च्छित होय है, डरपैहै, कांपैहै,  
पृत्कार करैहै, रोवै है, वमन करैहै खेदरूप होयहै, गिरपडैहै, दिशानहै  
देखै है, रुदन करैहै, सांवहै, जकड़ी लगिजाय है, ईर्ष्या करैहै ।

भावार्थ—मदिराकी माना पु जेना उपबंदै ॥ ५ ॥

ये भवन्ति विविधाः शरीरिण—

मय मृक्ष्मवपुषो रमांगिकाः ।

नेत्रविला शटिति यांति पंचरां

निदितम्य सरफस्य पानतः ॥ ६ ॥

अर्थ—निस मदिराविधे सूरमते शरीर तिनके ऐसे जे रसकी  
थे मानाप्रकार जीवते ते समस्त निदनीक मदिराके पानते शीघ्र मर-  
ते प्राण होयते ।

भावार्थ—मदिरापानीके द्रव्यदिसा भी हीने होयते ॥ ६ ॥

धारणी निदितचेतसोऽरिलाः

यांति कांतिमतिकीर्त्तिसंपदः ।

वेगतः परिहरन्ति योपितो

वीक्ष्य कांतमपरांगनागतम् ॥ ७ ॥

अर्थ—जैसे-हांडे से परछी प्रति गए पतिकी देख करि शीघ्रही  
सीहोते तेमें मदिराविधे लग्योह चित्त जाका ऐसा जो पुरुष ताकी  
तमस्त फाति मुद्दि कांति संपदा जाती रहेते ।

भावार्थ—मदिरापानीकी कांति मुद्दि कांति संपदा सर्व बिगदि  
जायते ॥ ७ ॥

गायति भ्रमति यत्कि गद्गदं

रौति धावति विगाहते क्रमम् ।

हंति हृष्यति युध्यते हितं

मद्यमोहितमतिर्विपीदति ॥ ८ ॥

ये त्रिनैश्वर्यचनानुमारिणो  
 घोरजन्मयनपातभीरवः ।  
 तेषतुष्टयमिदं त्रिनैदितं  
 जीवितावधि विमुच्यते त्रिधा ॥ ३७

अर्थ—जे जोय समारयनके पातनी भयभीतहैं अर त्रिनैदिके वचनके अनुमाराहैं तिनफारे निदनांक मय मांस मधु लोणी ये चारहैं ते जीवनपर्यंत मनपनकायशोर भ्यागेएहें ॥ ३७ ॥

मद्यमांजनानीतमाग्धं  
 यैभनुष्कमिदमद्यते मदा  
 गृद्धिगमाथसंगभृंहकं  
 तैश्वर्यगतिभरो विगायते ॥ ३८ ॥

अर्थ—जिन फारे आग आगकता राग हिमाके संगके बडापने-बन्ने मय मांस मधु लोणी ये चार मदा वाइएहैं तिनफारे श्वर्यगति संगार आगाइएहें (धोएहें) ॥ ३८ ॥

यः शुभादिषु निवेशनेऽधमी  
 निद्यमेकमपि लोळमानसः ।  
 मौर्धनि जन्मजलवातनाशने  
 कथ्यते हिमिदं सर्वमस्तिगः ॥ ३९ ॥

अर्थ—जो भयभयनिव नीचपुण्य मदेगादिकनि विरौ निदलीक बहरी ली सेरयरा मंग भी मंगलममूर्धनि भयनकांडे, ली इहा कथेहें कथेएहेंको कथ बरिग ॥ ३९ ॥

देवे अस्तिगदिक, आग अस्तिगदिकना निवेश दिका । अस्ति शक्तिनी-  
 कथ्यते त्रिनैश्वर्ये,—

यत्र राक्षसपिशाचसंचरो  
 यत्र जंतुनिवहो न दृश्यते ।  
 यत्र मुक्तमपि वस्तु भक्ष्यते  
 यत्र घोरतिमिरं विजृम्भते ॥ ४० ॥  
 यत्र नास्ति यतिवर्गसंगमो  
 यत्र नास्ति गुरुदेवपूजनम् ।  
 यत्र संपमविनाशि भोजनं  
 यत्र संमज्जति जीवभक्षणम् ॥ ४१ ॥  
 यत्र सर्वशुभकर्मवर्जनं  
 यत्र सास्ति गमनागमक्रिया ।  
 तत्र दोषनिलये दिनात्यये  
 धर्मकर्मकुशला न भुञ्जते ॥ ४२ ॥

अर्थ—जा विर्ये राक्षस पिशाचनिका सचार होयहे, अर जा विर्ये  
 जीवनिका समूह न देखिरहे, अर जा विर्ये छोट्याभी वस्तु भक्षण  
 करिपहे अर जा विर्ये घोर अंधकार फैलैहै ॥ ४० ॥

अर जाविर्ये यतानके समूहस्य संगम नाही, अर जाविर्ये गुरु देवका  
 पूजन नाही, अर जा विर्ये संपमका विनाश करनेवाला भोजन होयहे,  
 अर जा विर्ये जीवनका भक्षण उपजैहै ॥ ४१ ॥

अर जा विर्ये सर्व शुभकर्मका वर्जन होयहे, अर जाविर्ये गमनाग-  
 मन क्रिया नाहीहै; ऐसा दोषनिका ठिकाना दिनस्य अभावरूप रात्रि  
 ता विर्ये धर्म कर्ममें प्रवर्षण पुग्दहै ते भोजन न करैहै ॥ ४२ ॥

भुञ्जते निशि दुराशया यत्र  
 गृद्धिदोषवशयतिनो जनाः ।

भूतराक्षसपिशाच शाकिनी-

संगतिः कथमर्माभिरस्य ॥ ४३ ॥

अर्थ—जे दुष्टचिन्त लोडपतारूप दोरके वरीभूत जन राक्षिरी  
भीजन करीहे तिन करि भूत राक्षस पिशाच शाकिनीसी संगति कैने  
त्यागिदीहे ।

भारार्थ—राक्षिभोजन वरीहे तिनके भूतारिकसी संगति अरु  
होवरी ॥ ४३ ॥

षल्मने दिननिशीथयोः मद्रा

यो निरम्नपमसंपमक्रियः ।

शृंगपुच्छशक्तसंगसर्जितो

मण्यतेपशुस्य मनीषिभिः ॥ ४४ ॥

अर्थ—जो पुरुष दूर करीहे वम संवम क्रिया जाने ऐमा राक्षिरीन-  
रिरी मद्रा व्यापडे सो पशु पक्षिगति करि मीग पूरु रक्षि पशु करि-  
दी ॥ ४४ ॥

आमनंति दिवसेषु भोजनं

यामिनीषु शयनं मनीषिणः ।

ज्ञानिनामरणेषु जगनं

शतये गुरुषु पूजनं कृतम् ॥ ४५ ॥

अर्थ—जो रक्षिरी व दिवसति रीरी जोवनको गुणके अर्थ करी,  
जो रक्षिरी रीरी मंत्राना रक्षिरी, जो वरी, जो ज्ञानिरी, आत्म-  
ज्ञाने वं रक्षिरी, जो वरी, गुणनीरी वरा पूजन रक्षिरी, जो  
करी ॥ ४५ ॥

शयने गुरुषु पूजा मद्रा

मन्त्रेण दिवसे दिवसवने ।

येन रात्रिदिवयोरनारतं

भुज्यते न कथितो नरोऽधमः ॥ ४६ ॥

अर्थ—गुणवान् उत्तमपुरुष करि सदा एकवार भोजन करिण्है, अर मध्यम पुरुषकरि ठव्वळदिनविषै दोषवार भोजन करिवेहै अर जाकरि दिनरात निरंतर भोजन करिण्है सो मनुष्य अधम नीच कर्नाहै ॥ ४६ ॥

ये विवर्ज्य यदनावमानयो-

र्षामरस्य घटिकाद्वयं सदा ।

भुंजते जितहृषीकवाजिन-

स्ते भवंति भवभारवर्जिताः ॥ ४७ ॥

अर्थ—जे पुरुष दिनके आदि अर अंतविषै सदा दोय घटीक वर्ज-  
करि भोजन करेहै ते जानेहै इटियरूप घोड़े जिनने ऐसे संसारके भार-  
करि रहित होयहै मुक्त होयहै ॥ ४७ ॥

ये विधाय गुरुदेवपूजनं

भुंजतेऽद्भि विमले निगकुलाः ।

ते विधुय लघु मोहतामसं

संभवंति सहसा महोदयाः ॥ ४८ ॥

अर्थ—जे पुरुष निर्भन्ध गुरुका अर्हम देवका पूजन करके निर्मल  
दिवसविषै निराकुल भए संन भोजन करेहै ते शीघ्र मोह अंधकारको  
नाशकरि सहसा महान् उदयरूप होयहै, केवलज्ञानको पावेहै ॥ ४८ ॥

यां विमुच्य निशि भोजनं त्रिधा

सर्वदापि विदधाति वासरे ।

तस्य याति जननार्द्रमंचितं

भुक्तिवर्जितमपास्तरेपमः ॥ ४९ ॥



भूतराक्षसपिशाच शाकिनी-

संगतिः कथममीभिरस्य ॥ ४३ ॥

अर्थ—जे दुष्टचित्त टोडुपनास्प दोपके बर्शाभूत जन रात्रिदिने भोजन करैहैं तिन करि भूत राक्षस पिशाच शाकिनीकी संगति कैसैं स्थागिहै ।

भारारि—रात्रिभोजन करैहैं तिनके भूतादिफल्सी संगति अवद होवै ॥ ४३ ॥

षण्मते दिननिशीथयोः मदा

यो निग्नपमसांपमक्रियः ।

जृंगपुण्ड्रशफसांगरजिनी

भण्यतेपशुरथं मनीषिभिः ॥ ४४ ॥

अर्थ—जो पुण्य दूर करैहै यम संपम क्रिया जाने ऐसा रात्रिदिन-दिने मदा भायै सो पद पंडितनि करि शीम पूंड्र रजिण पशु कदि-वै ॥ ४४ ॥

ब्रामनेनि दिवगेणु भोजने

यामिनीणु भयने मनीषिभिः ।

ज्ञानितामरापरणु जल्पने

ज्ञानये गुण्य पूत्रने कृतम् ॥ ४५ ॥

अर्थ—जदिदरे ते दिवगनि दिने भोजनको गुणके अर्थि करै, जउ जदिदरे ते मारण करिके अर्थि करै, जउ जदीनिके अमान-दिके बंजना करिके अर्थि करै, गुणको ते कथा पूत्रन करिके अर्थि करै ॥ ४५ ॥

ब्रह्मने गुणनेददा मदा

मयमेव दिवसे दिवसभवे ।

येन रात्रिदिवयोरनारतं

भुज्यते न कथितो नरोऽप्यमः ॥ ४६ ॥

अर्थ—गुणवान् उत्तमपुण्य करि सदा एकवार भोजन करिण्डे, अर मध्यम पुण्यकरि दुव्वत्तदिनविषे दोषवार भोजन करिवेहे अर जाकरि दिनरात निरंतर भोजन करिण्डे सो मनुष्य अथग नीच पत्याहे ॥ ४६ ॥

ये विवर्ज्य यदनावगमानयो-

र्षांगरस्य घटिकाढ्यं मदा ।

भुजते जिनदुर्पाकयाजिन-

स्ते भवंति मयभारवर्जिताः ॥ ४७ ॥

अर्थ—जे पुण्य दिनके आदि अर अंतविषे सदा दोष घटीक, यवे-  
करि भोजन करेहे ते जीनेहे इष्टियक्य घादे जिनने ऐसे संसारके भार-  
करि रहित होयहे मुक्त होयहे ॥ ४७ ॥

ये विषाय गुरुदेवपूजनं

भुजतेऽद्भि विमले निराकुलाः ।

ने विभूय लघू मोहतामसं

संभवंति सहसा महोदयाः ॥ ४८ ॥

अर्थ—जे पुण्य निर्ग्रन्थ गुणवा अर्हत देवका पूजन करवे, निमोऽ  
द्विगविषे निराकुल भए संने भोजन करेहे ते रात्रि मोह अरकारको  
नाशकरि सहसा महान् उदयक्य होयहे, वे.व.प्राज्ञको पारिहे ॥ ४८ ॥

यो विदुष्य निद्रि भोजनं त्रिधा

मर्षदापि विदधाति यामरे ।

तत्र पाति जननाहंमंषिर्न

भुक्तिवर्जितमसास्त्ररेपयः ॥ ४९ ॥

अर्थ—जो पुण्य मन वचन कायकरि सदा रात्रिविषै भोजन त्याग-  
करि दिनविषै भोजन करैहै तिस पापरहित पुण्य का भुक्तिरहित उफ-  
वासरूप आथा जन्म व्यतीत होयहै ॥ ५० ॥

यो निवृत्तिमविधाय बलमनं  
वासरेषु वितनोति मूढधीः ।  
तस्य किंचन न विद्यते फलं  
भाषिन न विना फलंतराम् ॥ ५० ॥

अर्थ—जो मूढबुद्धी पुरुष दिननिविषै निवृत्ति जो व्रत ताहि  
करि रात्रिविषै भोजन करैहै ताके किछु फल न होयहै, जातै जिन  
पितविना अतिशयकरि फल न होयहै ।

भावार्थ—कोऊ कहै कि दिनविषै भोजन न करना अर रात्रि  
करना यह भी व्रतहै ताकूं कछाहै कि ऐसा मार्ग नाही, जातै रा  
भोजन विषै द्रव्यभावहिंसाकी विशेषतातै ऐसे व्रततै किछु फल नां  
पापही होयहै । जैसे कोऊ अन्न छोडकरि मांसभक्षण करै तैसे ए  
व्रत पापहीके अर्थ जानना ॥ ५० ॥

ये व्यवस्थितमहःसु सर्वदा  
शर्वरीषु रचयंति भोजनम् ।  
निम्नगामि सलिलं निसर्गत-  
स्तेनयंति शिखरेषु शाखिनाम् ॥ ५१ ॥

अर्थ—जे पुरुष स्थाप्याहै दीपकादि प्रकाश जिनविषै ऐसी रात्रि  
विषै भोजनको रचैहै ते स्वभावतै नीचेको चलनेवाला जो जल ता  
शिखरनिविषै वृक्षनको प्राप्त करैहै ।

भावार्थ—इहां ऐसाहै कि कोऊ कहै हम रात्रिविषै दीपकादि का  
हिंसा निवारि लेइगे ताकूं कछाहै रात्रि-विषै हिंसा अनिवार्य होयहै

आगे भोजनसे, अथवा जीव वा दीपकादिबत्ति और जीव अथवा घाते-  
जाते, अथवा मृगादिषु जीवों का मारना, या तो मत्तिसिद्धि दिग्वा अथवा  
शुभे निवासे न जाय । तथा दण्डन दिवादि वि. जलका स्वभाव नीचे  
पदमेकत्वे सं. उपाय धरे देगा कोई प्रकार होयपर्यन्त, देगा जानना ॥ ५१ ॥

गृह्यन्ति गुणदायि वैगिनां

रात्रिभोजनमपाम्भेतनाः ।

पायकोद्गतनिम्बान्गलितं

ने पदंति फलदायि वाननम् ॥ ५२ ॥

अर्थ—जै अहानी रात्रिभोजन जीवनको गुणदायक करते है ने  
अभिषेक दण्डन दिग्वादि जन्वा जो वन लालि फलदायक करते है, सो  
शेव नाही ॥ ५२ ॥

ये भ्रुवंति दिनरात्रिभोगयो-

स्तुन्यतां गचित्पुण्यपापयोः ।

ने प्रकाशनममोः समानतां

दर्शयन्ति गुणदुःखकारिणोः ॥ ५३ ॥

अर्थ—जिनके गुण्य अथवा पाप जिनके ऐसे जे दिनरात्रि भोजन अथवा  
रात्रिभोजन दोऊनकी समान करते है, से गुण अथवा दुःखके करने  
वाते ऐसे प्रकाश अथवा अंधकार दोऊनकी समान दिखारिहै ।

भावार्थ—दिनमें भोजन धर्मरूपमें अथवा रात्रिभोजन पापरूपमें जैसे  
प्रकाश अथवा अंधकार समान बताव नाही ॥ ५३ ॥

रात्रिभोजनमधिधयन्ति ये

धर्मबुद्धिमधिकृत्य दुर्धियः ।

ने क्षिपन्ति पवित्रात्मिन्दलं

वृक्षपद्मतिचिह्नद्वये ध्वम् ॥ ५४ ॥

अर्थ—जे धर्मबुद्धीकरि रात्रि भोजनको सेवन करैहैं ते निश्चयकरि वृक्षनिकी पद्धतिकी वृद्धिके अर्थ वज्राग्निके समूहको खेपैहैं ।

भावार्थ—कोई मिथ्यादृष्टि दिनमें व्रत करै है रात्रिविषै भोजन करैहै ताकूं कयाहै—जैसे अग्नितै कोई प्रकार वृक्षनिकी वृद्धि न होय तैसे रात्रिभोजनविषै कोई प्रकार धर्म नाही, अधर्म हीहै ऐसा जानना ॥ ४५ ॥

ये विवृत्त्य सकलं दिनं क्षुधां  
भुंजते सुकृतकांक्षया निशि ।

ते विवृध्य फलशालिनीं लतां

भस्मयन्ति फलकांक्षया पुनः ॥ ५५ ॥

अर्थ—जे जीव पुण्यकी वांछा करि सर्व दिन क्षुधाको धारि रात्रि-विषै भोजन करैहैं ते फलकरि सांभित छताको बढाय फेर फलको वांछाकरि भस्म करैहैं ॥ ५५ ॥

ये सदापि घटिकाद्वयं त्रिधा  
कुर्वते दिनमुखांतयोर्बुधाः ।

भोजनस्य नियमं विधीयते

मासि तैः स्फुटमुपोपितद्वयम् ॥ ५६ ॥

अर्थ—जे पंडित पुरुष सदाही दिनके आदि अर अंतविषै दोय घडी भोजनका नियम करैहैं तिनकरि प्रगटपने एक मासमें दोय उप-वास करैहैं ।

भावार्थ—दिनविषै दोय दोय मुहूर्त भोजनका त्याग भये मासमें साठि मुहूर्तका त्याग होतै दोय उपवासका फल होयहै ॥ ५६ ॥

रोग शोककलिगटिकारिणी

राक्षसीव भयदायिनी प्रिया ।

बन्धका दून्निपादमंभरा  
 रोगिता इव निर्भगापदाः ॥ ५७ ॥  
 देहजा व्यग्नकर्मपेटिताः  
 पक्षगा इव विनीर्णभीतयः ।  
 निर्धनन्वमनपायि मर्ददा-  
 पाप्रदानमिव दण्डवृद्धिकम् ॥ ५८ ॥  
 संघटं गतिमिरं कूर्टीरकं  
 नीचविणमिव रागमंडुलम् ।  
 नीचजातिबुलकर्मसंगमः  
 शीलशौचप्रमपर्मनिर्गमः ॥ ५९ ॥  
 व्याधयो विविधदुःखदापिनो  
 दुर्जना इव परापकारिणः ।  
 मर्ददोषगणपीड्यमानता  
 रात्रिभोजनपरम्य जायते ॥ ६० ॥

अर्थ—रात्रिभोजन विषे तपर जो पुरख तार्क ऐसी सामग्री होयई  
 सो बर्तई,—राग अर लोक अर बल्ल अर गद् इनपी कग्नेवाली अर  
 राक्षसीकी अथी भय देने वाली स्त्री मिलई, अर महापापने उपजा  
 अलगवगहित सदा दुःख देने वाली ऐसी कल्या होयई, बहुरि दियाई  
 भयजिनने ऐमे पाप कर्मविषे प्रयाण सर्पकी अथी पुत्र होयई, बहुरि  
 दईई वृद्धि जानै ऐमा अपाप्रदानकी अथी निर्धनपना विनाशगहित सदा  
 होयई ।

भाषार्थ—जैमे अपाप्रदान निर्भग वृद्धि परै तैमे रात्रिभोजन निर्ध-  
 नपना निन्व बटाई ऐमा रछांग दियाई । बहुरि छिद्रनि करि व्याप्त  
 नीचपुरुषके विनकी अथी संकटरूप अधकार सहित घर मिलई, अर

नीच जाति कुलकर्म इनकी संगम होयहै, अर शील निर्लोमता समभाव धर्म इनका निर्गम होयहै अभाव होयहै, अर परके बुरे करनेवाले दुर्जनकी ज्यों अनेक दुःख देनेवाली व्याधि होयहै, अर सर्व दीपनके समूहकरि पीड्यमानपना दुखीपना होयहै । ऐसं रात्रिभोजन करनेवालेके दीपनकी उत्पत्ति होयहै ॥ ५७ ॥ ५८ ॥ ५९ ॥ ६० ॥

आगैं रात्रिभोजन त्यागनेवालेके गुण कहैहै;—

पद्मपत्रनयनाः प्रियंवदाः

श्रीसमः प्रियतमा मनोरमाः ।

सुंदरा द्रुहितरः कलालयाः

पुण्यपंक्तय इवात्तविग्रहाः ॥ ६१ ॥

श्रंशितव्यसनवृत्तयोऽमलाः

पावना हिमकरा इवांगजाः ।

शक्रमंदिरमिवास्ततामसं

मंदिरं प्रचुररत्नराजितम् ॥ ६२ ॥

लब्धचितितपदार्थमुज्ज्वलं

भूरिपुण्यमिव वैभवं स्थिरम् ।

सर्वरोगगणमुक्तदेहता

सर्वशर्मनिवहाधिवामिता ॥ ६३ ॥

शानदर्शनचरित्रभूतयः

सर्वयाचितविधानपंडिताः ।

सर्वलोकपतिपूजनीयता

रात्रिभुक्तिविमुखस्य जायते ॥ ६४ ॥

अर्थ—कमलके पत्रसमान हैं नयन जिनके अर प्रिय बचन बोल-

नेवाली लक्ष्मीके समान रमावने वाली ऐसी स्त्री होयहै, अरफला

विद्यानिष्ठी स्थान अर पुण्यवती संकतिगमान ग्रहण कियोहै शरीर जिनन  
ऐसी सुंदर बन्या होयै ॥ ६१ ॥

अर दूर बरहिं व्यगनवी प्रवृत्ति जिनन परित्र निर्मल चंद्रमा समान  
पुत्र होयै, अर इंद्रके मंडिरगमान अंधकाररहित प्रचुररत्ननिष्करी गोमिन  
ऐसा मंदिर मिलै ॥ ६२ ॥

अर पापार्थ वाणिज्य पदार्थ जाने ऐसी उग्रवल् महापुण्यसमान स्थिर  
बैभव होयै, अर सर्व गंगानके समूहकी रचित देवपना अर सर्व सुरा-  
नके समूहका आधारपना ॥ ६३ ॥

अर सर्व वाणिज्य रक्षणेमें प्रवीण ऐसी ज्ञान दर्शन चारित्र की  
संपत्ति अर सर्वलोकपतिनकी पूजनापना ये गरिभोजनने ओ विमुक्त  
ताके होयै ।

भारार्थ—शरीर गुण गरिभोजनके त्यागीके सर्व होयै ऐसा-  
जानना ॥ ६४ ॥

शूकरी शंखरी वानरी धीवरी

रोहिणी मंडली शोकिनी ऋशिनी ।

दुर्भगा निःसुता निर्धया निर्धना

शर्वरीभोजिनी जायते भामिनी ॥ ६५ ॥

अर्थ—गरिभवे भोजन परनेवाली स्त्रीहै सो शूकरी भीडनी वानरी  
शंखरी रोहिणी कुली शोकमहित ब्रंशरहित दुर्भग पुत्ररहित पतिरहित  
धनरहित ऐसी होयै ॥ ६५ ॥

पांधरंचिता देहजैवदित्ता

भूषणभूषिता व्याधिभिर्वर्जिता ।

भीमती हीमती भीमती धर्मिणी

वामरे जायते भुक्तिः शर्मणी ॥ ६६ ॥



अर्थ—वांछनिकरि गुक्त अर पुत्रनिकरि वैदित अर आमूलगनिकरि मूषित अर रोगनिकरि नर्जित लक्ष्मीवान उज्जावान बुद्धिवान धर्मात्मा ऐसी मुग्धरूप स्त्रीहै सो दिनविषे भोजनने होयहै ।

भावार्थ—जो रात्रिविषे भोजन त्यागहै सो पूर्वोक्त गुणमदित होयहै ॥ ६६ ॥

रात्रिभोजनविमोचिनो गुणा  
ये भवंति भवमागिनां परे ।

तानपास्य जिननाथभीशते  
वक्तुमत्र न परे जगत्रये ॥ ६७ ॥

अर्थ—जीवनिके रात्रिभोजन त्यागके उच्छ्रुत गुणहै तिनहि तीन-लोकविषे जिनराज सिवाय और कोई कहनेको मर्मथ नाहीहै ॥ ६७ ॥

ऐसे रात्रिभोजनका निषेध किया, आगे पच उद्वर फलनिका निषेध करैहै;—

यत्र सूक्ष्मतनवस्तनूभृतः  
संभवंति विविधाः सहस्रशः ।  
पंचधा फलमुद्वरोद्भवं  
तन्न भक्षयति शुद्धमानसः ॥ ६८ ॥

अर्थ—जाविषे सूक्ष्महै शरीर जिनके ऐसे जीव नानाप्रकार हजारों उपजैहै तिस पाच प्रकार उद्वरजनित फलकों शुद्धहै मन जायत ऐसा पुण्य है सो न खायहै ।

भावार्थ—ऊमर कठऊमर, पाकरफल, बड, पीपर ये पांच उद्वर फलहै ते व्रसजीवनिके उपजनेके टिकानेहै ताते बुद्धिवान इनका सर्वथा न खायहै ॥ ६८ ॥

क्षीरभूरुहफलानि भुञ्जते  
चित्रजीवनिचितानि येऽघमाः ।

जन्मयागरनिपातकारणं  
पातकं किमिह ते न कुर्वते ॥ ६९ ॥

अर्थ—जे पापीपुरुष असंख्यात जीवनिकरि भरे हुए क्षीरीरुक्षनिके फलनिकों खायहे ते संसारमागमें डूबनेको कारण कौनसा पापकौ इहां न करेहे, अपितु सर्वही पाप करेहे ॥ ६९ ॥

असंग्यजीव्यपघातवृत्तिभि-  
र्न धीवरैरस्ति समं समानता ।

अनंतजीव्यपरोपकारिणा-  
मुदुंबराहारविलोलचेतसाम् ॥ ७० ॥

अर्थ—अनंत जीवनके नाशकरनेवाले पंच उदंबरके आहारविष है लोलुप चित्त जिनका तिनकी असंग्य जीवनके घातम्पहे आजीविका जिनकी ऐसे दीमरनिकरि खाथ समानता नाही है ।

भावार्थ—उदंबरके खानेवालेके दीमरनमें भी अधिक पापीपना यहां दिखाया ऐसा जानना ॥ ७० ॥

ये स्यादंति प्राणिवर्गं विचित्रं  
दृष्ट्वा पंचोदुंबराणां फलानाम् ।

श्वघ्रायासं यांति ते घोरदुःखं  
किं निश्चिन्नेः प्राप्यते वा न दुःखम् ॥ ७१ ॥

अर्थ—जे नानाप्रकार जीवनिके समूहको देखकरि पंच उदंबर फल-  
निकों खायहे ते घोरदुःखम्प भरकत्तागकी प्राप्त होयहे, अथवा निर्दय  
जीवनिकरि कदा दुःख न पाइयहे, सर्वही पाइयहे ॥ ७१ ॥

अघप्रदायीनि विचिंत्य धर्मधी-  
 रुदुंबराणां न फलानि बल्मते ।  
 विघातुमिष्टे सुखदे प्रयोजने  
 करोति कस्तद्विपरीतमुत्तमः ॥ ७२ ॥

अर्थ—धर्मबुद्धी पुरुष है सो उद्वरनिके फलनिकी पापके देनेवाले जानि नहीं खायहै, जातैं मुखदायक कार्य करनेकी इष्ट होतसतैं कौन उत्तम पुरुष है सो तातैं विपरीत करैहै, अपि तु नाही करैहै ॥ ७२ ॥

आदावंते स्फुटमिह गुणा निर्मला धारणीयाः  
 पापध्वंसि व्रतमपमलं कुर्वता श्रावकीयम् ।  
 कर्तुं शक्यं स्थिरगुस्तरं मंदिरं गर्त्तपूरं  
 न स्थेयोभिर्दृढतरमृते निर्मितं ग्रावजालैः ॥ ७३ ॥

अर्थ—पापका नाश करनेवाला श्रावकसंबंधी निर्मलव्रतकी करता जो पुरुष ता करि आदि अंत विर्ये प्रगटपने इहा निर्मल गुण धारणा योग्यहै । इहा दृष्टात करैहै—जैसे अन्यत विर जे पत्थरनके समूह तिनकरि दृढ किया जो गर्त्तपूर कहिए, नीच ताविना स्थिर अर अतिभारी मंदिर करनेकी समर्थ नाही तैसै ।

भावार्थ—जैसे दृढमूल विना निधल मंदिर न होयहै तैसे पंच उद्वर तीन मकारके त्यागव्य मूलगुण विना निर्मल व्रत न होयहै तातैं आदितैं लगाय अंतपर्यंत प्रथम मूलगुण धारणा योग्य है ॥ ७३ ॥

दातुं दक्षः सुगतरुरिव प्रार्थनीयं जनानां  
 चित्ते येषामिति गुणगणो निश्चलत्वं विभक्तिं ।  
 सुक्या मौग्यं भुवनमहितं चिन्तितानामभोगं  
 ने निर्वाधामभितगतयः श्रेयसीं यानि लक्ष्मीम् ॥ ७४ ॥

अर्थ—जीवनिर्वाही वांछित होनेकी वापसृष्टममान प्रदीन ऐसा यह गुणनिष्ठा समूह जिनके चित्तविधि निश्चलपनेकी धर्मिने ते पुण्य धितन-प्राप्त है भोग जाविधे ऐसे लोकजित सुख की भोगकृति अनंत है इन जिनके, ऐसे भये मते निर्वाध मोक्षलक्ष्मीकी प्राप्ति होय ॥ ७४ ॥

मद्य मांस मधु पंच उद्वेग फल श्रमजीवनिके आधार

लक्ष्मी निश्चिभोजन इत्यादिक तीव्र पाप त्याग दृश्यकार ।

विमल मूलगुण प्रथम धरत ह्यम मय प्रत मोमा पावे मार

मार्त भोगि मार सुख श्रमते होय अमितगति जगतिरदार ॥

इत्युपासकाचारे पंचमः परिच्छेदः ।

इति श्री भक्तिगति आचार्यकृत ध्यायकाचार्यिर्ष

पंचम परिच्छेद समाप्त भवति

## अथ षट्ः परिच्छेदः ।

आगे द्वादश अणुव्रतका वर्णन करेंगे;—

मद्यादिभ्यो विरतव्रतानि कार्याणि शक्तितो मर्त्यः ।

द्वादश तरसा छेत्तुं शस्त्राणि शितानि भववृक्षम् ॥ १ ॥

अर्थ—मद्यादिकनिर्तं विरक्त जे मर्त्यपुरुष तिनकरि शक्ति सारू द्वादश व्रत करणा योग्यहै । ते व्रत ससारवृक्षकां वेगकरि छेदनेकां तीक्ष्ण-शस्त्रकी ज्योहै ॥ १ ॥

अणुगुणशिक्षाद्यानि व्रतानि गृहमेधिनां निगद्यंते ।

पंचत्रिचतुः संख्यासहितानि द्वादश प्राज्ञैः ॥ २ ॥

अर्थ—पंडितनि करि श्रावकनिके अणुव्रत गुणव्रत शिक्षाव्रत क्रमसें पांच तीन च्यार संख्या सहित द्वादश कहैहै ।

भावार्थ—पांच अणुव्रत तीन गुणव्रत च्यार शिक्षाव्रत ऐसें बारह व्रत श्रावकनिके कहैहै ॥ २ ॥

आगे अणुव्रतनिकां कहैहै;—

हिंसासत्यस्तेयाव्रतपरिग्रहनिवृत्तिरूपाणि ।

ज्ञेयान्यणुव्रतानि स्थूलानि भवन्ति पंचात्र ॥ ३ ॥

अर्थ—इहां स्थूल हिंसा झूठ चोरी अव्रत परिग्रह इनिर्ते निवृत्तिरूप पांच अणुव्रत जानना योग्यहै ॥ ३ ॥

तहां स्थूल हिंसात्याग व्रतकां कहैहै;—

द्वेषा जीवा जेनैर्मतास्त्र सस्यारप्रभेदेन ।

तत्र त्रसरक्षायां तदुच्यतेऽणुव्रतं प्रथमम् ॥ ४ ॥

अर्थ—ऊनीनिने प्रथम स्थावर के भेद करि दोषप्रकार जीव कहतें नहिं प्रथमीवनकी रक्षा होनततें सो प्रथम अणुवन कहिएतें ॥ ४ ॥

स्थावरपाती जीवस्यमसंग्ही विदुदपरिणामः ।

योऽक्षविषयाभिदृशः सः संयतासंयतो ज्ञेयः ॥ ५ ॥

अर्थ—जो जीव स्थावरपाती है स्थावरकी हिंसा त्यागनेकी अगमर्षद्वै, अरु प्रथम जीवनिवा भूते प्रकार रक्षासहितहै अरु विशुद्धहै परिणाम जाके अरु इन्द्रियके विषयनिने विरक्तहै सो संयतासंयत कहिए देसमतका धारक धारक जानना ॥ ५ ॥

हिंसा द्वेषा प्रोक्ताऽंभानारंभजत्वतोदक्षः ।

गृह्वामतो निवृत्तो द्वेषापि प्रायते तां च ॥ ६ ॥

गृह्वामसेवनरतो मंदकपायः प्रवृत्तितारंभाः ।

आरंभजां स हिंसां शून्योति न रक्षितुं नियतम् ॥ ७ ॥

अर्थ—एदितनियति आरंभ अरु अनारंभतें उपजने पने करि हिंसा सो कहतें दोष प्रकार गृह्वामतें निवृत्त जो मुनि सो तौ दोष प्रकार हिंसार्थी बचावहै ॥ ६ ॥

अरु जो गृह्वामके सेवनेमें रत आशयः मंदकपायस्वरूप वर्त्तियार्तें आरंभ जानै सो निश्चयकरि आरंभ जनित हिंसाके त्यागनेकी समर्थ न होय है ।

भावार्थ—मंदकपायरूप आग्निमोहके उदयतें अशरापने व्यापार आरंभविषै उपजै सो तौ आरंभजनित हिंसा कहिए, अरु बिना ही प्रयोजन चलाकरि आपही तीव्र कपायरूप हिंसा करना सो अनारंभजनित हिंसा कहिए सो इनि दोषप्रकार हिंसानिका त्याग तौ मुनीवरनिकै होय है, अरु गृहस्थके शक्तिहीनपनातें निर्दोष व्यापारादि जनित

हिंसाका त्याग न होय सकै है परंतु परिणामनिधिपै सर्वहिंसातैं महा  
अरुचि है, निंदा गर्हा आपकी करै है ऐसा जानना ॥ ७ ॥

शमिताद्यष्टकपायः प्रवर्त्तते यः परत्र सर्वत्र ।

निंदागर्हाविष्टः सः संयमासंयमं घत्ते ॥ ८ ॥

अर्थ—उपसमाए हैं आदिके अनंतानुवर्धी अप्रत्याख्यान रूप  
क्रोधादि अष्ट कपाय जानै अर सर्व ठिकानै निंदा गर्हा युक्त जो प्रवर्तै  
है सो संयमासयम जो देशत्रत ताहि धारै है ॥ ८ ॥

कामासूयामायामत्सरपैशून्यदैन्यमदहीनः ।

धीरः प्रसन्नचित्ताः प्रियंवदो वत्सलः कुशलः ॥ ९ ॥

हेयादेयपटिष्ठो गुरुचरणाराधनोद्यतमनीषः ।

जिनवचनतोयधौतस्नातकलंको भवविमीरुः ॥ १० ॥

सम्यक्तरत्नभूषो मंदीकृतमकलविषयकृतगृद्धिः ।

एकादशगुणवर्त्ती निगद्यते श्रावकः परमः ॥ ११ ॥

अर्थ—विषयनिकी वाछा अदेखसका भाव मायाचार मत्सरता चुग-  
लीखाना टीनपना जात्यादिमद इनकरि रहित होय अर प्रसन्नचित्त  
होय अर प्रियवचन कहनेवाला होय धीर होय प्रीतियुक्त अर प्रवीण  
होय ॥ ९ ॥

बहुरि त्यागने योग्य ग्रहण करने योग्य विषै पडित होय अर गुरु-  
चरणानके आराधने विषै उद्यमरूपबुद्धियुक्त होय, अर जिनवचनरूपज-  
लकरि धोया है मनका कलक जानै ऐसा होय, अर संसारतैं भयभीत  
होय ॥ १० ॥

बहुरि सम्यक्तरूप रत्नके आभूषण करि सहित होय, अर मंद करी  
है समस्त विषयनि करि छोलुपता जानै ऐसा होय,

बहुरि एकादश गुण जे ग्यारह प्रणिमा तिनरिपै प्रवर्तने बाळ  
होव सो परम ध्यायक कहिए हे ॥ ११ ॥

संरंभसमारंभारंभैर्योगकृतकारितानुमत्तः ।

सकृत्पर्यैरभ्यस्तंस्तरमा संपद्यते हिमा ॥ १२ ॥

त्रित्रित्रिचतुःसंग्म्यैः संरंभाद्यैः परस्परं गुणितैः ।

अष्टोत्तरशतभेदा हिमा संपद्यते नियतम् ॥ १३ ॥

अर्थ—संरंभ समारंभ आरंभ अर मन बचनकाय अर कृत कारित  
अनुमोदना अर क्रोध मान माया लोभसहित गुणे भए निकरि बेगकरि  
हिमा उपजेहे ॥ १२ ॥ संरंभादिक तीन अर योग तीन अर कृत  
कारित अनुमन ये तीन अर फयाय ग्यार इनतै परस्पर गुणो भएनि  
बहुरि एकसौ आठ भेदरूप हिमा निधय तै उपजेहे ।

भाषार्थ—संरंभ कहिए हिमा फरमेका श्रद्धानभिचार अर समारंभ  
फरिये हिमाके उपकरण मियाचना अर आरंभ कहिए जीवनिका मारना  
ये तीनों मन बचन काय करि गुणे भए नव भए; तिनकी कृत कारित  
अनुमोदना करि गुणे सत्ताईस भए तिनकी क्रोधादि ग्यार कयायनितै  
गुणे एकसौ आठ भए । इनमै एकसौ आठ भंगनिकी पलटन कैसे  
होव हे सो कहिए हे प्रथम संरंभ मन करि करषा क्रोधसहित ऐसा  
प्रथम भंग भया, बहुरि समारंभ मन करि करषा क्रोध सहित ऐसा  
दूसरा भंग भया, बहुरि समारंभ मन करि कन्या क्रोधसहित ऐसा  
तीसरा भंग भया, ऐमै प्रथमभेद समाप्त भए योगरूप दूसरा भेद पलटै  
जैसे मन कटा तहां बचन कहना, बहुरि ताकूं भी पूर्ण होतै तीसरा  
भेद पलटै, जैसे कृत कदा था तहां कारित कहना ताकूं भी पूर्ण होतै  
चौथा भेद पलटै जैसे क्रोध कदा तहां मान कहना । जैसे भंग पलट-  
नेते एकसौ आठ भेद हिमाके होयतै ऐसा जानना ॥ १३ ॥



जीवघाणेन विना व्रतानि कर्माणि नो निर्गम्यन्ति ।

चंद्रेण विना नक्षत्रेभ्यो निमिरजात्मानि ॥ १४ ॥

अर्थ—जीवनिकी दया विना व्रतों से कर्मनिरा नाश नहीं करे है जैसे चंद्रमा विना नक्षत्रों की किरणें अरकाशका समूह नहीं बनिरहे जैसे ।

भावार्थ—सब व्रतोंमें जीवदया प्रधानही ऐसा जानना ॥ १४ ॥

तिष्ठन्ति व्रतनियमा नाहिंमामंतरेण मुच्यजनकाः ।

पृथिवीं न विना दृष्टान्तिष्ठन्तः पर्वताः कापि ॥ १५ ॥

अर्थ—मुक्तके उपजावने हार व्रत अर नियमहैं ते दया विना नहीं तिष्ठते, जैसे पृथ्वी विना तिष्ठते पर्वत कड़ेभी न देखे तैरें ।

भावार्थ—सब व्रत नियमनिका आधार दयाही ऐसा जानना ॥ १५ ॥

निम्नानेनाहिंमामात्माधारां निपात्यते नरके ।

स्वाधारां न हि शाखां छिदानः क्व पतति भूमौ ॥ १६ ॥

अर्थ—आत्माका आधाररूप जो अहिंसा दया ताहि विनासता जो पुरुष ता करि आत्मा नरकविषै पटकिएहै, इहां दृष्टान्त कहिएहै अपने आधाररूप जाय बैठ्या ऐसी जो शाखा डाली ताहि छेदता संता पुरुषहै सो पृथ्वीविषै कहा नहीं पडैहै, पटैहीहै ॥ १६ ॥

स मतो विरताधिरतः स्वल्पकपायो विवेकपरमनिधिः ।

रक्षति यस्त्रसदशकं प्राणिहितं स्यावरचतुष्कम् ॥ १७ ॥

अर्थ—जो वेदेंद्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय पंचेंद्रियसैनी असेनी इनके पर्याप्त अपर्याप्त भेदकरि दश भेद भए यह जो त्रस दशक ताकी रक्षा करैहै, अर एकेंद्रिय बादर सूक्ष्म ताके पर्याप्त अपर्याप्त भेद करि च्यार भेद ऐसा स्यावर चतुष्क ताका हित बांछै है अथशतैं तिनकी हिंसा

होयह तो भी अनुमोदना नाही करेहै, भरहै कषाय जाके अर विवेक का परमनिधान सो विरताभिरत धायक कदाहै ॥ १७ ॥

सर्वविनाशी जीवस्यमहननं त्याज्यते यतो जैर्नः ।

स्यावरहननानुमतिस्ततः कृता नैः कथं भवति ॥ १८ ॥

अर्थ—यानै जीवहै सो सख्य हिसकहै तातै जैर्नानिकरि प्रसहि-  
साका त्याग करिपरे तिनपरि स्यावरका हिसाविषै अनुमोदना कैसे  
करिपरे ।

भावार्थ—खोट कहै श्यावरके प्रसहिसाका त्यागके ऐसे उपदेशमै  
स्यावरहितानै अनुमोदना आई ताह कदाहै जीव सर्वहीका हिसकहै  
ताके सर्व हिमा छूटती न जानि प्रसहिसा छुडाइर है किछू स्यावरकी  
हिमा धरनेका उपदेश नाही तातै स्यावरहितानै अनुमोदना नाही ऐसा  
जानना ॥ १८ ॥

त्रिविधा द्विविधेन मत्वा विरतिर्हिंसादितो गृहस्थानां ।

त्रिविधा त्रिविधेन मत्वा गृहचारकतो निवृत्तानाम् ॥ १९ ॥

अर्थ—गृहस्थनिके हिसादिकनिते विरति कहिण त्यागभाव सो दोय  
प्रकारसहित तीन प्रकारहै बहुरि गृह-पागीनिके तीनप्रकार सहित तीन-  
प्रकारहै ।

भावार्थ—कसे नाही करावे नाही मनवचन काय करि ऐसै छह  
प्रकार त्यागहै अनुमोदनासहित नवकोटीत्याग नाही जातै हिसादिकमै  
अनुमोदनका प्रसंग बन रह्यहै, ऐसा गृहस्थनिके जानना । बहुरि जे  
गृहाचारके त्यागीहै तिनके कृत कारित अनुमोदनासहित मनवचन का-  
यकरि नवकोटीका त्यागहै, ऐसा जानना ॥ १९ ॥

जीववपुषोरभेदो येषामेकांतिको मतः शास्त्रे ।

कायविनाशे तेषां जीवविनाशः कथं वाप्यः ॥ २० ॥

अर्थ—जिनके शास्त्रविषै जीवका अर शरीरका एकांतिकरूप अभेद कद्याहै तिनके शरीरके विनाश होतसतै जीवका विनाश कैसै न भया ॥ २० ॥

आत्मशरीरविभेदं वदंति ये सर्वथा गतविवेकाः ।

कायवधे हंत कथं तेषां संजायते हिंसा ॥ २१ ॥

अर्थ—जो विवेकरहित आत्माका अर शरीरका सर्वथा भेद कहैहै तिनके शरीरके वध होतसतै हिंसा कैसै होय यह बडे आश्चर्यकी बातहै ।

इहां भावार्थ ऐसाहै;—जो पहिले श्लोकमें तो सर्वथा जीवके अर शरीरके अभेद मानैहै तिनके शरीर विनाश होतै अवश्य जीवका नाश आया तब स्वयमेव हिंसा आई, अर जे सर्वथा जीवको अर शरीरको भेद मानैहै तिनके शरीरके नाशमें हिंसा न टहरी तब तेभी स्वच्छंद होतै हिंसकही भये । तातै दोऊ ही एकांती हैं ते हिंसकहै, ऐसा जानना ॥ २१ ॥

मिन्नाभिघ्नस्य पुनः पीडा संपद्यतेतरां घोरा ।

देहवियोगे यस्मात्तस्मादनिवारिता हिंसा ॥ २२ ॥

अर्थ—जातै देहतै कोईप्रकार भिन्न कोई प्रकार अभिन्न ऐसा जो जीव ताके शरीरका वियोग होतसतै अतिशय करि घोर पीडा उपजैहै तातै अनिवारित हिंसा होयहै ।

भावार्थ—लक्षण भेदकरि जीव शरीर भिन्नहै तथापि वधदृष्टि करि अभेदहै तातै जीवके शरीरके वियोग करनेमें अवश्य हिंसा होयहै, ऐसा जानना ॥ २२ ॥

तत्पर्यायविनाशे दृःसोन्पनिः परथ संकेशः ।

यः ना हिंसा मद्रिर्व्रयितव्या प्रपत्नेन ॥ २३ ॥

अर्थ—तिस पर्यायके विनाश होनसतै दुःखकी उत्पीत होय है अर जो मत्संश्लेश होयतै मो हिंसा संतनि करि पनसहित वर्जनकरना योग्यहै ॥ २३ ॥

प्राणी प्रमादकलितः प्राणव्यपरोपणं यदा धत्ते ।

मा हिंसाऽकथि दक्षैर्भवदृक्षनिपेकजलधारा ॥ २४ ॥

अर्थ—जो प्राणी प्रमाद करि म्याम भया संता शरीरादि प्राण-निका व्यपरोपणा पर्यहै घात करैहै सो पडितानि करि हिंसा कही है, येनाहै हिंसा समार वृक्षके शीत्तनेकी जलधाराममानहै ।

भाषार्थ—कदाचित्त आपके वा परके प्राणनिका नाशकरणा सो हिंसाका लक्षण कयाहै ॥ २४ ॥

ध्रियतां मा मृत जीवः प्रमादचद्रुलस्य निधिता हिंसा ।

प्राणव्यपरोपेऽपि प्रमादहीनस्य मा नास्ति ॥ २५ ॥

अर्थ—जीव मरो चाहै न मरो तीप्रमादसहित जीवके निधयरूप हिंसाहै, यदुरि प्राणनिका नाश होने भी प्रमादरहित कै सो हिंसा नाहीहै ।

भाषार्थ—हिंसाका मूलकारण प्रमाद है ताके होतै बाह्य प्राणव्यप-रोपण होने वा न होतै हिंसा अवश्य होयहै, अर ता विना अप्रमत्त मुनिरात्रके अवश्यतै प्राणव्यपरोपण होने भी हिंसा नाही कहीहै ॥२५॥

यो नित्योऽपरिणामी तस्य न जीवस्य जायते हिंसा ।

न हि शक्यते निहतुं केनापि कदाचनाकाशम् ॥ २६ ॥

अर्थ—जो नित्य परिणामरहित कूटस्थ है ताके जीवकी हिंसा न होयहै, जातै, कोऊ करि कदाचित् आकाश हनिवेकू . र्चन

भावार्थ—जो सर्वथा निव्य कृटम्य आमार्की मानेहै ताके हिंसाका जानना न होय तब ताका त्यागभी न होयहै, ताके निव्यपनेका एकदम मिथ्या दिलायाहै ॥ २६ ॥

क्षणिको यो व्ययमानः क्रियमाणा तस्य निष्फला हिंसा।  
चलमानाः पवमानो न चात्यमानः फलं कुरुते ॥ २७ ॥

अर्थ—जो क्षणिक नाश होता मता जीवहै ताकी करी भई, हिंसा निष्फलहै जैसे चलना जो पवन में चलना मता फलकी न करैहै तैसे ।

भावार्थ—जे जीवकी क्षणिक मानेहै तिनके क्षण क्षण आपहीका नाश भया ताकी हिंसा निष्फल भई, जैसे पवन आपही चाहे सो चलाया संता फल कहा करै ताके क्षणिक मानना भी मिथ्याहै ॥२७॥

यस्मान्नित्यानित्यः कायवियोगे निर्पीड्यते जीवः ।  
तस्माद्युक्ता हिंसा प्रचुरकलिलबंधवृद्धिकरी ॥ २७ ॥

अर्थ—जाते कथचित् निव्य कथचिन् अनित्य म्वरूप जीवहै सो शरीरके वियोग होतमते पीटिएहै दुर्गा होयहै, ताके प्रचुर पापकी बंध करनेवाली हिंसायुक्त है ।

भावार्थ—स्याद्वाद करि निव्य वा अनित्य स्वरूप जीव मानेहै तिनहीके हिंसाका ज्ञान होयहै, तब तिनहीके त्याग होयहै, एकातीके हिंसाका जाने बिना त्याग नाही । ऐसा इहां आशय जानना ॥ २८ ॥

देवातिथिमंत्रौषधपित्रादिनिमित्ततोऽपि संपन्ना ।

इहसा धत्ते नरके किं पुनरिह नान्यथा विहिता ॥२९॥

अर्थ—देव गुरु मंत्र औषध पितर इत्यादिकनिके निमित्तते भी प्राप्त भई हिंसाहै सो नरकमें धरेहै तो इहां फेर और प्रकार करी भई हिंसा नरकधिरे न धरेहै, धरेहैहै ॥ २९ ॥

आत्मयथो जीवयधम्यस्य च रक्षात्मनो भवति रक्षा ।

आत्मा न हि हंतव्यस्तस्य यधस्तेन मोक्तव्यः ॥ ३० ॥

अर्थ—जीवका बंधते सो आत्माका बंधते अर जीवकी रक्षाहे सो आत्माकी रक्षाहे, बहुरि आत्मा ननिचे योग्य नाही ता कारण तिस जीवका बंध त्यागना योग्यहे ।

भावार्थ—जीवनके घातविषे कषायभाव होयहे तिन कषायभावनि करि स्वभावघात होये आत्माहीका घात भया, अर जीवनिफी रक्षा ब्रह्मनेते कषाय घटे तब आधुरीकी रक्षा भई, बहुरि आत्मघात करना योग्य नाही । ताहे तिस त्यागना योग्यहे ॥ ३० ॥

सर्वाविरतिः कार्या विशेषयित्वातिचार भीतेन ।

पार्थापर्यं दृष्ट्वा सूत्रार्थं तत्पत्नो मुष्टा ॥ ३१ ॥

अर्थ—अतीचार करि भयभीत पुण्य करि सर्वा विरति कहिए सर्वप्रकार त्याग पूर्वापर देखकरि भाषित सूत्रके अर्थकी निश्चयते जान करि सो विशेषताकरि करणा योग्यहे ।

भावार्थ—त्याग करणा सो या प्रकार मेरे त्यागहे ऐसे विशेषणसहित पूर्वापर विचारके अर सूत्रके अर्थकी जानकरि, बहुरि मत कदाच प्रतिज्ञाभंग होय ऐसे मनमें भय रगकरि करणा । विना विचारे करणा योग्य नाही ॥ ३१ ॥

शक्त्यनुसारेण युधैर्विरतिः सर्वापि युज्यते कर्तुं ।

तामन्यथा दधानो भंगं याति प्रतिज्ञायाः ॥ ३२ ॥

अर्थ—शक्तिनि करि शक्ति अनुसार सर्वही त्याग करणा योग्यहे, बहुरि ता त्यागकी अन्यथा कष्टि शक्ति विनाही करता जो पुरुष सो प्रतिज्ञाके भंगकी प्राप्त होयहे ।

भावार्थ—व्रतधारणमें शक्ति छिपावनी नाही अर शक्तिसिवाय भी न करणा ऐसा इहां कहाँ ॥ ३२ ॥

आगे मिथ्यादृष्टी जीव केई प्रकार हिंसा थापैहैं तिनका निराकरण करिहैं;—

केचिद्वदंति मूढा हंतव्या जीवघातिनो जीवाः ।

परजीवरक्षणाय धर्मार्थं पापनाशार्थम् ॥ ३३ ॥

अर्थ—केई मूढ मिथ्यादृष्टी कहैहैं कि परजीवनकी रक्षा के अर्थ वा धर्मके अर्थ वा पापके नाशके अर्थ जीवनके मारनेवाले जे हिंसक जीव ते मारनेयोग्यहैं ॥ ३३ ॥

तिनसँ आचार्य कहैहैं;—

युक्तं तन्नैवं सति हिंस्रत्वात्प्राणिनामशेषाणाम् ।

हिंसायाः कः शक्तो निषेधने जायमानायाः ॥ ३४ ॥

अर्थ—ऐसा कहना युक्त नाही जातै या प्रकार माने संतै हिंस्र-पनेनै समस्तजीवनिकी उपजी जो हिंसा ताके निषेध करने निर्ये कौन समर्थ है ।

भावार्थ—हिंसक जीवनिकी हिंसा योग्य होय तो हिंसकजीव ही सबहीहैं सबकी हिंसा टरै तानै हिंसक जीवनिकी भी हिंसा 'करना' योग्य नाही ॥ ३४ ॥

आगे बाने कहाँया जे धर्मके अर्थ हिंसा करणी ताका निषेध करैहैं;—

धर्मोऽहिंसाहंतुर्हिंसातो जायते कथं तस्यः ।

न हि शान्तिः शान्तिमयः कोद्रवतो दृश्यते जातः ॥ ३५ ॥

अर्थ—धर्म है सो अहिमातेतु है अहिंसानी उपजई सो तमा सवार्थ धर्म हिमानी कैसै उपजै । इहां इहां कहेहै;—धाननै उपज्या जो पापल सो फोड़नै उपज्या न देगिरहै ।

भावार्थ—दयाहै कारण जाका ऐसा धर्म हिंसानी कदाच न होयहै, जाते कारणानुसृत्य कार्य होयहै; ताते धर्मके अर्थ भी हिंसा करना योग्य नाही ॥ ३५ ॥

आगे पढ़े धाने कदाथा जो पापके नाशके अर्थ हिसकनकी हिंसा करणी ताका निषेध करेहै;—

पापनिमित्तं हि यथः पापस्य विनाशने न भवति शक्तः ।

छेदनिमित्तं परशुः शन्नोति लतां न वर्द्धयितुम् ॥ ३६ ॥

अर्थ—पापका कारण जो जीवनिका घात सो पापके विनाशने विषै समर्थ न होय है जैसे छेदनेका कारण परसी सो लताके बढ़ावनेको समर्थ न होय तैसै ॥ ३६ ॥

आगे हिसकजीवनिकी हिंसा धर्मके अर्थ माने ताका निषेध करेहै;—

हिंसाणां यदि घाते धर्मः संभवति विपुलकलदायी ।

मुण्डविण्णस्तहि गतः परजीवविपातिनां घाते ॥ ३७ ॥

अर्थ—जो हिसकजीवनिके घातविषै बड़ा फलका देने वाला धर्म संभवेहै तो पर जीवनिकी हिसाकरनेवालेनिके घात में मुण्डविषै विण्ण आया ।

भावार्थ—हिसक जीवनिकी हिंसा करनेवाले नै उनके मुण्डमे विण्ण करवा सोई हिंसा भई, धर्मकाहेका; ऐसा जानना ॥ ३७ ॥

यस्माद्गच्छन्ति गतिं निहता शुरुदुःखसंकटां हिंसाः ।

तस्माद्दुःखं ददतः पापं न भवति कथं पीरम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—जाते हिसक हैं से मारे भए महादुःखका है संकट जा विषै ऐसी गतिकों जाय हैं ताते दुःख देनेवालेके घोर पाप कैसी न भया ॥ ३८ ॥



आर्गे दुःखी जीवनिका हिंसाका निषेध करे है—

दुःखवतां भवति वधे धर्मो नेदमपि युज्यते वक्तुम् ।

मरणे नरके दुःखं धोत्तरं वार्यते केन ॥ ३९ ॥

अर्थ—दुःखी जीवनिके घातविषे धर्म होय है ऐसा भी कदा योग्य नहीं, जार्ते तरण होनसर्ते नरकविषे अन्यत घोर दुःख कौन करि निवारिण है । भावार्थ—कोट कहै कि दुःखी जीवनिका हिंसाने धर्म होय है जार्ते वो बाका दुःख दूर भया ताकूं कइया है—वह जीव मरके नस्क गया तहा महा दुःख कैसे निवारैगा तार्ते अधिक दुःख टेनेते पापही है धर्म नहीं ॥ ३९ ॥

सुखितानामपि घाते पापप्रतिषेधने परो धर्मः ।

जीवस्य जायमाने निषेधितुं शक्यते केन ॥ ४० ॥

अर्थ—कोऊ कहै कि, सुखी जीवनके घात विषे भी विषय मुखरूप पापका निषेध होतै बड़ा धर्म है, ताकूं कइया है—ऐसा नहीं, जार्ते जीवनिके उपजते सर्ते पाप निषेधनेकौ कौन करे समर्थ इजिए है ।

भावार्थ—वह जीव अन्यत्र उपजैगा तहां पाप करैगा तार्ते उल्टा मिवाय पाप करावनेमे धर्म नहीं, पापही है ॥ ४० ॥

पार्वार्यविरुद्धं सम्यक्तमहीध्रपाटने वज्रम् ।

इत्थं विचार्य सद्भिः परवचनं सर्वथा हेपम् ॥ ४१ ॥

अर्थ—पडितनि करि या प्रकार विचारके पूर्वापर विरुद्ध अर सम्यक्त पर्वतके तोडनेकौ वज्र समान जो मिथ्या दृष्टानिका वचन सो सर्वथा त्यागना योग्य है ॥ ४१ ॥

अज्ञानतो यदेनो जीवानां जायते परमघोरम् ।

तच्छक्यते निहंतुं ज्ञानव्यतिरेकतः केन ॥ ४२ ॥

अर्थ—जो जीवनिर्षे, अज्ञानने महा जोर पाव लयजे हे मो पाव हाव विना बोन करि जनिरेवु समर्थे ज्ञानि ।

भावार्थ—अज्ञानजनित पाव ज्ञानहीने निर्दे आंगनिरे न निर्दे,  
ऐसा जानना ॥ ४२ ॥

यो धर्मार्थं लिङ्गे द्विस्राहिस्यगुग्दुःखिनो भवितः ।

पीयूषं स्वीकर्तुं न हन्ति विपयिटपिनो नृजम् ॥ ४३ ॥

अर्थ—जो जीव धर्मने, अर्थे हिसक वा अहिमक मुग्धी वा दुग्धी जीवनिर्षे मांगहे मो निधयकरि अमृतने, अर्थात्तर पत्रनेको निगम-  
निर्षे हनेरे, हांटेरे; ताणे अमृत पारंका ॥ ४३ ॥

मनसा वषणा वषुषा द्विमां विदधानि यो जनो मूढः ।

जन्मवनेर्मादीपे दीपं चंचर्यते दुःखी ॥ ४४ ॥

अर्थ—जो मूढ जन मन करे वषनकरि वाषकरि हिमा करेहे मो  
या दुःखी भया सेना दीप संगार बनविरे मरुत पाउ ताई अनिराय  
करि पूर्ण बोजिग हे ॥ ४४ ॥

हरी ताई अरिसा अणुजनका वणन किये आगे मत्प अणुजनका  
वणन बरेरे:—

यन्मलेच्छेत्पपि गर्हं यदनादेयं जिष्टक्षतां धर्मम् ।

यदनिष्टं साधुजनैस्तद्वचनं नोच्यते सद्भिः ॥ ४५ ॥

अर्थ—जो वचन भेष्टनिर्षे भी निरनीक अर धर्मको प्रहण  
पत्रनेके वातक, जे पुण्य निनेके अनादरने योग्य अर साधुजननि करि  
इष्ट नाही ऐसा जो असत्यवचन मो सेतजननि करि नाही बोणिए  
हे ॥ ४५ ॥

कामक्रोधक्रीडाप्रमादमदलोभमोहविद्वेषः ।

यचनमगन्धं संतो निगदन्ति न धर्मरतचिन्ताः ॥ ४६ ॥

अर्थ—प्रिय बोलनेमें चतुर है वाणी जिनकी ऐसे पुरुषनि करी कर्कश कहिए कठोरवचन बहुरि निद्रुवचन बहुरि औरनमें भेद करी देय ऐसा वचन बहुरि परस्पर विरोध उपजाय देय ऐसा वचन इत्यादि अनेक भेदन करि संयुक्त अप्रिय वचन कथा है ॥ ५४ ॥

भागै गर्ह वचनको कहै है;—

हिंसनताडनभीषणसर्वस्वहरणपुरः सरविशेषम् ।

गर्हवचो भाषंते गर्होञ्जितवचनमार्गज्ञाः ॥ ५५ ॥

अर्थ—हिंसारूप ताडनारूप भयानक सर्वद्रव्यहरण स्वरूप इत्यादिक हैं भेद जाके ऐसा जो निचवचन ताहि निचपना करि रहित वचनके मार्ग जाननेवाले हैं ते गर्ह वचन कहै है ॥ ५५ ॥

अर्धं पथ्यं तथ्यं श्रव्यं मधुरं द्रितं वचो वाच्यम् ।

विपरीतं मोक्तव्यं जिनवचनविचारकैर्नित्यम् ॥ ५६ ॥

अर्थ—जिनेंद्रके वचनके विचार करनेवाले पुण्य हैं तिन करि नित्यही प्रयोजनरूप सुगमकारी जैसाका तैसा मुनने योग्य मधुर हितरूप ऐसा वचन कटना योग्य है, अर इनते विपरीत उल्टा वचन है सो त्यागने योग्य है ॥ ५६ ॥

वैश्यामाप्रत्ययविषादकोषादयो महादोषाः ।

ज्वर्यनेऽनृतवचया कुभोजनेनैव रोगगणाः ॥ ५७ ॥

अर्थ—श्रीमें गोट्टे भोजन करि निधयने रोग उपजै है तेने अल्पव्य वचन करि वैश्याय श्रम अप्रतीति विषाद मोक्ष इत्यादि मन्त्रदोष हैं ते उपजै है ॥ ५७ ॥

वचमावृतेन जंतोत्रेनानि गर्वाणि स्रष्टिति नाशयते ।

विभूतकल्पवन्ति महता दवानयेनेव विपिनानि ॥ ५८ ॥

अर्थ—जैसे महान दावान्त बरि बड़े फलनि बरि सहित जे बन है ते मास बरिजिए है तैसे अमत्य बन बरि जीवके सर्व मत है ते हीम मास बरिजिए है ॥ ५८ ॥

इहां ताई अमाय गान अणुमतका बर्णन किया आगे अर्थाय मतका बर्णन की है—

क्षेत्रे ग्रामेऽरण्ये रथ्यायां पवि गृहे मले घोषे ।

प्रायं न परद्रव्यं नष्टं भ्रष्टं स्थितं वाऽपि ॥ ५९ ॥

अर्थ—रथ्यायै ग्रामायै वनस्थे गृहस्थे मार्गायै परस्थे चूर्णस्थे मायने, समुद्रस्थे दुर्गस्थे द्रव्ये पदा होय वा भूला होय वा धर्या होय सो भी ग्रहण करना योग्य नाही ॥ ५९ ॥

तृणमात्रमपि द्रव्य परकीयं धर्मकांक्षिणा युमा ।

अविनीतं नाऽऽदेयं बद्धिममं मन्यमानेन ॥ ६० ॥

अर्थ—धर्मका वांछक जो पुरन ता करि बिना दिया पराया द्रव्य अग्नि समान मान ता करि तृणमात्र भी ग्रहण करना योग्य नाही ॥ ६० ॥

यो यस्य हरति वित्तं न तस्य जीवस्य जीवितं हरति ।

आश्वासकरं वासं जीवानां जीवितं वित्तम् ॥ ६१ ॥

अर्थ—जो जाका धन हरे सो ताका प्राण हरे हे जाते जीवनके खिरता बधावनेवाला धन है सो मात प्राण है ॥ ६१ ॥

मदुष्टं पश्यन्ति शुभाः परकीयं कांचनं तृणं वाऽपि ।

संतुष्टा निजवित्तैः परतापविभीरुो नित्यम् ॥ ६२ ॥

अर्थ—दृष्टि है ते पराये सुवर्णकी वा तृणकी समान देखे है, कामे है ते अपने धननि की मनुष्ट अर परकी सताप उपजावनेमें भयभीत हैं ॥ ६२ ॥

अर्थ—द्विष नो भेदो चतुर है गणी जिनकी ऐसी पुरस्ति की कर्त्तव्य करिण कटोराचन बहुति निद्रुतान बहुति गोमनो भेद की देय ऐसा वचन बहुति परम्पर सिरो। उपजाय देय ऐसा वचन इतरी अनेक भेदन करि संपुक्त भद्रिष वचन कता है ॥ ५४ ॥

आगे गरी वचन की करे है:—

द्विगननाडनमीपणगर्वमहगणपुः सररिजेतम् ।

गर्वरनो भाषणे गरीजिनरचनमार्गजाः ॥ ५५ ॥

अर्थ—द्विगननाडनमीपणगर्वमहगणपुः सररिजेतम् इत्यादिक हैं भेद जाके ऐसा जो निद्रुतान गादि निद्रुताना करि सति वचनके मार्ग जाननेवाते हैं ते गर्व वचन करे है ॥ ५५ ॥

अध्यं पध्यं तध्यं श्रव्यं मधुरं द्वितं वनो वाच्यम् ।

विपरीतं मोक्तव्यं जिनवचनविचारकैर्नित्यम् ॥ ५६ ॥

अर्थ—जिनैदके वचनके विचार करनेवाते पुरूप हैं तिन करि नित्यही प्रयोजनरूप मुखकारी जैसाका तैसा मुनने योग्य मधुर हितरूप ऐसा वचन कहना योग्य है, अर इनतै विपरीत उल्टा वचन है सो त्यागने योग्य है ॥ ५६ ॥

वैरायासाप्रत्ययविपादकोपादयो महादोषाः ।

जन्यंतेऽनृतवचनमा कुभोजनेनैव रोगगणाः ॥ ५७ ॥

अर्थ—जैसै लोटे भोजन करि निधयतै रोग उपजे है तैसै असत्य वचन करि वैरभाष भ्रम अप्रतीति विपाद क्रोध इत्यादि महादोष हैं ते उपजे हैं ॥ ५७ ॥

वचसावृतेन जंतोर्व्रतानि सर्वाणि झटिति नाशयंते ।

विपुलफलवंति महता दवानलेनेव विपिनानि ॥ ५८ ॥

अर्थ—जैसे महान दावानल करि बड़े फलनि करि सहित जे बन है ते नाश करिनि है तेमें अगत्य बन करि जीवके सर्व मत है ते शीघ्र नाश करिनि है ॥ ५८ ॥

इहां तांई असाय त्याग अणुवतका वर्णन किया आगे अर्चौर्य मतका वर्णन करे हैं;—

क्षेत्रे ग्रामेऽरण्ये रथ्यायां पथि गृहे खले घोषे ।

प्राद्यं न परद्रव्यं नष्टं अष्टं स्थितं वाऽपि ॥ ५९ ॥

अर्थ—रातविषे मामविषे वनविषे गलीविषे मार्गविषे घरविषे घूरेविषे गावनके समूहविषे दूसरेका द्रव्य पड़ा होय वा भूला होय वा धरया होय सो भी ग्रहण करना योग्य नाही ॥ ५९ ॥

तृणमात्रमपि द्रव्य परकीयं धर्मकांक्षिणा शुभा ।

अवितीर्णं नाऽऽदेयं बद्धिममं मन्यमानेन ॥ ६० ॥

अर्थ—धर्मका वांछका जो पुरुष ता करि बिना दिया पराया द्रव्य अपि समान मान ता करि तृणमात्र भी ग्रहण करना योग्य नाही ॥ ६० ॥

यो यस्य हरति वित्तं न तस्य जीवस्य जीवितं हरति ।

आश्वासकरं पाद्यं जीवानां जीवितं वित्तम् ॥ ६१ ॥

अर्थ—जो ताका धन हरे सो ताका प्राण हरे है जाते जीवनके धिरता बधावनेवाला धन है सो वाद्य प्राण है ॥ ६१ ॥

सदृशं पश्यन्ति सुधाः परकीयं कांचनं तृणं वाऽपि ।

संतुष्टा निजवित्तैः परत्वापविमीरुो नित्यम् ॥ ६२ ॥

अर्थ—देखित हैं ते पराये सुवर्णकी वा तृणकी समान देखे है, कैसे है से अपने धननि करि संतुष्ट अर परकी संताप उपजावनेमें भयभीत हैं ॥ ६२ ॥

तैलिकलुब्धकस्रटिकमार्जारव्याघ्रवीवरादिभ्यः ।

स्तेनः कथितः पापी संततपरतापदानरतः ॥ ६३ ॥

अर्थ—तेली बहेलिया खट्टीक विलाव बाघ ढाँमर इन तैं चौर है सो अधिक पापी कथा है, चौर निरंतर परजीवनको दुःख देनेमें तत्पर है ॥ ६३ ॥

एसैं अचौर्य अणुव्रतका वर्णन किया । आगैं परदारा त्याग अणुव्रतको कहै है;—

स्वसृमावृद्धितृसदृशीः दृष्ट्वा परकामिनीः पटीयांसः ।

दूरं विवर्जयते भुजगीमिव घोरदृष्टिविपाम् ॥ ६४ ॥

अर्थ—पडित हैं ते परकी स्त्रीको बहनिसमान अर बडीको माता समान अर छोटीको बेटी समान देख करि भयानक दृष्टिविपै मर्वणीकी ज्यों दूर त्यागैं हैं ॥ ६४ ॥

न निषेच्या परनारी मदनानलतापितैरपि त्रेधा ।

क्षुत्क्षामैरपि पुरुषैर्न भक्षणीयं परोत्सृष्टम् ॥ ६५ ॥

अर्थ—काम आग्रे करि तसायमान जीवनि करि भी मन बचन काय करि परस्त्री सेवना योग्य नाही, जैसें क्षुधाकरि दुर्बल चतुर पुरुषनिकरि भी पराई औठ खाना योग्य नाही तैसें ॥ ६५ ॥

विपवह्नीमिव हिन्या पररामां सर्वया त्रिधा दूरम् ।

संतोषः कर्त्तव्यः स्वकलत्रेणैव मुद्धिमता ॥ ६६ ॥

अर्थ—परस्त्रीको विपवेलकी ज्यों सर्वथा मन बचनकायकरि दूर त्यागकें बुद्धिमान पुरुषकरि अपनी स्त्रीकरि ही संतोष कर्णा योग्य है ॥ ६६ ॥

नाशक्या सेवते भार्या म्यमपि मनोमवाकृलिताः ।

बन्दिशिसाप्याशक्या शीतानः सेविता दहति ॥ ६७ ॥

अर्थ—पतामरकी व्याकुल भए सतैं आसक्ति जो गृह ला करि अपनी भार्याको भी न सेवेहै जैसे दीतकरि पंडित पुरुषनि करि भी आसक्ति कर सेई भई अशिवी शिग्राह सो कदा न दहैहै, दहहीहै ॥ ६७ ॥

एषा सृष्टा श्रिष्टा दृष्टिविषा याजहिमूर्त्तिरिव हंति ।

सां परगमां भव्यो मनसापि न सेवने जातु ॥ ६८ ॥

अर्थ—ज्यो परछी देखी वा स्पर्शी वा आठिगी संती दृष्टिविष संपर्क मूर्तिवो ज्यो हनैहै निग परछीवो भव्यजाव है सो मनकारि भी कदाच न सेवेहै ॥ ६८ ॥

दीप्ताकारा तत्रा सृष्टा दहति पारकशिखेव ।

मारयति योपभुक्ता प्ररुद्धविषविटपिशाखेव ॥ ६९ ॥

अर्थ—जो परछी दीप्त है आकार जाका अर तत्तायमान सो स्पर्शी भई अशिवी शिग्रावो ज्यो दहैहै, अर जो भोगी भई वैलरही विष-वृक्षको शाखाको ज्यो मारेहै ॥ ६९ ॥

मोहयति क्षटिति चित्तं निषेच्यमाना सुरेव या नितरां ।

या गलमालिगंती निषीडयति गंडमालेव ॥ ७० ॥

अर्थ—जो परछी सेई भई मदिराको ज्यो अतिशयकरि जलदी चित्तको मोहते । मरुति जो गलेषो आठिगन पकती लिपटी गंडमाला नाम रोगको ज्यो पांडा उपजावैहै ॥ ७० ॥

ध्याघ्नीव याऽऽमिषाशा बिलोत्तरभमाजनं विनाशयति ।

पुरुषार्थपरैः सद्भिः परयोषा मा त्रिधा त्याज्या ॥ ७१ ॥

अर्थ—जो परछी मांसभगनी ध्याघ्नीको ज्यो पुरुषको देल करि जबरदस्ती विनाश करेहै सो परछी पुरुषार्थमें तपर जे संत पुरुष तिनकारि मन वचन कावतैं त्यागनी योग्यहै ॥ ७१ ॥



मलिनयति कुलद्वितयं दीपशिखेवोज्ज्वलापि मलजननी ।  
पापोपयुज्यमाना परवनिता तापने निपुणा ॥ ७२ ॥

अर्थ—जो परस्त्री दीपकी छोपसमान उज्ज्वलभी मैलकी उपजा-  
नेवाली है, वह कज्जल उपजावैहै यह रागदेश उपजावैहै बहुरि पारिनी  
उपयुग्ममाना कहिए संयोगकी प्राप्ति करी संती संताप करनेकी  
प्रवीणहै ॥ ७२ ॥

ऐसे परस्त्रीत्वाम अशुभतका वर्णन किया । आगे परिग्रहप्रमाण  
नामा अशुभतकी कहें,—

वास्तु क्षेत्रं धनं धान्यं दासीदासंचतुष्पदं भांडं ।  
परिमेयं कर्त्तव्यं सर्वं संतोषकृशलेन ॥ ७३ ॥

अर्थ—संतोषविधि प्रवीण जो पुरुष ताकरि वास्तु कहिए हाट  
हथेली क्षेत्र कहिए गेतीका क्षेत्र धन कहिए मुवर्ग रूपादिक धान्य  
कहिए चावत्र गहूँ आदिक बहुरि दामी दाम आदि द्विपद अर चतुष्पद  
कहिये घौडा गौ इत्यादिक भांड कहिए सामन वस्त्रादिक इन सबका  
परिमाण करना योग्य है ।

भावार्थ—जीवके तीन लोकके पदार्थनकी गृहणा हे मो सब दृष्टी  
न जानि गृहणा घटनेकी पदार्थनिका परिमाण करावै ॥ ७३ ॥

विध्यापयति महान्मा लोभं दासाप्रिमक्षिभं उरहितम् ।  
भुवनं तापयमानं संतोषोद्गाटमल्लिखेन ॥ ७४ ॥

अर्थ—महापुरुष हे मो दासान उममान अथवा जो लोभयादि संतो-  
षरूप महापुरुष कहि बुझावैहे पैसा हे लोभ देने अथि लोककी संताप  
उपजावैहे देसवै ॥ ७४ ॥

मवारंभा लोके संपद्यंते पश्चिग्रहनिषिन्नाः ।

मन्वस्यते यः संभं मन्वस्यति गः मरंमारंमम् ॥ ७५ ॥

अर्थ—शोकविदे मर्दे दिग्गदिव. आरंभदे ते पतिच्छेदके निमित्त होयते  
अन्यदा पतिच्छेद होयते इय काली जो पतिच्छेदको पटारहे सो मर्द  
आरंभको पटारहे ॥ ७५ ॥

ऐसे दिग्गदिवरिमाण अगुणकका वर्जन किया । आगे दिग्गदिवरिणाम  
गुणकको बंदे:—

कनुपट्टेऽपि कृत्वा मर्यादां यो न लंपयति धन्यः ।

दिग्गदिवरिणाम्य जिनेगुणग्रतं कृष्यते प्रथमम् ॥ ७६ ॥

अर्थ—जो धन्य पुरत दिग्गदिव. अष्टकविदे मर्यादाको परिके  
नाही उल्लेख है ताके जिनेदेषनि करि दिग्गदिवरिणामा गुणग्रत कच्छि  
ते । पूर्वादि आठो दिग्ग तथा उपउपग्रतने नीचे ऊपर ऐसे दसो  
दिग्गदिवके प्रसिद्ध नाहीं परंतुदिक्कनते जो मर्यादा पटनाके इतते  
दो से कमनादि नाहीं कलंगा सो प्रथम दिग्गदिवरिणामा गुणग्रत  
जानना ॥ ७६ ॥

मर्वारंभनिवृत्तेऽन्तः परं तस्य जायते पूतम् ।

पापापापपटीयः सुराकारि महाग्रतं पूर्णम् ॥ ७७ ॥

अर्थ—जिन दिग्गदिवरिणारी पुण्यके जिन मर्यादाते परे मर्द  
आरंभको निवृत्ति कहिए त्याग ताके सुराकारी अर पापके नाश  
करणेमे प्रशंसा ऐसा पूर्ण महाग्रत होय है ॥ ७७ ॥

आगे देशविरिणामको बंदे है:—

देशविरिणामपि कृत्वा यो नाश्रामति गदा पुनरोषा ।

देशविरिणामिद्वितीयं गुणग्रतं तस्य जायेत ॥ ७८ ॥

अर्थ—बहुरि देशवरी मर्यादा को भी करके जो पेट मन बचन  
पाप करि नाहीं उल्लेख है ताके देशविरिणामा दूसरा गुणग्रत  
होय है ।



सामाजिक ब्रह्मचर्यादी शोभी तथा गणनी इत्यादि दुष्ट धृति कर्त्तव्य ।  
 अथ अनर्थाद्विपरिणामि ज्ञानना ॥८१॥

बहो गार्गीके विशेष चरित्रः—

मंडलविद्यालक्ष्मणपूटमपूरानुक्रमिकादयो जीशाः ।  
 दिनकामने प्रायाः सर्वे पापौषकाग्रपराः ॥ ८२ ॥

अर्थ—दिनके, बालक जे पुण्य विनकी कुणा रिताय मुनी और  
 मुदा ली इ पापके, सब पापके, बगवने किं तदा जीवते ते प्राण  
 कर्त्ता योग्य नाही ॥ ८२ ॥

लोहे लाधा नीली कुमुम मदनं विषं ज्ञानः शरम् ।  
 संधानकं च पुष्पं सर्वं कर्त्तव्यं चरित्रम् ॥ ८३ ॥

अर्थ—दवामे तदा जे पुण्य विनकी लोहे लघ्व नील कुमुम  
 विष मल शर मीगना पुष्य सर्व स्वागता योग्य ॥ ८३ ॥

नीली गृष्णकंदो द्विचतुर्विंशतिदिने च दधिमधिते ।  
 विदं पुष्पिनमसं कालिगं द्रोणपुष्पिका त्याज्या ॥८४॥

अर्थ—नील अ गृष्ण अ कंद अ दोष दिनके पाने दही अ  
 ताः बहो बीज अ उडसहित टपरी लावा अन्न अर कलीदा अर  
 शर्त से स्वागता योग्य ॥ ८४ ॥

अथ अनर्थाद्विपरिणामि वर्णन किया । आगे सामाजिक चरित्रों  
 चरित्रः—

आहारो निःशेषो निजग्नभावादन्यभावाभुपयातः ।  
 योजनकापिकोष्मा परिहर्ष्यो दयालीलः ॥ ८५ ॥

अर्थ—जो ममत्त आहार अने स्वभावे अन्यभावको प्राप्त भवा  
 चरित्रम भवा बहो जो अनेतकापगतित है सो यह दयालुहित  
 पुण्यनिवृत्ति स्वागता योग्य ॥ ८५ ॥

त्यक्तार्त्तरीद्रयोगो मत्तया विद्धानि निर्मलध्यानः ।

सामायिकं महारमा मायायिक संयतो जीवः ॥ ८६ ॥

अर्थ—त्यागो है आत्तं गीद्र ध्यान जानें अरु निर्मल है ध्यान  
जार्क ऐमा महारमा गगद्वेषके त्याग तैं भेडे प्रकार यनमहित जीव  
सो सामायिककी धारि है ।

भावार्थ—गगद्वेषके त्यागने आत्मविधि “ म ” कहिए पुरुषको  
होय करि “ अयनं ” कहिए परिणामना मो समय है, अरु सदनका  
जो भाव सामायिक कहिए मो ऐमे सामायिकके काल समस्त साव  
योगके त्याग तैं श्रावककी भी उपचारतैं महारती कया है इतना  
यह विशेष जानना ॥ ८६ ॥

कालत्रितये त्रेधा कर्तव्या देवर्षदना सद्भिः ।

त्यक्ता सर्वारंभं भवमरणविभीतचेतस्कः ॥ ८७ ॥

अर्थ—जन्ममरणतैं भय भीत हैं चित्त जिनके ऐमे सत्पुरुषनि करि  
प्रभात अरु मध्याह्न अरु अपराह्न इन तीनों काल विधि मन वचन  
काय करि अरहंतादि देवनिकी वदना करनी योग्य है ॥ ८७ ॥

आगे प्रोपधोपवासको कहैं हैं;—

सदनारंभनिवृत्तराहारचतुष्टयं सदा हित्वा ।

पर्वचतुष्के स्थेयं संयमयमसाधनोद्युक्तैः ॥ ८८ ॥

अर्थ—गृहके आरभतैं रहित अरु यावजीव त्यागरूप संयम अरु  
धोड़ेकाल त्यागरूप यम इनविधि उद्यमी पुरुषनि करि पर्वचतुष्क कहिए  
एक मास मै दोष अष्टमी दोष चतुर्दशी इनविधि आहारचतुष्टय कहिए  
खाद्य स्वाद्य असन ( लेह ) पेय इनको त्यागकरि सदा तिष्ठना  
योग्य है ।

भावार्थ—इहाथ त्यागर्षे अर आहार त्यागर्षे संयमरूप पर्वत-  
शिरे गता विना भी प्रोषधोपवासनन जानना ॥ ८८ ॥

तापुल्लगेधमान्यान्मानाभ्यंगादिमर्वसंस्कारम् ।

प्रकृतप्रणवविर्षः श्यामज्यमुषोषिर्नम्यत्का ॥ ८९ ॥

अर्थ—तापुल्ल गाला ज्ञान उरटना इत्यादि सर्व संस्कारको त्याग-  
कर्ते प्रकृतप्रणवशिरे प्राप्त हुआ है पित जिनका ऐसे पांसहमदिन पुण्यनि  
करि विना सोय है ॥ ८९ ॥

उपवासानुपवामैकस्थानेष्वेकमपि विधत्ते यः ।

शुभवनुसारपरोऽर्था प्रोषधकारी जिनैकः ॥ ९० ॥

अर्थ—उपवास अर अनुपवास अर एकस्थान विरै एकको भी  
ओ शक्ति अनुसार धारै है गो एह सोमह करनेशान जिनदेवनि करि  
बना है ॥ ९० ॥

उपवासं जिननाया निगदंति चतुर्विधाशन त्यागम् ।

मज्जलमनुपवासमर्मी एकस्थानं मरुद्भुक्तिम् ॥ ९१ ॥

अर्थ—त्याग प्रकार आहारका जो त्याग ताहि वे जिननाथ  
उपवास करै है अर मज्जलमदिनको अनुपवास करै है अर एकवार  
भोजनको एकस्थान करै है ।

भावार्थ—इहां जन्मवार ऐव ताको अनुपवास कथा सो उप-  
वासका अनाव रूप अर्थ न ऐना विधिन् उपवास है ऐसा अर्थ  
घटण करना ॥ ९१ ॥

आगे भोगोपभोगपरिमाण मतकी करै है;—

भोगोपभोगसंग्रह्या विधीयते येन शक्तितो मरुया ।

भोगोपभोगसंग्रह्या शिक्षाक्षतमुच्यते सद्भिः ९२ ॥

अर्थ—जा करि शक्तिमार्ह भोग अर उपभोगकी संख्या करि है सो भोगोपभोगसंख्या नामा शिक्षाव्रत संतन करि कहिए है ॥ ९२ ॥

आगे भोगोपभोगका स्वरूप कहै है.—

तांबूलगंधलेपनमञ्जनभोजनपुरोगमो भोगः ।

उपभोगो भूषा स्त्रीशयनासनवस्त्रवाहाद्याः ॥ ९३ ॥

अर्थ—तांबूल मुगंधलेपन स्नान भोजन इत्यादिकतो भोग हैं अर भूषण स्त्री शयन आसन वस्त्र वाहन इत्यादिक उपभोग हैं । एकवार भोजनमें आवै सो भोग अर वार वार भोगनेमें आवै सो उपभोग ऐसै जानना ॥ ९३ ॥

आगे अतिधिसंविभाग व्रतकी है;—

परिकल्प्य संविभागं स्वनिमित्तकृताशनापघादीनाम् ।

भोक्तव्यं सागारैरतिधिव्रतपालिभिर्नित्यम् ॥ ९४ ॥

अर्थ—अतिधि व्रतके पालनेवाले श्रावकनि करि अपने अर्थ करे जे भोजन औपघादिक तिनका भले प्रकार विभाग करिके पात्रकों देके भोजन करना योग्य है ॥ ९४ ॥

अतति स्वयमेव गृहं संयममविराधयन्ननाहृतः ।

यःसोऽतिधिरुद्दिष्टः शब्दार्थविचक्षणः पुरुषः ॥ ९५ ॥

अर्थ—शब्दार्थ विषे विचक्षण जे पुरुष तिन करि सो साधु अतिधि कइया है, सो कौन ! जो समयकों नाही विराधता संता विना बुलाया स्वयमेव गृहिप्रति अनति कहिए गमन करै है, आवै है ॥ ९५ ॥

अशनं पेयं स्वाद्यं खाद्यमिति निगद्यते चतुर्भेदम् ।

अशनमतिधेर्विधेयो निजशक्त्या संविभागोऽस्य ॥ ९६ ॥

अर्थ—अज्ञान पैय भयान गाय ऐमे ग्यार प्रकार आहार कहिए ताका विभाग कहिए बांटा अपनी शक्ति मात्र इस अतिथि पात्रक करणा योग्य है ।

भावार्थ—अपने अर्थ किया आहार तार्मसे पात्रक अर्थ शक्ति-माफिक देना योग्य है ॥ ९६ ॥

मुद्गादनायमशुनं क्षीरजलायं जिन्नः पेयम् ।

तांबूलदाडिमार्यं स्यायं स्यायं च पूषायम् ॥ ९७ ॥

अर्थ—मूंग भात इत्यादि अज्ञान कहिए अर दूध जल आदिककी जिन्नदेवने पेय फला है अर तांबूल दाडिमादिकी गाय कहा है अर पूषा आदिकी गाय कथा है ऐसा जानना ॥ ९७ ॥

आगे सल्लेखनाका वर्णन धरे है;—

ज्ञात्वा मरणागमनं तत्त्वमतिर्दुर्निवारमति गहनम् ।

पृष्ठा बांधव वगं करोति सल्लेखनां धीरः ॥ ९८ ॥

अर्थ—दुर्निवार अर अतिगहन कहिए भयानक ऐसा जो मरनका आगमन ताहि जानि करि निधयरूप है मति जाकी ऐसा धीर पुरुष है सो बांधवनके समूहकी पृष्ठ के मोह छुड़ावके आगम प्रमाण सल्लेखनाविधिकी थावक मांडै है, ऐसा जानना ॥ ९८ ॥

आराधनां भगवतीं हृदये विधत्ते

मज्ञानदर्शनचरित्रतपोमयीं यः ।

निर्भूतकर्ममलपंकमयीं महात्मा

शर्मोदकं शिवमरोवरमेति हंसः ॥ ९९ ॥

अर्थ—जो मस्यदर्शन ज्ञान धारिष तरमयी जो आराधना भगवती ताहि हृदयविधि धारे है सो एत महात्मा हंस मोक्षसरोवरकी



प्राप्त होय है, कैसा है मोक्षसरोवर नाश भया है कर्ममल रूप कीच जाका अर मुखरूप है जल जा विषै ऐसा है ।

भावार्थ—जो सन्यास भग्न करै है सो थोडेही कालमें मोक्षकी प्राप्त होय है, ऐसा नियम जानना ॥ ९९ ॥

आगै अधिकारकी संकोच है;—

जिनेश्वरनिवेदितं मननदर्शनालंकृतं

द्विपङ्क्तिधमिदं व्रतं विपुलबुद्धिमिर्धारितम् ।

विधाय नरखेचरत्रिदशसंपदं पावनीं

ददाति मुनिपुंगवामितगतिस्तुतां निर्धृतिम् ॥ १०० ॥

अर्थ—जिनेश्वर देवनै कइया अर ज्ञानदर्शन करि शोभित अर महाबुद्धीनकरि धरया ऐसा यह द्वादश प्रकार व्रतहै सो मनुष्य विद्या-धर देव इनकी पवित्र सपदाकी प्राप्त कराकै निर्वाण अवस्थाकी देयहै कैसीहै निर्वाण अवस्था अप्रमाणहै महिमा जिनकी ऐसे मुनिनविषै श्रेष्ठ मुनि तिनकरि स्तुतिगोचर करीहै ।

भावार्थ—मुनीन्द्र जाकी स्तुति करैहै ऐसी मुक्तिकी प्राप्त करैहै ॥ १०० ॥

सवैया तेईसा ।

पांच अणुव्रत तीन गुणव्रत शिक्षाव्रत पुनि निर्मल च्यार ।

सम्यग्दर्शन ज्ञानसहित जो धारै तीव्र प्रमाद निवार ॥

नर विद्याधर अमर संपदा अद्भुत भोगि भोग जगसार ।

लहै अमितगति सुखमय शिवपद बंदू चरण तास अविकार ॥

इति श्रीमदमितगत्याचार्यकृते श्रावकाचारे षष्ठ परिच्छेदः ।

ऐसैं श्री अमितगति आचार्यधिरचित श्रावकाचारविषै

षष्ठ (छठा) परिच्छेद समाप्त भया ।

## अथ सप्तम परिच्छेदः ।



आर्ये ब्रह्मनिष्ठी मरिमा दिशतिर्हैः—

घ्नानि पुण्याप भवंति जंतो—

ने माति धाराणि निर्वेदितानि ।

मन्यानि किं वापि फलंति लोके

मलोपलीढानि कदाचनापि ॥ १ ॥

अर्थ—जीवक अतीचारमहित सेये भर मतहै ते पुण्यके अर्थ होय है, इहा दृष्टांत कहैहै जैसे दिना नीदे कूडासहित मलसहित लोकविषै सस्य है ते फल फल भी कदाचित भी फलैहै ! अपि तु नाही फलैहै ॥ १ ॥

मत्वेति सद्भिः परिवर्जनीयाः

व्रते व्रते ते खलु पंच पंच ।

उपेयनिष्पत्तिमपेक्षमाणा

भवंत्युपाये मुधियः सयत्नाः ॥ २ ॥

अर्थ—ऐसी मान फलि पंडितनि करि व्रत व्रत विषै ते पांच पांच अतीचार त्यागने योग्य है, जाते उपेय कहिए जाके अर्थ उपाय करिए . ऐसा कार्य ताकी उत्पत्तीका वाछते पंडित है ते उपाय जो ताका पारण ताविषै यन्न सहित होयहै ।

भावार्थ—व्रततौ उपेय है अर अतीचार त्याग उपाय है जो व्रत-जकी वाछ है तो अतीचागत्याग करहु, ऐसा उपदेश जानना ॥ २ ॥

आगे अहिमात्रतके अतीचार कहें;—

भारतिमात्रव्यपरोपघात-  
छेदान्नपानप्रतिषेधबंधाः ।

अणुव्रतस्य प्रथमस्य दक्षैः  
पंचापराधाः प्रतिषेधनीयाः ॥ ३ ॥

अर्थ—भारका प्रमाणतें उलंघकणि धरना, अर घात कहिए पीडा का कारण लाठी वत आदितें मारना इहां प्राणके नाशरूप घातका अर्थ नहीं ग्रहण करणा जातें वह तो अनाचारस्वरूपही है, बहुरि छेद कहिए कान नासिकादिक अंगनिका छेदना, बहुरि अन्नत्रलका रोकना, अर बंध कहिए बाँधित स्थानको न जाने देना रस्सादिक तें बांधना सो बंध कहिए । ये प्रथम अणुव्रतके पांच अतीचार पडितनि करि त्यागना योग्यहै ॥ ३ ॥

आगे सत्य अणुव्रत अतीचार कहै है—

न्यासापहारः परमंत्रभेदो  
मिथ्योपदेशः परकूटलेखः ।

प्रकाशना गुह्यविचेष्टितानां  
पंचातिचाराः कथिता द्वितीये ॥ ४ ॥

अर्थ—न्यासापहार कहिए कोऊने द्रव्य सौंप्या था ताकूं वह भूलके थोडा मागे तन कहै इतनाही है, बहुरि पर मंत्रभेद कहिए अंगविकारादिकतें परके अभिप्रायको जानिईराने ताका प्रकाशना, बहुरि स्वर्ग मोक्षके कारण क्रियाविशेषनिर्भे अन्वया प्रवर्त्तावना सो मिथ्यापदेश कहिए, बहुरि दूसरेके कहनेतें टगनेके अर्थ झूठ लिखना सो कूटलेख-क्रिया है, बहुरि स्त्रीपुरुषादिकके गुण चरित्रका प्रकाश करना सो

रहोभ्याख्यान कहिए । ये पांच अतीचार दूसरे सत्य अणुव्रतविषे कहैहैं ॥ ४ ॥

आगे अचार्य अणुव्रतके अतीचार कहैहैं;—

व्यवहारः कृत्रिमकः स्तेननियोगस्तदाहृतादानम् ।

ते मानवंपरीत्यं विरुद्धराज्यव्यतिक्रमणम् ॥ ५ ॥

अर्थ—छूटे मुवर्णादि बनावना सो कृत्रिमव्यवहार कहिए, बहुरि चौरको चौराँमें लगावना सो स्तेन प्रयोग कहिए, बहुरि चौर करि त्याग द्रव्यका ग्रहण करना सो तदाहृतादान कहिए, बहुरि बडे मानत लेना छोटे मानत देना सो मानवंपरीत्य कहिए, बहुरि राजनियमका उल्टवन करना महंगूल आदि चोरना सो विरुद्ध राज्यातिक्रमण कहिए । ये तीसरे अणुव्रतके पांच अतीचार कहे ॥ ५ ॥

आगे परस्त्रीन्याग अणुव्रतके अतीचार कहैहैं;—

आत्तानुपात्तेत्वरिकांग संगे—

वनंगसंगो मदनातिसंगः ।

परोपयामस्य विधानमेते

पंचातिचारा गदिताधतुर्थे ॥ ६ ॥

अर्थ—परस्परि ग्रहण करी बहुरि नाही ग्रहण करी ऐसी व्याभिचारिणी स्त्रीके अंगका संग करणा निनग्रनि गमन करना, बहुरि अनंगसेन कहिए हस्तारिकने मीडा करणा, बहुरि कामका तीव्र परिणाम, अर दूसरेका विवाह पठावना । ये पांच अतीचार अणुव्रतके कहैहैं ॥६॥

आगे परिमल परिणाम अणुव्रतके अतीचार कहे हैं ।

क्षेत्रवास्तुधनधान्यद्विरण्य-

स्पर्णकर्मकरकुप्यकसंग्याः ।

योऽतिलंघति परिग्रहलोभ-

स्तस्य पंचकमवाचि मलानाम् ॥ ७ ॥

अर्थ—क्षेत्र कहिए खेतीका स्थान वास्तु कहिए घर इन दोऊनका एकस्थान, अर हिरण्य कहिए सोना इनका एकस्थान, अर धन मौ आदि अर धान्य गेहूँ आदि इनका एकस्थान अर, कर्मकर दासीदान, अर कुप्य कहिए बख्खादि इन पांचनकी संख्याकी जो परिग्रहके लोभ-सहित उलंघ्ये ताके आतीचारनिका पंचक कथा ॥ ७ ॥

आगे दिग्विरतिके पांच अतीचार कहे हैं,—

स्मृत्यंतरपरिकल्पनमूर्ध्वाघस्तिर्यग्व्यतिक्रमाः प्रोक्तः ।

क्षेत्रविष्टद्धिः प्रांतरतिचाराः पंच दिग्विरतेः ॥ ८ ॥

अर्थ—जो योजनादिकका परिमाण करया था ताहूँ भूल और मुरत करना, अर ऊपर नीचे तिगछा इन तीनून्निका उलंघना कहिए पर्वतादिपै चढना कुपादिमें उतरना चिटादिमें घुमना ऐमें तीन भाग, बहुरि लोभके वशने क्षेत्रकी वृद्धि वाछना । ये दिग्विरतिके पांच अनिचार पंडितनिने कहे हैं ॥ ९ ॥

आगे देशविरतिके अतीचार कहे हैं,—

आनयनयोग्ययोजनपुद्गलजल्पनशरीरसंज्ञाख्याः ।

अपराधाः पंच मता देशवने गोचराः मद्भिः ॥ ९ ॥

अर्थ—मर्यादा बहिरे आनयन कहिए बुझाना, बहुरि मर्यादा बहिरे योग्य योजन कहिए प्रयोग, बहुरि मर्यादा बहिरे लोटादिकी कार्य करवाना सो पुद्गलजल्पन कहिए, अर मर्यादा बहिरे पुढरने बघन बोटना, अर मर्यादा बहिरे शरीरकी सम्भ्याने कार्य करवाना । ये पांच अतीचार देशविरतिके मनेने कहे हैं ॥ ९ ॥

आगे अनर्थ दंडविरतिके अतीचार कहे हैं,—

असमीक्षितकारित्वं प्राहुर्भोगोपभोगनैर्ध्वम् ।

कंदर्पं कौत्कुच्यं मौख्यमनर्थदंडस्य ॥ १० ॥

अर्थ—बिना विचार प्रयोजनसे अधिक करना, बहुत भोग उप-भोगनिवा निःप्रयोजन सेचये करना, बहुत सीखरागके उद्यमे हास्य मित्या अयोग्य बचन कहना सो कंदर्प कहिए, बहुत से सीखराग अर अयोग्य बचन दोऊ पर विवे शरीरके कर्म परियुक्त होय सो कौत्कुच्य कहिए, बहुत हीटपणा सहित अराधीर्मान बहुत प्रशय करना सो मौख्य कहिए । ये पांच अनर्थ दंडविरतिके अतीचार हैं ॥ १० ॥

आगे सामायिकके अतीचार कहे हैं,—

योगा दुःप्रणिधाना स्मृत्यनुपस्थानं मादराभावः ।

नामायिकस्य जैर्नरतिचाराः पंच विज्ञेयाः ॥ ११ ॥

अर्थ—दुःप्रणिधान कहिए पापकर्म अथवा अन्यथा योगकर्म अर मन बचनकाय मीन सो ये भये, बहुति मुरत भूल जाना अर आदरका अभाव, ये पांच अतीचार सामायिकके जैर्नरतिचारे जानने योग्य हैं ॥ ११ ॥

आगे पोसकके अतीचार कहे हैं,—

ज्ञेया गतोपयोगा उत्तमर्गादानसंस्तरकविधाः ।

उपराते मुनिमुत्पैरनादरः स्मृत्यममवस्था ॥ १२ ॥

अर्थ—गतोपयोग कहिए बिना देगे वा बिना प्रणिष्ठागत करे भूमिमें मत्तगृह तजना वा अर्थादिकनिशी दूजाके उपकरण संशयान्वा-दिक वा आपके औटना आदिके अर्थ वस्त्रादिक इन्करा कल्प करना बहुति शाप्य विज्ञानवा, तीन ती ये भर बहुति अन्तर कहिए

आवश्यकनिर्मे उत्साहका अभाव भर पोसहफी मुरत भूल जान, ९  
पांच अतीचार मुख्य आचार्यनिर्मे पोसह विधि कहे हैं ॥ १२ ॥

आगे भोगोपभोग प्रतिके पांच अतीचार कहे हैं;—

महचिचं संवद्धं मिश्रं दुःखरूपकमभिपनाहारः ।

भोगोपभोगविरतेरतिचाराः पंच परिवर्ज्याः ॥ १३ ॥

अर्थ—गणितवस्तु तथा सन्नितवस्तु करि स्पर्शित, वस्तु तब  
सन्नित करि भिन्ना वस्तु बहुरि दुःखनिं पये ऐसा वस्तु बहुरि कान  
बहुवस्तेपात्र वस्तुता आहार, ये भोगोपभोगविरतिके पांच अतीचार  
त्यागने योग्य है ॥ १३ ॥

आगे दानके अतीचार कहे हैं;—

मन्मरकालानिक्रमगचित्तनिशेषणा विधानानि ॥

दानेऽप्यप्यदेशः परिहृतव्या मत्ताः पंच ॥ १४ ॥

अर्थ—दानादि में अनादर भाव सो मांसय कष्टि, बहुरि योग्य  
कारण इत्येत वचना, बहुरि गणित कमल्यसादि विधि भोक्त  
धरना, बहुरि सन्नितने दाकना, बहुरि अन्य में आज्ञा करि दियवना,  
ये दानके पांच अतीचार त्यागना योग्य है ॥ १४ ॥

आगे मंगलान्त अतीचार कहे हैं;—

जीरितमग्नाशंसानिदानमिश्रानुरागमुत्सर्गता ।

मन्यामे मत्पंचकमिदमाहूर्तिदितरिजेयाः ॥ १५ ॥

अर्थ—मत्पंचक अर्थ अतिव्यर्थ है सो वत्त वेमे वि वेतो  
अतिव्यर्थ सो अतिव्यर्थ करि, बहुरि मत्पंचके उपपन्न में आहूर्ति  
पने करि मत्पंचक अर्थ अतिव्यर्थ करि, बहुरि मत्पंचके  
अतिव्यर्थक अर्थ अतिव्यर्थ, बहुरि मत्पंचके अतिव्यर्थ अर्थ  
अतिव्यर्थ अर्थ अतिव्यर्थ करि, बहुरि मत्पंचके अतिव्यर्थ अर्थ

निश्चयिष्यन् वरुणा शो मुग्धीमा कल्पि । यद् सत्याय विधे अती-  
 चरनिष्ठा श्रे येष्व, ताहि जाया हे जानिरे योग्य तिनर्न देने अर्हता-  
 दिक हे ते वरे हे ॥ १६ ॥

आगे सम्पददर्शनके अतीचार बट्टे,—

शैकावर्षाया निदा परशमासंमनवा मला पंच ।

परिहर्तव्याः मज्जिः सम्यक्तपिशोपिभिः मतनम् ॥ १६ ॥

अर्थ—शिनयचनमे शका करणी, वा भोगनिष्ठी वाटा करणी, वा  
 धर्माचानमे निदा करणी, ग्यानि करणी, विष्यादृष्टीनका प्रशस्ता करणी,  
 भुति करणी, ये पाच अतीचार हे ते सम्यक्त रिशोजन करनेवाले जे  
 सम्पुत्र निनयति निर्गम त्यागना योग्यहे ॥ १६ ॥

आगे अतीचारनके वधनका संकोचहे,—

मत्तति परिहरति मलानामेयमुत्तमधियो मतशुद्धये ।

भावका जगति ये शुभचित्तान्ने भवंति भुवनोत्तमनाथा

॥ १७ ॥

अर्थ—या प्रकार लोकमे उत्तमबुद्धी भावकहे जे अतिचारनकी  
 मत्ताते कहिण सत्तरका समूह ताहि त्यागहे ते शुभचित्त लोकके उत्तम  
 नाथ होयहे ॥ १७ ॥

आगे कल्पनिष्ठा निषेध बट्टे,—

निदानमायाविपरीतदृष्टी-

नाराचपत्नीरिव दुःखकर्त्रीः ।

ये व्रजयंतेगुरुभागिनस्ते

निःशुल्यता शर्मकरी हि लोके ॥ १८ ॥

अर्थ—जे पुण्य धाननकी पक्तिगमान दुःख करनेवाली जो भोग-  
 निष्ठी वांटाकूप निदान अर बुटिल भावकूप माया अर विपरीत दृष्टि



आयश्यकनिर्मे उत्साहका अभाव अर पोसहकी मुरत भूळ जाना, ए पांच अतीचार मुख्य आचार्यनिर्मे पोसह विधि कहे हैं ॥ १२ ॥

आगे भोगोपभोग विरतिके पांच अतीचार कहे हैं;—

सहचित्तं संवद्धं मिश्रं दुःखपक्रमभिपसाहारः ।

भोगोपभोगविरतेरतिचाराः पंच परिवर्ज्याः ॥ १३ ॥

अर्थ—सचित्तपस्तु तथा सनित्तपस्तु करि स्थित, वस्तु तथा सचित्त करि गिन्या वस्तु बहुरि दुःखनै पंच ऐमा वस्तु बहुरि कान बटारनेसाग वस्तुका आहार, ये भोगोपभोगविरतिके पांच अतीचार त्यागने योग्य हैं ॥ १३ ॥

आगे दानके अतीचार कहे हैं;—

मग्गरकालानिक्रमगच्छनिक्षेपणा विधानानि ॥

दानेऽन्यव्यपदेशः परिहर्तव्या मलाः पंच ॥ १४ ॥

अर्थ—दानादि में अनादर भाव सो माःसर्व कश्चि, बहुरि योग्य कादरा टर्कान करना, बहुरि सचित्त कमलण्यादि विधि भोजन धरना, बहुरि सचित्तने ट्ठाकना, बहुरि अन्य वि आजा करि दिसावना, ये दानके पांच अतीचार त्यागना योग्य हैं ॥ १४ ॥

आगे मदेगनाके अतीचार कहे हैं;—

त्रीवितमग्णाशंमानिदानमित्रानुरागगुणशंसा ।

मन्यामे मलपंचकमिदमाहूर्निदितविज्ञेयाः ॥ १५ ॥

अर्थ—यह दर्शन अत्य अतिव है सो यह केमे वि देगी अतिवत्ता सो त्रीवितमग्णा कश्चि, बहुरि मंगके उपर ने आहुतिपदने करि भाग वादना सो मग्णा कश्चि, बहुरि मदेकने अतिवत्ता कहे करना सो निदान, बहुरि पूरे निवन्तु मीरा कहीने अतिवत्ता कहे करना सो निदान कश्चि, बहुरि मदेके मीरे सुप-

निका धिनवन वरणा सो गुणदीमा कटिण । यह संन्याम विने अती-  
चागनिका जो पंचक ताहि जाग्या हे जानिये योग्य जिनने ऐले अहंता-  
दिक हे ते वहे हे ॥ १६ ॥

आगे सम्भर्दनके अतीचार बहेहे;—

दौकनकांक्षा निंदा परशंमासंस्तया मला पंच ।

परिहर्तव्याः मद्भिः सम्यक्तविशोधिमिः सततम् ॥ १६ ॥

अर्थ—जिनवचनमें दांवा कर्णी, वा भोगनिकी वाडा कर्णी, वा  
धर्माग्मानमें निंदा कर्णी ग्लानि कर्णी, मिध्यादृष्टीनकी प्रशंसा कर्णी,  
स्तुति कर्णी; ये पांच अतीचारहें ते सम्यक्त विशोधन करनेवाले जे  
सत्पुण्य जिनकरि निरंतर त्यागना योग्यहें ॥ १६ ॥

आगे अतीचारनके कथनकी संकोचहे;—

सप्तति परिहरंति मलानामेवमुत्तमधियो प्रतशुद्धये ।

धावका जगति ये शुभचिन्तासो भवंति भुवनोत्तमनाथा

॥ १७ ॥

अर्थ—या प्रकार लोकमें उत्तमबुद्धी धावकहें जे अतिचारनिकी  
सप्ताने कहिए सत्तरका समूह ताहि त्यागहें ते शुभचित्त लोकके उत्तम  
नाथ होवहें ॥ १७ ॥

आगे शल्यनिका निषेध करहे;—

निदानमायाविपरीतदृष्टी-

नाराचपत्नीरिव दुःखकरीः ।

ये वर्जयंतेसुरभागिनस्ते

निःशल्यता शर्मकरी हि लोके ॥ १८ ॥

अर्थ—जे पुरुष ध्यानकी पंक्तिसमान दुःख करनेवाली जो भोग-  
निकी वांछारूप निदान अर कुटिल भावरूप माया अर विपरीत दृष्टि



..

..

करि निपातनी इत सीनीको मारोदे ते मारके मोरनेको, त  
 लोकीने नि जन्मना मारकोदे देवा जानना ॥ १८ ॥

यस्याश्चि जन्मं हृदये विभवं

यतानि नगंतामिनानि गम्य ।

श्रियते शरीरे यद्यथाच कांटे

जनस्य मांस्यानि कुनमनानि ॥ १९ ॥

अर्थ—जाके हृदयमें तीन प्रकार यह जन्मते जाके गम्य प्र  
 नागकी प्राण होयते, जाके मनुष्यके शरीरको व्यापक वायुको निद्रं  
 मने काहेने गुण होय ! नाही होयते ॥ १९ ॥

प्रशस्तमन्यस्य निदानमुक्तं

निदानमुक्त्यतिनामृषीन्द्रैः ।

विमुक्तिसंसारनिमित्तभेदा-

द्विधा प्रशस्तं पुनश्चैवापि ॥ २० ॥

अर्थ—निदानरहित जे मुनीन्द्रै तिनकरि शरीरके निदानहै सो  
 प्रशस्त अर अप्रशस्त ऐमें दोय प्रकार कथाहै, बहुरि प्रशस्त निदान  
 मुक्तिका संसारका निमित्त इन भेदनिने दोय प्रकार कथा ।

भावार्थ—निदानके भेद दोय, एक प्रशस्तनिदान दूजा अप्रशस्त  
 निदान; तथा प्रशस्त निदानके भेद दोय, एक मुक्तिनिमित्त, एक  
 संसारनिमित्त, ऐसा जानना ॥ २० ॥

आगे मुक्तिनिमित्त निदान कौ कहै है;—

कर्मव्यपायं भवदुःखहानिं

बोधिं समार्धिं जिनबोधसिद्धिम् ।

आकांक्षतः क्षीणकपायवृत्ते-

विमुक्तिहेतुः कथितं निदानम् ॥ २१ ॥

अर्थ—कर्मनिका अभाव अरु संसारके दुःखकी हानि अरु दर्शन ज्ञान तपस्वरूप षोडश अरु समाधि कर्हिण ज्ञानसहित मरण अरु जीवनके ज्ञानकी सिद्धि इनको वाछता धीण कर्हिण, मर्दह कर्मायनिकी प्रवृत्ति जाके ऐसा जो पुरुष ताके मुक्तिका हेतु निदान कदाहि ।

भाषार्थ—निदान नाम वाछता हे सो मुक्तिकी वाछा है, जाने मुक्तिनिना कर्मादिका अभाव होय नाही ताते सो निदान मुक्तिहेतु कदा, ऐसा जानना ॥ २१ ॥

आगे संसारनिमित्त प्रसक्तनिदानकी कहे हैं:—

जाति कुलं बांधववर्जितत्वं  
दरिद्रतां वा जिनधर्ममिदृष्ये ।  
प्रयाचमानस्य विशुद्धवृत्तेः  
संसारहेतुर्गदितं जिनैर्द्रैः ॥ २२ ॥

अर्थ—जिन धर्मकी सिद्धिके अर्थ जातिकी वा कुलकी वा बांधवनिवारी रहितपनेकी वा दरिद्रपनेकी वाछता जो निर्मल है प्रवृत्ति जाकी ऐसा पुरुष ताके जिनैर्द्रै संसारके निमित्त प्रसक्त निदान कदा है ।

भाषार्थ—कोऊ चाहे कि जाति कुल भला मित्र ताके जिनधर्म साथे तथा बांधवदि आशुताके हेतु है इन कति रहित होऊ जाके धर्म साथे वा धन पावक कारण है ताके धनरहित में होऊ जाके धर्म साथे सो ऐसी वाछा धर्मके आराधने कथंचि भरी है तथापि जाति आदि संसारनिता होय नाही, ताते संसार हेतु प्रसक्त निदान कदा ॥ २२ ॥

उत्पत्तिहीनस्य जनस्य नूनं  
लाभो न जातिप्रभूतेः कदाचिद् ।

## उत्पत्तिमाहुर्भवमुद्धवोधा

मवं च संसारमनेककष्टम् ॥ २३ ॥

अर्थ—उत्पत्तिरहित जो जीव तारुं निधयतीं जाति आदिका लाभ कदाच होय नाही, बहुरि उद्वत हे ज्ञान तिनका ऐसे ज्ञानी पुरा है ते उत्पत्तिकी भय कहे है, बहुरि भय है सो अनेक दुःखस्य संगार है ।

भाषार्थ—जाति आदि संगारिना नाही तानी आमादिकरीं बया है, ऐसा जानना ॥ २३ ॥

संगमलाभो विदधानि दुःखं

शरीरिणां मानसमंगिकं च ।

यत्प्रवृत्तः संगृहीतदुःखमार्त-

गिष्या निदानं न तदर्थमिष्टम् ॥ २४ ॥

अर्थ—जो संगमला लाभ है सो जीवनिकी शरीर सदेही वा मनसदेही दुःख कहे है तानी संगमले दुःखनो भयनी । पुर्णत कति संगमले अर्थ निदान है सो मन वचन काय कति नाही इच्छिये है ऐस्य ज्ञानना ॥ २४ ॥

अर्थ—अप्रवृत्त निदाननो कहे है,

संगमला मानस निदानमार्त

यत्प्रवृत्तं द्विष्ये तदिष्टम् ।

विवृत्तं त्वय प्रतिरुद्धेनोः

संगमलाऽनास्तिपानकारि ॥ २५ ॥

अर्थ—अप्रवृत्तने वा अप्रवृत्त कति सो है निदान है सो संगमले अर्थ अनास्तिपानकारि इति कहे है, वैसा है,

अच्छाया निदान मुनिने, ज्ञानने, मोक्षनेकी कारण मंगारमि पटकनेगला  
रेखा है ।

आचार्य—एषेऽतिनिवे, विदवनिषी अभिजाता मो भोगार्थे निदान  
कल्पिन्, आ आदनी मात्तमाके, अर्थ बा.ग मो मानार्थे निदान कल्पि मो  
मोटे निदान मोगारथे, कारणके, है रेखा जानना ॥ २५ ॥

ये मंति दोषा भुवनांतरान्ते

मानेगभार्जा वितनोति भोगः ।

के. तेष्वगथा जननिन्दनीया

न दुर्जनो यान् शुभया करोति ॥ २६ ॥

अर्थ—स्वयं भोग है मो जीवनिके लोकविषे जो दोष है तिनहि  
विमर्श है, हा हास्य करे है—जननि करि निन्दनीक से यौन अपराध  
है तिनहि दुष्टजन जददम्नी न करे है, मर्ष ही करे है ॥ २६ ॥

ये पीटयेने परिचर्यमाणाः

ये मारयेने घन पोष्यमाणाः ।

ने कस्य माग्याय भवंति भोगा

जनस्य रोगा इव दुर्निवाराः ॥ २७ ॥

अर्थ—आचार्य करे है बडे मोदपी बात है जे भोग आचरन करे  
मने मेवे मने पाटा लपकारे है अर पुष्ट करे मने मारि है ते भोग  
मोगनि समान दुर्निवार यौन मनुष्यके सुखके, अर्थ होव है, अपि तु  
नाही होव है रेखा जानना ॥ २७ ॥

विनश्वरान्मा गुरुपंककारी

मेषो जलानीव विवर्द्धमानः ।

ददति यो दुःखशतानि कृष्णः

न कस्य भोगो विदुषा निषेव्यः ॥ २८ ॥



अर्थ—सो विषय भोग कौनकै पंडितजन करि सेयवे योग्य होय अपि तु नाहीं होय । कैसा है विषय भोग जो वर्द्धमान भया संता जैसें मेघ जलनिकीं देय है तैसें दुःखनिके सैकडानिकीं देय है, कैसा है मेघविनशनशील है स्वरूप जाका सो यह भोगभी विनसनशीलहै, बहुरि मेघ महाकीचका करनेवाला है बहुरि मेघ काळा है, सो यह भोग भी मलीन है ऐसा जानना ॥ २८ ॥

यो वाधते शकममेघ शक्तिं

स कश्च वाधां कुरुते न कामः ।

यः प्लोपते पर्वतवर्गमग्निः

स हुंचते किं तृणकाष्ठगशिम् ॥ २९ ॥

अर्थ—जो काम अप्रमाण है शक्ति जाके ऐसा जो इन्द्र ताहि पीड़ है सो काम कौनकै वाधा न करे है ? सर्वहीके करे है । इहां दर्शन करे है—जो अग्नि पर्वतनके समूहकी जळार है सो अग्नि कहा तृणकाष्ठके समूहकी छोटे है, अपि तु नाही छोटे है; ऐसा जानना ॥ २९ ॥

मर्मारणार्शीव विभीमरूपः

कोपम्यभावः परमधरनी ।

अनात्मनीनं परिहर्षुसामै-

नं याचनीयः कृष्टिलः स भोगः ॥ ३० ॥

अर्थ—आरके अर्थ अग्नि ऐसा जो दृग्य ताके त्यागनेकी है वः प्र विनके ऐसे पुरुषनि करी सो विषयभोग आदना योग्य नाहीं, कैसा है भोग, सर्व समान है भयानकस्य जारा, कैसा है सर्व क्रोधस्य है अनात्म जःरा सो यह भोग भी क्रोधका अभिप्राय शिरे है, बहुरि सर्व पक्षे विद्ये विद्ये है जैसें भोग भी श्री आदि परस्परने

अग्नि है, अग्नि का अग्नि है अग्नि है अग्नि है अग्नि है अग्नि है अग्नि है, अग्नि  
अग्नि है अग्नि है अग्नि है अग्नि है अग्नि है अग्नि है अग्नि है अग्नि है अग्नि है  
अग्नि है अग्नि है अग्नि है अग्नि है अग्नि है अग्नि है अग्नि है अग्नि है अग्नि है ॥ ३० ॥

अग्निः अग्निः अग्निः अग्निः ।

हेतुं कुरुं धार्मिकमर्थदीप्तं

दानाद्युत्तमया परिशुभं भुवः ।

पादेषामादाय बुधमर्थाः ।

वीर्यां धर्मं कर्मणि वीर्यकर्मा ॥ ३१ ॥

अर्थ—मानवर्षे वासुदेव दे आदा जगत् देमा ज्ञा पुत्र्य है मा  
हेतुका बुधका अर्थात्कर्मका पुत्र्यदीप्तका वासुदेवा अग्निका अग्निमान कर्मका  
अग्नि वीर्यकर्मा जीव पादकर्मादे, अग्निमान कर्मणा भी अग्नि वीर्य  
वीर्यकर्माके ज्ञा है ।

अर्थ—मानवी जीव बुधका भी अग्निमान कर्म है अग्नि पादकर्मा  
अग्नि विर्यकर्मा अग्निमान ज्ञा है देमा अग्निमान ॥ ३१ ॥

वामनः धामनः वीर्यो वीर्यः

वर्कटा रोमशाः विष्मलः कर्मलः ।

वोदिका मालिकाः धार्मिकविष्मलः

विष्मलः सुष्मलः सुष्मलः सुष्मलः ॥ ३२ ॥

विष्मलः वीर्यो मृष्टिरो जादको

वैष्मलः वैष्मलः विष्मलः पद्मलः ।

वृष्मलस्त्रिभिरो रामभो धामनः

वृष्मलः मर्कटा मानतो जायते ॥ ३३ ॥

अर्थ—मानवी जीवमानवीर्यर्षीय धर्म है मा कर्म है—वामन रोप  
है, मान रोप है, मर्कटी रोप है, विष्मल रोप है, कर्मल रोप है, रोमशा

कहिए बडे रोमका घारी होय है, सिध्मल कहिये भूरा होय है, पापी होय है, कोली होय है, मार्यी होय है, मिलावट होय है छीपा होय है, चाकर होय है, पगधीन लोभी होय है, मूढ होय है, कोटी होय है ॥ ३२ ॥ चीता होय है, घुघु होय है, मूसा होय है जाहक होय है, बहुरि बंजुल मंजुल पिप्पल कोईनीच निर्यचविशेष है सो होय है, बहुरि सर्प अर कुत्ता अर तीतर अर गधा अर कागला अर मुर्गा अर बन्दर इत्यादि नीच मनुष्य निर्यचन पर्याय जीव मानतै पावे है तातै मान त्यागना योग्य है, यहु तात्पर्य है ॥ ३३ ॥

लक्ष्मीक्षमाकीर्तिकृपासपर्या  
निहत्य सत्या जनपूजनीयाः ।

निपेच्यमाणो रमसेन मानः

श्वभ्रालये निक्षिपतीति घोरे ॥ ३४ ॥

अर्थ—सेया भया मान है मी मन्यार्थ रूप अर लोकनि करि पूजनीक ऐसी जो लक्ष्मी अर क्षमा अर कीर्ति अर दया अर पूजा इनकी नासकै अर जवरदस्ती घोर नरकवासविषै पटकै है ॥ ३४ ॥

अनंतकालं समवाप्य नीचां

यद्येकदा याति जनोज्यमुच्चाम् ।

तथाप्यनंता वत याति जाती-

ह्यो गुणः कोऽपि न चात्र तस्य ॥ ३५ ॥

अर्थ—जीव है सो अनंतकाल ताई नीचजातिकी पाय करि एक-काल उच्चजातिकी प्राप्त होय है, आचार्य कहै है, बडे खेदकी बात है सो भी जीव अनंत जातिनकी प्राण होय है । बहुरि ताजीरकै इहां ऊंचा गुण कोउ भी न देखिए है ।

कर्मणो माहात्म्यम् ४ । १० । ॥  
 कर्मणो माहात्म्यम् ४ । १० । ॥  
 कर्मणो माहात्म्यम् ४ । १० । ॥  
 कर्मणो माहात्म्यम् ४ । १० । ॥

इत्यागु दीत्यागु च तत्र कर्मो  
 संस्थागु नो योनिषु दृष्टितानी ।  
 एते च तीक्ष्णोऽवसागु दृष्टिः  
 स मन्थने मानसिष्ठावसागु ॥ २६ ॥

भावः—इति च तीक्ष्णोऽवसागु इति मन्थने मानसिष्ठावसागु इति मन्थने मानसिष्ठावसागु इति मन्थने मानसिष्ठावसागु इति मन्थने मानसिष्ठावसागु इति मन्थने मानसिष्ठावसागु इति मन्थने मानसिष्ठावसागु ॥ २६ ॥

इतीश्वरि मीक्षे न्यमवेष्टमाणो  
 मीक्षस्य दुःखं न किमेति योगम् ।  
 मीषोऽश्वि पश्यति यः न्यमवेष्ट  
 न मीक्षस्य दुःखं न किः प्रयाति ॥ २७ ॥

उद्यम्वनीचम्वविकल्प एष  
 विकल्पमानः गुणदुःखकारी ।  
 उद्यम्वनीचम्वमयी न योनि-  
 दंदाति दुःखानि गुणानि जातु ॥ २८ ॥

भावः—उद्यम्वनीचम्वविकल्प एष विकल्पमानः गुणदुःखकारी । उद्यम्वनीचम्वमयी न योनि-दंदाति दुःखानि गुणानि जातु ॥ २८ ॥



भया संता दुःख करनेवाला है । बहुरि जंचपना नीचपना मयी जा  
है सो मुखनिकीं वा दुःखनिकीं कदाचित् न देय है ॥ ३८ ॥

भावार्थ—कोऊ पुरुष औरनतै आप बडा है सो आपतै बडेवं  
दोखि आपको दुखी मानै है । बहुरि कोई पुरुष औरनतै छोटा है सं  
भी आप तै छोटेनिकीं देखि आपको बडा मान मुख मानै है । ताँ  
मोही जीवकी मिथ्या माननेमै मुख दुःख है किछू बाह्य जाति आँ  
मुख दुःखका कारन नाही । ऐसा जानि जान्यादिकका गर्व न करन  
ऐसा इहा प्रयोजन जानना ॥ ३७-३८

हिनस्ति धर्मं लभते न सांख्यं

कुबुद्धिरुच्चत्वनिदानकारी ।

उपैति कष्टं सिकतानिपीडी

फलं न किंचिज्जननिन्द्नीयः ॥ ३९ ॥

अर्थ—जंचपनेका निदान करनेवाला कुबुद्धि पुरुष है सो धर्मका  
नाश करै है अर मुखकीं न पावै है, इहां दृष्टांत कहै हैं, जैसे  
लोकविपै निन्दनीक मूर्ख पुरुष बाह्य रेतका पेलनेवाला कष्टकीं प्राप्त  
होय है अर किछू फलकीं नहीं प्राप्त होय है तैसे ।

भावार्थ—निदान करे मुग्न न मिठै है, जानै मुग्न तो पुण्योदयके  
आधीन है, अर पुण्यके आशयतै पुण्य होय नाही ताँ जैसे बाह्य  
रेत पेले किछू तेल न कट्टे उलटा कष्ट होय है तैसा निदान भी  
जानना ॥ ३९ ॥

यशामि नश्यंति ममानृत्ते-

गदातुरम्येव गुगानि मघः ।

विषद्वते तस्य जनापवादो

विषाहृलम्येव मनोविमोहः ॥ ४० ॥



अर्थ—या प्रकार मानके नानाप्रकार दोषकी विचारिके मानगति निदानकी कदाच भी न करैहे । जैसे प्राणके नाशकी देगता पुण कोई भी विरक्ति तृप्तिकी न विचारैहे तैसे ॥ ४३ ॥

यो घातरुत्यादि निदानमजः करोति कृत्या चरणं विविधं ।  
हि वर्द्धयित्वा फलदानदक्षं न नेदनं भ्रमयते वराकः ॥ ४४ ॥

अर्थ—जो नाना प्रकार गरिबकी करके भर अज्ञानी घातरुत्यादि भद्रिका निदान करैहे सो यास्य पुण्य फलदेनेमें प्रवीण ऐसा जो नेदन नन सादि बड़ाव करि भ्रम करैहे ।

भाष्ये—जो गरिबगारी डीपावनकी उपाय मानने आदिका निदान करैहे सो गरिब का नाश करैहे अनेनगंगाही होवड़े ऐसा जानना ॥ ४४ ॥

यः संयमं दृष्ट्वात्मादधानो  
भोगादिकांश्चां विनोति मृदः ।  
कंठे जिह्वामेव निधाय गुर्वी  
शिवाहते तोय मलय मध्यम् ॥ ४५ ॥

अर्थ—जो मृद दृष्ट्वात्मादधानो भोगादिककी कंठे विनोति सो कंठे ही जीभकी परिके नादी विनोते तोयके मध्य मलय मध्य मध्यके ॥ ४५ ॥

विद्या विधिं न विद्वानमिधुं  
विज्ञाय दोषं चरणं चाग्निः ।  
ब्रह्मयज्ञेनां चयंति सर्वे  
विज्ञानदोषा न श्रुत्वाप्येष्टाः ॥ ४६ ॥

अर्थ—ब्रह्मयज्ञेनां चयंति सर्वे विज्ञानदोषा न श्रुत्वाप्येष्टाः ॥ ४६ ॥

करणा योग्य नाहीं, जैसे कर्मों की आवश्यकता हुआ जिनमें अर जान्याँ  
अपश्यका दौर जिनमें ऐसे सञ्जन हैं ते अपश्यका सेवन न करें।

भाषार्थ—संसाररोगकी औषध घाम्ग्रिह अर निदान संसाररोग  
घटावनेवाला बुध्पद है । जे घारिज्जभौ है अर निदानकी बुरा जानैह ते  
निदान न करें, ऐसा जानना ॥ ४६ ॥

ऐसा निदानराल्यका वर्णन किया । आगे मायाशब्दका वर्णन  
करेहै;—

आयागविश्वामनिराशशोक-

द्वेषावशाद्धमर्वरभेदाः ।

भवंति यस्यामवनाविवागाः

सा कस्य माया न करोति कष्टम् ॥ ४७ ॥

अर्थ—जैसे भूमिमें वृक्ष होय तैसे प्रयास अर विश्वासका अभाव  
अर शोक अर द्वेष अर कष्ट अर धम-अर र्वर इत्यादि भेद हैं ते जिन  
मायाविषै होवहें सो कौनका कष्ट न करे, सर्वहीके करे ॥ ४७ ॥

स्वल्पापि सर्वाणि निपेक्ष्यमाणा

सत्यानि माया क्षणतः क्षिणोति ।

नाल्पा शिखा किं दहतधिनानि

प्रवेशिता चित्ररूपेधितानि ॥ ४८ ॥

अर्थ—थोड़ी भी सेई भई माया क्षणमात्र में सर्व सत्यका नाश करेहै।  
इहां दृष्टांत करेहै;—अग्निकी अल्पप्रवाला प्रवेश करी भई कहा संचय  
रूप इंधनको नाहीं दहैहै ! दहैहैहै ॥ ४८ ॥

निकारितुं पृथक्त्वनं कुठारी

संसारपृथं सवितुं धरित्री ।



बोधप्रमांश्वंमयितुं त्रियामा

माया त्रिवर्ज्या कुशलेन दूरम् ॥ ४९ ॥

अर्थ—प्रवीण पुरुष करि माया दूर त्यागनी योग्यहै, कैसीहै माया चात्रिबनके काटनेकी कुल्हाडीसमानहै, अर संसार रूप वृक्षके उपजावनेकी पृथ्वीसमानहै, अर ज्ञानरूप प्रभाप्रकाश के नाशनेकी रातिसमानहै । ऐसा जानना ॥ ४९ ॥

दिनस्ति मैत्रीं वितनोत्यमैत्रीं

तनोति पापं वितनोति धर्मम् ।

पुष्पाति दुःखं विधुनोति सौम्यं

न वंचना किं कुरुते विनिघम् ॥ ५० ॥

अर्थ—माया है सो मैत्री कहि प्रीति ताका नाश करे है अर अप्रीतिकी विस्तारि है, पापकी विस्तारि है अर धर्मका विध्वंस करे है, दुःखकी पुष्ट करे है अर सुखका अभाव करे है । महीर सो माया कौन निदने योग्य है ताहि न करे है, सार ही करे है ॥ ५० ॥

तेने मायाका वर्जन किया । आगे विद्या व शायका वर्जन करे है;

न कृष्यते तत्रामलन्यमणी

रिमोक्षमानो रभगेन येन ।

स्यत्रेति मिथ्यात्वविपं पटिष्टाः

मदा विभेदं यद्दुःखदायि ॥ ५१ ॥

अर्थ—त्रिम मिथ्या वरिष करि त्रयदम्भी अये । नया बीजा जीव है सो सब अन्वयों न जनि है त्रिम बहुत भेदरूप मिथ्यावरिषकी वर्जना करे है ते जगते है, वेसा है मिथ्यावरिष बहुत दुःखका देनेवाला है, वेसा जानना ॥ ५१ ॥

करी निरावरे अन्वय का वर्जन करे है ।

वदन्ति वैदित्त्वं गुणदुःखसंशु-  
 नं विदित्त्वं कर्म दर्शनं भाव्याम् ।  
 मानस्य तत्त्वविनिर्मुक्तस्य हाने-  
 र्मानस्यप्रेतस्य न शक्तिरिति ॥ ५२ ॥

शब्द—कोई बड़े है—जीवन्निवृत्त, गुण दुःखका कारण कर्म नहीं है, जो कि विना कर्म विद्ये तत्त्व प्रमाणविधौ हानि है, वदन्ति प्रमाण विनिर्मुक्तस्य शक्ति नहीं ।

भावार्थ—कोई बड़े है गुण दुःखका कारण कर्म नहीं तो कर्म इतिविद्ये, मोक्ष नहीं और ताका विना बड़े ही नहीं। वदन्ति कर्म-समान और पदार्थ ही नहीं, वदन्ति कर्म विना न होय ऐसे पदार्थकी अपत्ति है, वदन्ति हानि भावगमने भी कर्मका अभाव पदार्थ है; ऐसे सब प्रमाणसे, अज्ञेय है । वदन्ति जो प्रमाणसे न आये भी वस्तु नहीं, तो कर्म नहीं है ॥ ५२ ॥

वदन्ति येन बड़े है,—

सत्त्वेऽपि कर्तुं न शक्नुवन्निर्वाण्य  
 तस्यास्ति शक्तिर्गतचेतनत्वात् ।  
 प्रवर्तमानाः स्वयमेव एषाः  
 विचेतनाः हापि मया न कार्ये ॥ ५३ ॥

शब्द—जीवन्निवृत्त शक्नुवन्निर्वाण्यके दूर करनेकी ता कर्म के शक्ति नहीं, जाने कर्मके अचेतनता । मैंने कोई कार्यविधे अचेतनपदार्थकी स्वय-मेव प्रवर्तने न देगे ।

भावार्थ—जीवन्निवृत्त गुण हानादि पात करनेकी कर्म समर्थ नहीं जाने आप अचेतन है । लोकमें अचेतन पदार्थ कार्य करने न देते हैं, ऐसा जाने कर्मका अभाव भाष्या ॥ ५३ ॥

अथ चत्वारिंशत्तमोऽङ्कः ।

एषा मदासौदमिजान्तराग्रे  
ने सुखने गीर्गमिरीपराणा ।

प्रमाणमस्माकं मात्पमानं

यतोऽस्य मिद्वाननुमानमस्ति ॥ ५४ ॥

अर्थ—मदा सोदम्य विजायके वरीनूत ने विष्णुदती विनकी  
कती यह बागी सुक नागी, जो इय कमेंरी गिर्गमिरी हमरी प्रमा-  
णिय अनुमान प्रमाण है ॥ ५४ ॥

जो ही अनुमान दिखारी है ।

रागद्वेषमदमन्मग्न शोक-

क्रोधदोषमयमन्मय मोहाः ।

सर्वजंतुनिर्द्वेषुभूताः

कमणा किमु भवन्ति विनने ॥ ५५ ॥

अर्थ—सर्व जीवनिर्द्वेष सन्नि उरि अनुभव किण लेने जे रागद्वेष  
मद मन्मग्न शोक क्रोधदोष भय वान मोह इयादि विकारभावई ते  
कर्म विना ये कैसै होय ।

भावार्थ—ससारी जीवनिर्द्वेष कर्म बंधे जाते कर्मनिर्द्वेष उदयका कार्य  
जो रागादिभावई ते सर्व जीवनि करि स्वनेवेदन प्रत्यक्षकरि जानिई,  
कर्मोदयविना रागादिक कैसै होय; जाके कर्म बंध नाही सो रागादि  
सहित नाही जैसै मुक्तजीव । इहां कार्यदिगते अनुमान कियाई ॥ ५५ ॥

आमैं फेर आशकाका उत्तर कहैं,—

ते जीवजन्वाः प्रभवन्ति नूनं

नैषापि भाषा खलु युक्तियुक्ता ।

नित्यप्रसक्तिः कथमन्यथैषां

संपद्यमाना प्रतिषेधनीया ॥ ५६ ॥

अर्थ—वादी कहते हैं कि ते रागादिभाव जीवहीं उपजैहै; ताके आचार्य कहैहै—कि ऐसी धाणी निश्चयकरि युक्त नाही, जाते न रागादि जावहीं उपजे होय तो इन रागादिकनिकी नित्यसंबंधता आसो सो कैसें निषेध करने योग्य होय ।

भावार्थ—रागादि भाव आत्माके स्वभाव होय तो स्वभावका अभाव होनेतैं सर्व अवस्थामें रहे चाहिए तब जीवके मोक्ष कैसें होय, ताते रागादिकहै ते कर्मोदयके निमित्त विना न होयहै, ऐसा जानना ॥ ५६ ॥

आगे केर कहैहै;—

नित्येजीवे सर्वदा विद्यमाने

कादाचित्का हेतुना केन संति ।

निर्मुक्तानां जायमाना निषेद्धे

ते शक्यंते केन मुक्तिश्च तेभ्यः ॥ ५७ ॥

अर्थ—सदाकाल विद्यमान जो नित्य जीव ता विषे कही होय कही न होय ऐसे कदाच होनेवाले जे रागादिक ते कौन कारणकरि होयहै, अर मुक्त जीवनिके उत्पन्न भए जे रागादिक से काहे करि निषेधनेको समर्थ हूजिए अर तिनते मुक्ति काहेकरि होय ।

भावार्थ—जैसें फटिकमणि निर्मल सो सदा है तामें काला पीला आदिजैसा डाक उगै तैसा परिणामें सो परिणामन कदाचिहू होयहै ताते ताको कादाचित्क कहिए तैमें आत्मा सो नित्यहै ताके मोहादि कर्मके निमित्त मिजे रागादिकरूप परिणामन होयहै सो कादाचित्क, अर ते रागादि कर्म निमित्तविना होय तो रागादिक नित्यस्वभाव छरे तब

तिनका मुक्तजीवकैभी अभाव कैसे होय अर तिननै कैसे छूटे, ताते कर्मका अस्तित्व मानना योग्यहै ॥ ५७ ॥

आगे फेर कहैहै;—

तुल्यप्रतापोद्य मसाहसानां

केचिध्वभंते निजकार्य सिद्धिम् ।

परे न तामत्र निगद्यतां मे

कर्मास्ति हित्वा यदि कोऽपि हेतुः ॥ ५८ ॥

अर्थ—समान है प्रताप अर उद्यम जिनके ऐसे पुरुषनिके मध्य केई पुरुष अपने कार्यकी सिद्धिकी पार्वे हैं, बहुरि और केई ता कार्यकी सिद्धिकी न पावे हैं; सो इहां कर्मसिवाय और कोई भी कारण होय तो मोसै कहि ।

भावार्थ—समान पुरुष समान उद्यम करै तहां कोईकै सिद्धि होय कोई कै न होय सो इहा कर्मसिवाय और कारण नाही, ऐसा जानना ॥ ५८ ॥

आगे फेर कहै है;—

विचित्रदेहाकृति वर्णगंध-

प्रभावजातिप्रभवस्वभावाः ।

केन क्रियंतेभुवनंगिवर्गा-

धिरंतनं कर्म निरस्य चित्राः ॥ ५९ ॥

अर्थ—लोकविषै नानाप्रकार शरीर वर्ण गंध वीर्य जाति इनके उपजावने रूप है स्वभाव जिनके ऐसे जे अनेकजीवनिके समूह ते पहला पुरातन कर्मविना कौन करि करिए है ।

भावार्थ—पहला कर्म न होय तो आगामी नाना शरीर कादे तै उपजे, ताते प्राचीन कर्म मानना योग्य है ॥ ५९ ॥

विवर्द्धये मासान्नव गर्भमध्ये  
 बहुप्रकारैः कलिलादिभारैः ।  
 उद्धर्ष्य निष्कासयने सविश्या  
 को गर्भतः कर्म विहाय पूर्वम् ॥ ६० ॥

अर्थ—गर्भविधे नव मास ताई नानाप्रकार स्थिरादि भावनि करि चढायके अर पल्टके माताके गर्भ तें पूर्व कर्मविना कौन निकासै है ।

भावार्थ—पहला कर्म न होय भो गर्भ में वृद्धि होना अर मुख पल्टके गर्भ तें निकासना इत्यादि कार्य कैसें होय, तार्ते पूर्व कर्म अवश्य मानना ॥ ६० ॥

आमें वादोने कही थी कि कर्म अचेतन है सो कार्य कैसें करे ताका उत्तर करै है,—

विलोकमानाः स्वयमेव शक्ति  
 विकारहेतु विपमद्यजाताम् ।  
 अचेतनं कर्म करोति कार्यं  
 कथं वदंतीति कथं विदग्धाः ॥ ६१ ॥

अर्थ—जिब वा मदिरा इन अचेतननर्ते उपजी जो विकारकी कारण शक्ति ताहि आपही देपते सेते चतुर पुरप हैं ते “अचेतन जो कर्म सो कार्यको कौमें करै है ” ऐसी कैसें करै है ।

भावार्थ—मदिरादि अचेतन वस्तु है सो जैसें गहलपना उपजावै है तैसें कर्म भी अचेतन है सो अपना कार्य करै है, यार्ते रोका कटा, प्रत्यक्ष अचेतनका कार्य देगिए है ॥ ६१ ॥

आमें केर कहै है,—

नानाप्रकारा भुवि पृथज्जाती-  
 विभूय पत्राणि पुरावनानि ।

अचेतनः किं न करोति कालः

प्रत्यग्रपुष्पप्रसवादिरम्याः ॥ ६२ ॥

अर्थ—पृथ्वीविषै अचेतन जो काल है सो नानाप्रकार वृक्षकी जो जाति ताहि पुरानें पत्रनकीं शब्दाय करि नवीन पुष्प पत्रादिकनि करि मनोहर कहा न करै है ? करै ही है ।

भावार्थ—जैसैं अचेतनकाल है सो वृक्षनिके पहले पत्र शब्दाय नवीन पत्रादि करै है तैसैं अचेतन कर्म भी अपना कार्य करै है, ऐसा जानना ॥ ६२ ॥

आगैं फेर कहैं हैं;—

यैनिःशेषं चेतनामुक्तमुक्तं

कार्याकारि ध्वस्तकार्यावबोधः ॥

धर्माधर्माकाशकालादि सर्वं

द्रव्यं तेषां निष्फलत्वं प्रयाति ॥ ६३ ॥

अर्थ—जिन पुरुषनि करि चेतनारहित अचेतन द्रव्य है सो सर्वथा कार्यका करनेवाला नहीं ऐसा कदा तिनके धर्म अधर्म आकाश काल आदि सर्व द्रव्य निष्फलपनेकीं प्राप्त होय हैं, कैसे हैं ते पुण्य नष्ट भया है कार्यका ज्ञान जिनके ।

भावार्थ—जे सर्वथा अचेतनकीं कार्यका करनेवाला न मानें हैं तिनके धर्मादि द्रव्य अचेतन हैं ते निष्फल टहरें तातैं तिनके कार्य कारणपने का ज्ञान नहीं । यद्यपि धर्मादि द्रव्य प्रेरक कर्त्ता नहीं तथापि निमित्त नैमित्तिक भाव मात्र परस्पर कार्य कारणपना है, सो म्यादाद तैं अविरोध सर्थ है ॥ ६३ ॥

आगैं कोऊ कहैंकि अमूर्त्त जावकें मूर्त्तिक कर्म नहीं बंधे हैं, ताका समाधान करै हैं;—

जीवैरमूर्तैः सह कर्म मूर्तं  
संबध्यते नेति वचो न वाच्यम् ।  
अनादिभूतं हि जिनेन्द्रचन्द्राः  
कर्मागिसंबंध मुदाहरन्ति ॥ ६४ ॥

अर्थ—अमूर्तीक जीवनि सहित मूर्तीक कर्म न बंधेहै ऐसा कहना योग्य नाही: जाते जिनेन्द्रचंद्रहै ते कर्म अर जीवनिका अनादितै संबंध करेहै ।

भावार्थ—जीव कर्मका अनादि संबंधहै सो अनादिस्वभावमें तर्क नाही, ऐना जानना ॥ ६४ ॥

आगे इस कथनको संकोच है !

इत्यादि मिथ्यात्वमनेकभेदं  
वयार्थतत्त्वप्रतिपत्तिमुदि ।  
विवर्जनीयं त्रिविधेन मद्भि-  
र्जनं प्रतं रत्नमिवाधयद्भिः ॥ ६५ ॥

अर्थ—सतत करि इत्यादिक मिथ्यात्व नानाप्रकार वयार्थ तावहानका नाश करनेवालाहै सो मन वचनकापकरि त्यागना योग्यहै कैसेहै साणुश्य जिन भगवानके प्रतकी रत्नकी ज्यो मेरेहै ॥ ६५ ॥

आगे एकादश प्रतिमानका वर्णन करे हैं ।

एकादशोक्ता विदितार्थतत्त्व-  
रूपामकाचारविधेर्विभेदाः ।  
पवित्रमारोद्गमनन्वलयं  
सोपानमार्गा इव सिद्धिर्मापम् ॥ ६६ ॥

अर्थ—जानेहै पदार्थनिके स्वल्प जिनने ऐसे बर्हतादिकनि करि आचकके आचारकी विधिके भेद प्यार करेहै, ते भेद पवित्र मोक्ष



महलके चढनेकौ सिवाणके मार्ग सनानहैं, कैनाहै मोक्षमहल अन्य सामान्य जनकरि नाही पावने योग्यहै, ऐसा जानना ॥ ६६ ॥

आगैं ग्यारह प्रतिमानमें प्रथम दर्शनप्रतिमाकौ कहैंहैं;—

यो निर्मलां दृष्टिमनन्यचित्तः

पवित्रवृत्तामिव हारयष्टिम् ।

गुणावनद्धां हृदये निधत्ते

स दर्शनी धन्यतमोऽभ्यधायि ॥ ६७ ॥

अर्थ—नाहीहै और ठिकाने चित्त जाका ऐसा जो पुरुष पवित्र अर गोल हारकी लडीसमान निर्मलदृष्टिकौ हृदयमें धारैहै सो दर्शनसहित पुरुष अतिशयकरि धन्य कहाहै, कैसी है हारकी लडी गुण जे डोर तिनकरि बंधाहै, अर निर्मल दृष्टि वात्सल्य आदि गुण कर बंधी है ऐसा जानना ॥ ६७ ॥

आगैं व्रतप्रतिमाकौ कहैंहैं;—

विभूषणानीव दधाति धीरो

व्रतानि यः सर्वमुखाकराणि ।

आक्रष्टुमीशानि पवित्रलक्ष्मीं

ते वर्णयन्ते व्रतिनं वरिष्ठाः ॥ ६८ ॥

अर्थ—सर्व मुखनिके स्थान जे बारह व्रत तिनहि जो आभूषण-निकी ज्यौं धारैहै ता पुरुषकौ आचार्य व्रता कहैंहैं, कैसेहैं बारह व्रत पवित्रलक्ष्मी जो स्वर्गमोक्षकी लक्ष्मी ताकें प्राप्तकरनेकौ समर्थहैं, ऐसा जानना ॥ ६८ ॥

आगैं सामायिकप्रतिमाकौ कहैंहैं;—

रांद्रार्त्तमृक्तो भवद्दुःखमोची

निरन्तनिः शेषरूपायदोषः ।

शाखादिवं. यः कृते प्रियाने

शाखादिवरुदः क्वयितः न लघुम् ॥ ६९ ॥

अर्थ—आपने हीष्ट करीये जयानि करि इतिन कर संसार दुःखनि कय  
व्यापनेवाला कर ज्योही शाखन मोर्जाहि कयाथ जाने ऐसाजो पुण्य  
विद्या शाखादिवकी करीये सो पुण्य कयाथे शाखादिव. विरी विद्या  
कराई ॥ ६९ ॥

आगे दोषप्रतिपादो करीये,—

दोषीकृताचार्यं शुभ्याभिलाषः

करोति यः परंपरतुल्येऽपि ।

नदोषपातं परकर्म हृत्का

नः प्रांपरी दृष्टधियामभीष्टः ॥ ७० ॥

अर्थ—मद करीये इतिथ शिष्य जनिन शुभकी अभिलाषा जाने  
ऐसा जो पुण्य परंपरतुल्य करीये एकमागकी दोष अएमी दोष परतुर्दरी  
इन चारनि विरी आरंभ छोडपरि निधयकरे मद्र उषकाय करीये सो  
प्रायपरतिपादो दृष्टसुदानके अभीष्ट करीये ॥ ७० ॥

आगे मचित्तव्यापप्रतिपादो करीये ।—

द्वयाद्रे चित्तो जिनपारयवेदी

न यन्मने किंचन यः मचित्तम् ।

अनन्यताधारण धर्मपोषी

मचित्तमोषी न कपायमोषी ॥ ७१ ॥

अर्थ—द्वयाद्री भीर्याहे चित्त जाका अर जिनेदके वचननिका  
जाननेवाला ऐसा जो पुरन कडुभी मचित्तकी न छापीहे सो और के  
समान नारी ऐमे अनाधारण धर्मका पुष्ट करनेवाला कपायरहित सचि-  
त्तव्यागी कराई ॥ ७१ ॥

आगे रात्रिभोजनका त्याग वा दिनभे अन्नत्याग प्रतिमाका कहेंहैं;—

निपेवते यो दिवसे न नारी-

मुदामकंदर्पमदापसारी ।

कटाक्षविक्षेपशरीरविद्वो

बुधदिन ब्रह्मचरः स बुद्धः ॥ ७२ ॥

अर्थ—जो पुरुष तीव्र कामके मदका दूर करनेवाला दिवसविषे नारीका न सेवैहै, सो पंडितनि करि स्त्रीकटाक्षका चलावनारूप वाणनि करि नाहीं वीध्या दिनविषे ब्रह्मचारी कहाहै । दिनविषे तो स्त्रीका न सेवना सो दिनब्रह्मचारीहै वा यहु रात्रिभोजनकाभी त्यागीहै, ताते याहीका नाम रात्रिभोजन त्यागी भी कहाहै; ऐसा जानना ॥ ७२ ॥

आगे ब्रह्मचर्यप्रतिमाका कहेंहैं.—

यो मन्यमानो गुणरत्नचौरीं

विरक्तचित्तस्त्रिविधेन नारीम् ।

पवित्र चारित्रपदानुमारी

स ब्रह्मचारी विषयापहारी ॥ ७३ ॥

अर्थ—जे विरक्त पुरुष स्त्री का मन बचन काय करि गुणरत्नका चोरनेवाली मानता सेता पवित्र चारित्रके पदका अनुसारि विषयनका न्यागी सो ब्रह्मचारी कहा है ॥ ७३ ॥

आगे आरंभ त्याग प्रतिमाका कहें हैं;—

विलोक्य पङ्गीवविधातमुर्ध-

रारंभमत्यस्यति यो त्रिवेकी ।

आरंभमुक्तः स भतो मुनीन्द्रे-

विरागिकः संयमबुधसेकी ॥ ७४ ॥

अर्थ—अतिशयकरे पत्र्कायिक जीवनिका घात देखै जे विवेकी आरंभकौ त्यागै है सो मुनीद्रनिकरि आरभ रहित कया है, कैसा है सो विरामी समयमृशकाः सीचनेवाळा है ॥ ७४ ॥

आगै परिग्रह त्याग प्रतिमाकौ कहै हैं;—

यो रक्षणोपाज्जननध्वरत्वं-

ददाति दुःखानि दुरुत्तराणि ।

विमुच्यते येनपरिग्रहोऽसौ

गीतोऽपसंगैरपरिग्रहोऽसौ ॥ ७५ ॥

अर्थ—जो परिग्रह रक्षा करणा उपाज्जन करणा बिनसना दुःखतैं उत्तरे जाय ऐसै दुःखनिकौ देय है, ऐसा बहु परिग्रह जाकरि त्यागिए सो बहु परिग्रह रहित जे मुनीद्र तिन करि अपरिग्रह कया है ॥७५॥

आगै अनुमति त्याग प्रतिमाकौ कहै हैं;—

आरंभसंदर्भ विहीनचित्तः

कार्येषु मारीमिव हिंसरूपाम् ।

यो धर्ममतानुमतिं न दत्ते

निगद्यते मौञ्जनु मंहमुख्यः ॥ ७६ ॥

अर्थ—आरंभकी रचना करि हीन है चित्त जाका अर धर्मका अनुमोदन करनेवाळा ऐसा जो पुरुष पापकार्थनिविषै हिंसकरूप मारी समान जो अनुमति कहिए सदाह ताहि न देवै सो नाहीं अनुमति करनेवाटेनि में प्रधान कहिए है ।

भावार्थ—पापकर्मकी अनुमोदनाका त्यागकरि सो अनुमतित्यागी दशमप्रतिमा धारी कहिए, ऐसा जानना ॥ ७६ ॥

आगै उरिएत्याग प्रतिमाकौ कहै हैं;—

यो वंधुराबंधुरतुल्यचित्तो  
 गृह्णाति भोज्यं नवकोटिशुद्धम् ।  
 उद्दिष्टवर्जा गुणिभिः स गीतो  
 विमीलुकः संसृति मातृधान्याः ॥ ७७ ॥

अर्थ—जो पुरुष भले बुरे आहारमें समानहं चित्त जाका ऐसा जो पुरुष नवकोटिशुद्ध कहिए मन वचनकाय करि करया नाही कराया नाही करे हुएका अनुमोद्या नाही ऐसे आहारको प्रहण करैहै सो उद्दिष्ट्यागी गुणवंतनिनै कइसाहै, कैसाहै सो संसाररूप राक्षसीसै विशेषमय-भीत है ॥ ७७ ॥

ऐसै ग्यारह प्रतिमाका वर्णन किया । इहां सक्षेप देसाहै, जो मिथ्यात्व अर अनंतानुबंधी कषाय इनके उदयका अभाव तो सम्यग्दर्शन होतैही भया, बहुरि अप्रत्याख्यानावरणके उदयके अभावतै देशविरत-नामः पंचम गुणस्थान होयहै ताके दर्शन प्रतिमामें उगाय ऊपर ऊपर विशुद्धताकी अधिकतातै ग्यारह भेद कहैहै सम्यक्सहित बारह व्रतनि-हाकी ऊपर ऊपर निर्मलता होती जायहै, ऐसा जानना । इहा कोऊ कहैकि देशव्रतका घातक जो अप्रत्याख्यानावरण कषाय ताके उदयका तो अभाव भया अथ हीनअधिक विशुद्धता किस कर्मके उदयतै होयहै—ताका उत्तर;—यथापि इहां अप्रत्याख्यानावरण कषायका उदय नाही तथापि प्रत्याख्यानावरणकषायके मंद तीव्र उदयतै हीन अधिक विशुद्धता होयहै जैसे प्रत्याख्यान कषायका अभाव होतै पट-मादि गुणस्थानमें हीनाधिक विशुद्धता मंजवदनके तीव्रमंद उदयतै होयहै तैसै, ऐसा जानना ॥ ७७ ॥

क्रमेणामुंश्चिते निदधति मुर्दकादश गुणा-  
 नलं निदा गर्हानिहितमनमो येऽनृतममः ।

भवान् द्विभान् भ्रांत्वाऽमरमनुजयोर्भूरिमहसो-

विधूर्तभोवंधाः परमपदवीं यांति मुखदाम् ॥७८॥

अर्थ—दूर भयाहै अज्ञान अंधकार जिनका, बहुरि निदा गर्हा विपै लगाया है मन जिननै ऐसे पुरय अतिशय करि हर्षसहित इन पूर्वोक्त ग्यारह गुणनको चित्तविपै धारैहै से पुग्ग बडे है तेज जिनके ऐसे देव मनुष्यनिविपै दोय तीन भव भ्रमण करि बहुरि नाश कियेहै पापबंध जिननै ऐसे से मुखकी देने वाली परमपदवी जो मुक्ति ताहि प्राप्त होयहै ।

भावार्थ—जे सम्यग्दृष्टी ग्यारह प्रतिमाकी धारैहै । आपकी निदा गर्हा करैहै ते दो तीन भव देवादिवके मुख भोगके सिद्ध होयहै, ऐसा जानना ॥ ७८ ॥

इदं घत्ते भक्त्या गृहिजनहितं योऽत्र चरितं

मदक्रोधायासप्रमदमदनारंभमकरम् ।

भवांभोधिं तीर्त्वाजननमरणावर्त्तनचितं

ब्रजत्येषोऽध्यात्मा मितगतिमतं निर्वृतिपदम् ॥७९॥

अर्थ—जोपुरय इहां भक्तिसहित ये गृहस्थ जनका हितरूप चारि-  
त्रकी धारैहै सो यहु आत्मा शानी संसार समुद्रकी तिरके सर्वज्ञदेवकरि  
कया जो शिवपद ताहि प्राप्त होयहै, कैसाई संसार समुद्र क्रोध स्वेद  
हर्ष काम आरंभ येहीहै मगर जाविपै, बहुरिजन्म मरणरूप भौरनिकरि  
भ्यासहै ॥ ७९ ॥

कविस छंद ।

दर्शन व्रत सामायिक प्रोपथ मचिन रात्रिभोजन परिहार ।

प्रद्वर्च्य आरंभ परिग्रह अनुमतिविरति दमम शुरुकार ॥

पुनि उद्दिष्टत्याग पडिमा इम धारत जो श्रावक दुखहार ।  
 सो स्वर्गादि संपदा लहिकै होय अमितगति पद अविकार  
 इत्युपासकाचारे सप्तम परिच्छेदः ।

पेर्सं श्री अमितगति आचार्यविरचित धायकाचारविषं  
 सप्तम परिच्छेद समाप्त भया ।

## अथ आद्य परिच्छेदः ।



आर्षे एत प्रथम आचार्यवचो वीते —

जिने मण्डप्य गर्दीयं गर्वते गर्वतो ह्यसम् ।

आचार्यवर्षं मया सोदा संक्षेपेण निगद्यते ॥ १ ॥

अर्थ—(मिनेमण्डप्यो मण्डप्यो वरिषे, गर्वते एत प्रथम मण्डप्यो  
आचार्यवर्षं वरिषे, मया सोदा संक्षेपेण निगद्यते मण्डप्यो मण्डप्यो  
संक्षेपेण जे हान ता मण्डप्ये, वरिषे मण्डप्यो मण्डप्यो, वरिषे मण्डप्यो  
मण्डप्ये मण्डप्यो मण्डप्ये,

आचार्य—मण्डप्यो ॥ १ ॥

आगमोऽनेनपर्यायो यतो ज्ञेयो व्यवस्थितः ।

अभिधानुं सतः येन विस्मयेण न दृश्यते ॥ २ ॥

अर्थ—ज्ञेयो मिनादिन आगमो मो अनेनोपर्यायो निरुद्धे ताने  
विस्मयानुं सतः येन विस्मयेण न दृश्यते ॥ २ ॥

मनोऽपि सन्ति ये बालाधिभावादिषु जंतुषु ।

अग्नाद्यवोधननेषामुपकारो भविष्यति ॥ ३ ॥

अर्थ—ज्ञाना प्रथम जीवनिषी होतसने भी जे अज्ञानीहे निववा  
इसवे, ज्ञानने उपकार होयगा ।

आचार्य—आगमो अनेनो मो सर्वे योन कर्मिके परंतु इहा संक्षे-  
पमात्र आचार्यवचो स्वल्प्य वरिषे, ज्ञेयो, ज्ञेयो मो भी जे मण्डप्यो  
हे निववा उपकार होयगा, हेगा ज्ञानना ॥ ३ ॥



संसारसागरे भीमे दुःखकल्लोलसंकुले ।

रागद्वेषमहानके राद्रव्याधिज्ञपाकुले ॥ १२ ॥

चिरं वंभ्रम्यमाणानां जिनेन्द्रपद वंदना ।

दुराया जायतेऽत्यर्थमिति यो हृदि मन्यते ॥ १३ ॥

अर्थ—अनेक जोनि है पाताळ जा विरै, बहुरि नानाप्रकार गति ही है पतन कहिए पुर जा विरै, अर जन्म मृत्यु जरा ही है आरत कहिए भौरे जाभै अर महापापही है जल जा विरै अर दुःख रूप लहरन करि व्याप्त अर रागद्वेष ही हैं बडे नक्र जा विरै अर भयानक रोगरूप मच्छनि करि भरषा ऐसा जो भयानक संसारसमुद्र ता रिं बहुत कालतैं अतिशय करि भ्रमते जे जीव तिनकीं जिनेंद्रके धरण-निकी जो वंदना सो अतिशय करि दुर्लभ है ऐसा जो पुरुष इरय रिं मानै है ॥ ११-१२-१३ ॥

बहुरि करै हैं;—

अनर्थकारिणः कांताजननी जनकादयः ।

म्वस्योपकारिणो योऽलं बुध्यते परमेष्ठिनः ॥ १४ ॥

अर्थ—स्त्री माता पितादिकनिकीं अनर्थके करनेवाटे मानै हैं अर आपके उपकार करने वाले पंच परमेष्ठीनकीं मानै है ॥ १४ ॥

बहुरि कैमे हैं;—

सर्वाणि गृहकार्याणि परकार्याणि पश्यति ।

शुद्धधीर्धर्मकार्याणि निजकार्याणि यःगदा ॥ १५ ॥

यावनं जीवितं धिष्यमंशयं जनपूजितम् ।

नशयं वीथते मरं शरदभ्रमिसानिशम् ॥ १६ ॥

दर्शनज्ञानधारिश्चश्रितयं भवज्ञानने ।

जानीते दुर्लभं भूयो ध्रष्टं रत्नमिसांगुधी ॥ १७ ॥

मयूरस्येव मेघाधे विद्युत्तस्येव बांधवे ।  
 तृपार्तस्येव पानीये विवदस्येव मोक्षणे ॥ १८ ॥  
 सव्याधेरिव कल्पत्वे विदष्टेरिव लोचने ।  
 जायते यस्य संतोषो जिनवक्रविलोकने ॥ १९ ॥  
 परीपहमहः शान्तो जिनघ्नविशारदः ।  
 सम्यग्दष्टिर्नाविष्टो गुरुभक्तः प्रियंवदः ॥ २० ॥  
 आवश्यकमिदं धीरः सर्वकर्मनिपूदनम् ।  
 सम्पद्यर्चुमर्त्ता योग्यो नापरस्यास्ति योग्यता ॥ २१ ॥

अर्थ—बहुरि जो सर्थ गृहसंबन्धी कार्पण्यको परकं कार्य मानैहै, अर मुमुक्षु धर्मकार्पण्यको सदा अपने कार्य मानैहै ॥ १५ ॥

बहुरि जो पौवनको जीवनको घरको अर लोकमान्य ऐश्वर्यको सबको शरदके मेघसमान निरंतर बिनासीक देखेहै ॥ १६ ॥

बहुरि संसारवनमें दर्शज्ञानचारित्रके त्रितयको जैसे समुद्रविषै पइथा रत्न पैर दुर्लभहै तैसे मानैहै ॥ १७ ॥

बहुरि मेघनके समूहविषै मयूरनके हर्ष होय तथा विद्युरे पुरुषके बांधवविषै हर्ष होय तथा प्यासकरि पीडित पुरुष के जडविषै हर्ष होय वा बंधेके छूटने विषै हर्ष होय ॥ १८ ॥

वा रोगसरितके नीरोगपनेमें हर्ष होय अंधेके नेत्र विषै हर्ष होय तैसे जाके जिनैदके मुख देखने विषै हर्ष होयहै ॥ १९ ॥

बहुरि क्षुधादि परीपहनिष्ठा सहनेवाला होय शांत होय जिनसूत्र-विषै प्रवीण होय सम्यग्दष्टि होय मानरहित होय गुरुभक्त होय प्रिय-बोलनेवाला होय ॥ २० ॥

सो यद्बुधीर पुरुष सर्व कर्मका नाश करनेवाला जो यद्बु आवश्यक ताहि करने योग्य है, और पुरुषके आवश्यक करनेकी योग्यता नहीं; ऐसा जानना ॥ २१ ॥

आगे फेर कहैहैं;—

औचित्यवेदकः श्राद्धो विधान करणोद्यतः ।

कर्मनिर्जराकांक्षी स्ववशीकृतमानसः ॥ २२ ॥

भक्तिको बुद्धिमानर्थी बहुमान परायणः ।

पठने श्रवणे योग्यो विनयोद्यमभूपितः ॥ २३ ॥

अर्थ—उचितपनेका जाननेवाला होय ।

भावार्थ—यह कालादिक आवश्यकके उचितहै ऐसा जाके ज्ञान होय, बहुरि श्रद्धावान होय, अर आवश्यकके विधान करनेमें उद्यमी होय, अर कर्मकी निर्जराका वाछक होय, अर अपने वश कियाहै मन जानै ऐसा होय ॥ २२ ॥

बहुरि भक्तिमान् होय, बुद्धिमान होय धर्मार्थी होय महाविनयमें तत्पर होय, अर पठनेविषै मुननेविषै योग्य होय, अर विनयसहित आवश्यकके उद्यम करि भूपित होय ॥ २३ ॥

आगे फेर कहैहैं;—

गुणाय जायते शान्ति जिनेंद्रवचनमृतम् ।

उपशांतज्वरे पूतं भैषज्यमिव योजितम् ॥ २४ ॥

अर्थ—रागद्वेषकी मंदतातै शांतभया जो पुरुष ताविषै जिनेंद्रका वचनमृत गुणके अर्थ हांयहै, जैसे उपशांत भयाहै उग्र जाका ऐसा पुरुषविषै योजित किया औषध जैसे गुणके अर्थ होय तैसे ॥ २४ ॥

अयोग्यस्य वचो जैनं जायतेऽनर्थहेतवे ।

यतस्ततः प्रयत्नेन मृग्यो योग्यो मनीषिभिः ॥ २५ ॥

॥ २५ ॥ आग्नेः कर्मणात्पुण्यस्येति श्रौतसूत्रेण कण्वस्य श्रौतसूत्रेण इत्यर्थः ।

अथवा — श्रौतसूत्रेण; श्रौत कण्वस्येति श्रौतसूत्रेण वा श्रौतसूत्रेण कण्वस्येति श्रौतसूत्रेण इत्यर्थः । आग्नेः कर्मणात्पुण्यस्येति श्रौतसूत्रेण इत्यर्थः ॥ २५ ॥

वशादाहुतिने तदर्थं जायते त्रिभक्त्यामनम् ।

वापिवातन्वशादाहो हने वापदिर्वापयम् ॥ २६ ॥

अर्थः — वशादाहुतिं कानुतिं पुण्यस्येति त्रिभक्त्यामनं त्रिभक्तं, श्रौतं, श्रौतं, श्रौतं वापिवातन्वशादाहो हने वापदिर्वापयम् इत्यर्थः । आग्नेः कर्मणात्पुण्यस्येति श्रौतसूत्रेण इत्यर्थः ॥ २६ ॥

आग्नेः कर्मणात्पुण्यस्येति श्रौतसूत्रेण इत्यर्थः —

वापिवातन्वशादाहो निदाधवणवर्जनम् ।

अनुधवणमनात्पुण्यं निदाधर्मस्यपोहनम् ॥ २७ ॥

वापिवातन्वशादाहो निदाधवणवर्जनम् ।

विद्वेषान्निवि विद्वेषानि पटावश्यकस्मिणः ॥ २८ ॥

अर्थः — अनुधवणमनात्पुण्यं निदाधर्मस्यपोहनम्, अथवा निदाधर्मस्यपोहनम्, अथवा निदाधर्मस्यपोहनम्, अथवा निदाधर्मस्यपोहनम् इत्यर्थः ॥ २७ ॥

अथ वा — अनुधवणमनात्पुण्यं निदाधर्मस्यपोहनम्, अथवा निदाधर्मस्यपोहनम्, अथवा निदाधर्मस्यपोहनम्, अथवा निदाधर्मस्यपोहनम् इत्यर्थः ॥ २८ ॥

आग्नेः कर्मणात्पुण्यस्येति श्रौतसूत्रेण इत्यर्थः —

गामाधिकं प्लवः प्राञ्जर्वन्दना मप्रतिश्रमा ।

प्रत्याण्वयानं तनुत्तर्गः पौटावश्यकस्मीरितम् ॥ २९ ॥

सो यहूधीर पुरुष सर्व कर्मका नाश करनेवाला जो यह आवश्यक ताहि करने योग्य है, और पुरुषके आवश्यक करनेकी योग्यता नहीं; ऐसा जानना ॥ २१ ॥

आगे फेर कहें हैं;—

आँचित्यवेदकः श्राद्धो विधान करणोद्यतः ।

कर्मनिर्जराकांक्षी स्ववशीकृतमानसः ॥ २२ ॥

भक्तिको बुद्धिमानर्था बहुमान परायणः ।

पठनं श्रवणे योग्यो विनयोद्यमभूपितः ॥ २३ ॥

अर्थ—उचितपनेका जाननेवाला होय ।

भावार्थ—यह काळादिक आवश्यकके उचितहै ऐसा जाके ज्ञान होय, बहुरि श्रद्धावान होय, अर आवश्यकके विधान करनेमें उद्यमी होय, अर कर्मकी निर्जराका याँछक होय, अर अपने बरा कियाहै मन जाने ऐसा होय ॥ २२ ॥

बहुरि भक्तिमान् होय, बुद्धिमान होय धर्मार्थी होय महाविनयमें लग्न होय, अर पढ़नेविने सुननेविने योग्य होय, अर विनयसहित आवश्यकके उद्यम करि भूपित होय ॥ २३ ॥

आगे फेर करें हैं;—

गुणाय जायते शान्ति जिनेन्द्रचनामृतम् ।

उपशान्तमरे पूतं भैषग्यमित्त योजितम् ॥ २४ ॥

अर्थ—गणदेवीकी मंत्राने शान्तभया जो पुस्तक साधने जिनेन्द्रका वचनमृत गुणके अर्थ हायते, जेने उपशान्त भयाहै अर जाका ऐसा पुस्तकके योजित किया थीक। जेने गुणके अर्थ होय तेने ॥ २४ ॥

अयोग्यस्य वयो जने जायतेऽर्थहेतवे ।

यत्प्रवृत्तः प्रयत्नेन गृह्यो योग्यो मनीषिभिः ॥ २५ ॥

अर्थ—ज्ञानी अर्थात् १. जिनोपवा वचन कर्त्तव्यविधि होय ।  
 भावार्थ—सिद्धि प्राप्त करणवा प्रयोजन न जाति उच्छेदक  
 पर्वति अथवा विवाह वरि ताने दक्षिणि बरी वचनार्थान् सोम्युक्त  
 होला सोयर्थे ॥ २५ ॥

कथायाः प्यसं जायते जिनशामनम् ।

मक्षिपातसंगलीटे दणं पथ्यमिर्वापयम् ॥ २६ ॥

अर्थ—कथायाः आहुति पुस्तकविधे जिन्शामन निरर्थक होय,  
 जेते मक्षिपातसंगलीटे दणं पथ्यमिर्वापय प्यसं होय तेनी ।  
 भावार्थ—जीवनायासोवी जिन वचन न होय, दणं कानना ॥ २६ ॥  
 अर्थ—सोयर्थक करणेशायेके विष्ट बहेहेः—

मन्कया भवगानेदो निदाधवजवर्जनम् ।

अनुत्पन्वमनात्म्यं निषकर्मप्यपोहनम् ॥ २७ ॥

कालक्रम प्युदाभिनवमृगान्त्वमार्दवम् ।

विज्ञेयानीनि चिदानि पटावश्यककारिणः ॥ २८ ॥

अर्थ—मन्कयाके मुननेसे ही जानेत, अर पगनिशके मुननेष  
 यान, अर निरोधपना, अर आत्मस्फुरितपना, अर निषकर्मका  
 यान ॥ २७ ॥

अर कालके उल्लघनेका त्यागीपना, अर मानसिकपना, इत्यदिप  
 नहेते ने पट आवश्यकका करणेशायेके पुस्तक लोके जन्ने  
 होय ॥ २८ ॥

अर्थ—अर आवश्यकके नाम बहेहेः—

मामायिकं स्तवः प्रार्थिवन्दना मयनिक्रमा ।

प्रन्याग्न्यानं तनुत्सर्गः पोटावश्यक ॥ २९ ॥

अर्थ—अयोग्य जे नामादिक कहिए नामस्थापना द्रव्य क्षेत्र काष्ठ भाव छहौंनकी आगामी पापके निषेधके अर्थ मन वचन काय करि त्याग करना सो प्रत्याख्यान कहाहै ।

भावार्थ—आगामी पापका त्याग करनेके अर्थ अयोग्य द्रव्यादिका त्याग करना सो प्रत्याख्यान कहिए ॥ ३५ ॥

आगे कायोत्सर्गकी कहैहै—

आवश्यकेषु सर्वेषु यथाकालमनाकुलः ।

कायोत्सर्गस्तनूत्सर्गः प्रशस्तध्यानवर्द्धकः ॥ ३६ ॥

अर्थ—सर्व आवश्यक क्रियानिर्णै जिसकाल चाहिए तिमही काल आकुलतारहित शरीरनिर्णै ममत्वका त्याग सो प्रशस्त ध्यानका बढाने वाधा कायोत्सर्ग है ।

भावार्थ—नामादिकादि क्रियानिर्णै यथाकाल शरीरमे ममत्व त्यागना सो कायोत्सर्ग कहिए ॥ ३६ ॥

आगे आवश्यकक्रियानिर्णै आमनादिकका निगमन कहे है—

ज्ञेयाम्नप्राप्तने ध्यानं कालो मुद्रा तनूत्सृतिः ।

नामारर्चप्रसा दीपा षडवश्यक कारिमिः ॥ ३७ ॥

अर्थ—उक्त आवश्यक करनेवाले पुरुषनि परि मद्रा आसन १ ध्यान १ काष्ठ १ मुद्रा १ कायोत्सर्ग १ प्रणाम १ आसन १ प्रणाम दीप इन्नी वस्तुका ज्ञानना संख्ये ॥३७॥

अगे आमनना वर्गन कहे है—

आमने स्थाने यत्र येन वा वंदनोपनतः ।

मदामनं किरीटस्य देवप्रागनादिकम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—यदना करनेमें लक्ष्मी जे पुरुष तिनकरि जावियै वा जाकरि आस्यते कहिये स्थिररूप हूजिए सो देश कहिए क्षेत्र अर पभासनादिक आसन जानने योग्यहैं । ऐसैं आसन शब्दकी निरुक्ति करी ॥ ३८ ॥

आगैं आवश्यक करनेके अयोग्य क्षेत्रनिकों कहैहैं,—

संसक्तः प्रचुरच्छिद्रस्त्वृणपांश्वादिदूषितः ।

विशोभको हृषीकाणं रूपगंधरसादिभिः ॥ ३९ ॥

परीपहकरो दंशशीतवातातपादिभिः ।

असंबद्धजनालापः सावधारंभगर्हितः ॥ ४० ॥

आर्द्रीभूतो मनोऽनिष्टः समाधाननिषुद्धकः ।

योऽशिष्ट जनसंचारः प्रदेशं तं विवर्जयेत् ॥ ४१ ॥

अर्थ—संसक्त कहिये स्त्रीपुरुष नपुंसकादिकनिकी भीड़ जहां होय बहुरि बहुत छिद्रनिकरि युक्त होय, अर तृण धूलि आदिकरि दूषित होय, बहुरि रूप गंधरस इत्यादिकरि करि इन्द्रियनिकों विशेष क्षोभ करनेवाला होय ॥ ३८ ॥ बहुरि शीत वात दंश आताप आदिकरि परीपहका करनेवाला होय, बहुरि असंबद्ध कहिए संबंहरहित निःप्रयोजन मनुष्यनिका जहां बचनालाप होय, बहुरि पापसहित आरंभ करि निर्दिष्ट होय ॥ ४० ॥ चाली होय, मनकी अनिष्ट होय, समाधानका नाश करनेवाला होय, अर नीचलोकका जहा संचार होय ऐसा होय ता क्षेत्रकी त्यागैं ॥ ४१ ॥

भावार्थ—आवश्यक करनेवाला पूर्वोक्त क्षेत्रकी चित्तकी क्षोभकारी जानि परित्याग करे ॥

आगैं आवश्यक योग्य स्थानकी कहैहैं,—

विविक्तः प्रागुक्तः सेव्यः समाधानविवर्द्धकः ।

देवर्जुदृष्टिसंपानमर्जितो देवदक्षिणः ॥ ४२ ॥



जनसंचारनिर्मुक्तो ग्राह्यो देशो निराकुलः ।

नामन्नो नातिदूरस्थः सर्वोपद्रव वर्जितः ॥ ४३ ॥

अर्थ—एकांत होय, अर प्रामुक होय, सेव्य कहिए प्रतीन के सेवने-योग्य होय, अर समाधानका बढावनेवाला होय, अर देव कहिए जिन-चैत्यादिक तिनकी सूधी दृष्टिके पड़नेकरि रहित होय ।

भारार्थ—प्रतिमादिकके सम्मुख न होय, अर जिनचैत्यादिकके दाहना होय ॥ ४२ ॥ अर मनुष्यनिके आने जानेकरि रहित होय अर न अतिनिकट न अतिदूर होय, सर्व उपद्रवकरि वर्जित होय, ऐसा निराकुल क्षेत्र प्रहण करना योग्य है ।

भारार्थ—ऐसे क्षेत्रमें सामायिक करे ॥ ४३ ॥

आगे जाये बैठे ताका स्वरूप कहै है,—

स्थेयोऽच्छिद्रं गुणम्पदं विशब्दकमजंतुकम् ।

तृणकाष्ठादिकं प्राद्यं चिनयम्योपबृंहकम् ॥ ४४ ॥

अर्थ—विश होय, छिद्ररहित होय, गुणरूप होय स्पर्श जाका ऐसा होय, शब्दरहित होय, जीवरहित होय, वैशम्य का बढावनेवाला होय, ऐसा तृणकाष्ठादिकका सामग्य प्रहण करना योग्य है ॥ ४४ ॥

आगे आमतका स्वरूप कहै है,—

त्रैधाया त्रैधयाश्रेये ममभागे प्रतीनिवृत्तम् ।

पथागने गुमाथायि गुमाथ्यं गच्छेत्त्रैनेः ॥ ४५ ॥

अर्थ—मनस्यसिद्धि त्रैधाया त्रैधया आश्रेय करिण गच्छ निवृत्त होय मंगे गुमाथा अथाय समान करि करि गुमाथे गानेयोग्य मंगे पथागने कहै है ॥ ४५ ॥

कृत्स्नयंत्रो नामे त्रैधयोदययोगिनि ।

मन्मन्त्राः कृते त्रैधे त्रैधयागनमागनम् ॥ ४६ ॥

अर्थ—सर्वे दोगे अंगणको उरुन का अंगणको वी तरे वरि-  
जन्मिषरि परिक्रमन नामका आसन जानने योग्य है ॥ ४६ ॥

उद्योग्यपरि निशेषे पादयोर्विहिते गति ।

दीगमने जिं कर्तुं द्वावयं दीर्घं कानरः ॥ ४७ ॥

अर्थ—दोउ अंगणको उरुन करिजे जाव उरार परे गीने वीत-  
सन आसन होयत । या दीगमनको बरुन बाउ तई वीर पुण्य ही  
बजनेको नकथेहे, बाधगमनको नहीत; ऐसा जानना ॥ ४७ ॥

पूज्यार्पणमये योगे इगृतमुत्तुङ्गकामनम् ।

गयामने जिनेकलमार्याणां यतिर्वदने ॥ ४८ ॥

अर्थ—दोउ एदीनके योगमे उगृतकामन जानना, बरुने आर्यिका  
जब मुनिनकी बदनो घरीत तब त्रिकामगवान करि गयामन नामका  
आसन बज्जात ॥ ४८ ॥

विनयामननिष्ठानां कृतिकर्मविधायिनाम् ।

न कार्यद्व्यतिरेकेण परमासनमिष्यते ॥ ४९ ॥

अर्थ—विनयारिने आगत विन त्रिनका ऐसे जे कृतिकर्म करनेवाले  
पुरव विनको कार्यविना और आसन न कहिणै ।

भाषार्थ—परमासन अरु कार्योत्तम इन आसननिधिना और आसन  
किछु कार्यविशेष होयती कर, कार्यविना दोषही आसन करना योग्यहै,  
ऐसा जानना ॥ ४९ ॥

ऐसी आसनका वर्णन किया । अर्थ स्थानका स्वरूप कहैहै;—

स्थायने येन तन् स्थानं द्विप्रकारमुदाहृतम् ।

वेदना क्रियते यन्मादूर्ध्वाभूपोषविन्द्य वा ॥ ५० ॥

अर्थ—जा करि स्थान त्रिजिण मो स्थान दोष प्रकार बज्जातै जाते  
वेदना है मो गदरकरि वा वैठकरि करिये है ।

भावार्थ—खडे रहना वा बैठना ऐसा दोय प्रकार स्थान जानना ॥ ५० ॥

अगै कालका स्वरूप कहैहै;—

घटिकानां मतं पङ्कं संध्यानां त्रितये जिनैः ।

कार्यस्यापेक्षया कालः पुनरन्यो निगद्यते ॥ ५१ ॥

अर्थ—संध्यानिका कालत्रय कहिए प्रभात मध्याह्न सायंकाल इन तीनीं संध्यानविधै छह घडी काल जिनदेवनिने आवश्यकता कहिएहै, बहुरि कार्यकी अपेक्षा करि और कहिएहै ।

भावार्थ—मुख्य काल ती छहघडीही काल कथाहै बहुरि कार्यकी अपेक्षाकरि दोय घडी आदिभी कथाहै ॥ ५१ ॥

अगै मुद्राका स्वरूप कहै है;—

जिनैद्रवंदनायोगमुक्ताशुक्तिविभेदतः ।

चतुर्विधोदिता मुद्रा च्छुद्रामार्गविशारदैः ॥ ५२ ॥

अर्थ—जिनैद्रमुद्रा १ वंदना मुद्रा १ योगमुद्रा १ मुक्ताशुक्तिमुद्रा १ इन भेदनिकरि मुद्राके मार्गविधै प्रवीण जे पुरुष तिनकरि च्यार प्रकार मुद्रा कहीहै ॥ ५२ ॥

अगै जिनमुद्राका स्वरूप कहैहै;—

जिनमुद्रांसरं कृत्वा पादयोश्चतुरंगुलम् ।

ऊर्द्धजानोरवस्थानं प्रलंबितभुजद्वयम् ॥ ५३ ॥

अर्थ—दोऊ पादनका चार अगुल अतर करिके घुटनेके ऊपर स्थित ऐसी उंचायमान दोऊ भुजा जामै सो जिनमुद्रा जानना ॥५३॥

अगै वंदनामुद्राका स्वरूप कहैहै;—

सुकुलीभूतमाधाय जठरोपरि कूर्परम् ।

स्थितस्य वंदना मुद्रा करद्वन्द्वं निवेदितम् ॥ ५४ ॥

अर्थ—मुकुट्रीभूत कटिष्, कमलपत्नी हांहीगमान अर पेटये. उपाहे कुटनी जाविणे, ऐंमै विनली करनेवाळा हस्तयुगांकी भागिके पिच्छा जो मुख्य ताके बंधनामुद्रा कहैहे ॥ ५४ ॥

आगे योग मुद्राका स्वरूप वहे हे ।

जिनाः पद्मानादीनामंशकमध्ये निवेशनम् ।

उत्थानकरयुग्मस्य योगमुद्रा वभाविरे ॥ ५५ ॥

अर्थ—ऊंचाहे ह्येदीनका मुत्र आका ऐसा हस्तयुगांकी पद्मान-  
नादिकाविधी ओंहीके मध्यविधि जो धारणा साहि जिन के हांहीनादिक त  
योगमुद्रा कहैहे ॥ ५५ ॥

आगे मुक्ताशुक्तिमुद्राका स्वरूप वहेहे;—

मुक्ताशुक्तिर्मला मुद्रा जठरोपरि तूर्परम् ।

उर्द्धजानोः कर दृष्टं संलयांगुलि सुविधिः ॥ ५६ ॥

अर्थ—पेटये. उपाहे तूर्पर कटिष्, कुटनी जाविणे अर मुकुटे. व  
उपाहे हस्तयुगां आवे. अर भजे प्रकार लग रहैहे अमु नी जाके का  
मुक्ताशुक्तिमुद्रा आभावेनि वही कहैहे ॥ ५६ ॥

आगे वाया सर्गका स्वरूप वहेहे;—

स्यामो देहमपस्याप तन्मूर्च्छातिरदाहता ।

उपरिहोपरिहोदिविभेदेन चतुर्विधा ॥ ५७ ॥

अर्थ—हारीके. कामबका जो मारो को वादे मते हस्तविहोपदि  
साहि बेदकरी मदा प्रकार का हे ॥ ५७ ॥

तहा प्रथम उपरिहोपदिहो वादे फांकी कहैहे;—

आर्षसोदृष्टस्य दग्दाहपरिदेन विचरते ।

उपरिहोपरिहोदिव्या वायने सा तन्मूर्च्छातिः ॥ ५८ ॥



अर्थ—जाविष्ये आर्त रौद्रव्यान दोनों बैठ करि चितिए मो  
छोपविष्टनामा कायोत्सर्ग कहिए है ।

भावार्थ—जामे जीवके परिणाम वा शरीर दोनों पड़तेहैं ताते  
विष्टोपविष्ट कहाहै ॥ ५८ ॥

आगे उपविष्टोत्थित कायोत्सर्गको कहैहै;—

धर्मशुक्रद्वयं यस्यामुपविष्टेन चिंत्यते ।

उपविष्टोरित्यतां संवस्तां वदंति तनूत्सृतिम् ॥ ५९ ॥

अर्थ—जाविष्ये धर्म अर शुक्र दोनों व्यान बैठकरि चितिए ताते  
संतजन उपविष्टोत्थित कायोत्सर्ग कहैहैं ।

भावार्थ—इसमें शरीर तो बैठाहै अर परिणाम चढ़तेहैं, ताते उप  
विष्टोत्थित कहाहै ॥ ५९ ॥

आगे उत्थितोपविष्ट कायोत्सर्ग कहैहै;

आर्तरौद्रद्वयं यस्यामुत्थितेन विधीयते ।

तामुत्थितोपविष्टाहां निगदंति महाधिपः ॥ ६० ॥

अर्थ—जाविष्ये आर्त रौद्र दोनों व्यान ठाटे होय करि कणिए ताते  
महाबुद्धिपुम्प उत्थितोपविष्ट नाम कायोत्सर्ग कहैहैं ।

भावार्थ—जा विष्ये परिणाम तो पड़ेहै अर शरीर गड़ाहै, ताते  
उत्थितोपविष्ट कहाहै ॥ ६० ॥

आगे उत्थितोत्थित कायोत्सर्ग कहैहै;—

धर्मशुक्रद्वयं यस्यामुत्थितेन विधीयते ।

उत्थितोत्थितनामानं तं मापने विप्रधिपः ॥ ६१ ॥

अर्थ—जाविष्ये धर्म शुक्र दोनों व्यान ठाटे होय करि कणिए ताते  
उत्थितोत्थित कायोत्सर्ग कहैहैं ।

भावार्थ—जा विषे परिणाम चढतेहै अर शरीर भी ग्वडाई तानै  
टल्लितोत्थित कराई, ऐसा जानना ॥ ६१ ॥

आगे प्रणामका स्वरूप कहैहै;—

एकद्वित्रिचतुः पंचदेहांशप्रनेर्मतः ।

प्रणामः पंचधा देवैः पादानतनगरमरैः ॥ ६२ ॥

अर्थ—एक दोय तीन चार पांच जे शरीरके अंग तिनके नमनतै  
पांच प्रकार प्रणाम जिनदेवनिने कराई, जिनदेव धैमेहै जिनके चमनवषी  
सर्वतरफतै देव अर मनुष्य नमेहै ॥ ६२ ॥

एकांगः शिरसो नामे सङ्गः करयोर्द्वयोः ।

प्रयाणां मूर्द्धहस्तानां मध्यंगो नमने मतः ॥ ६३ ॥

चतुर्णां करजानूनां नमने चतुरंगकः ।

करमस्तकजानूनां पंचांगः पंचक्ष नते ॥ ६४ ॥

अर्थ—एक मस्तककीके नमावने विषे एकांग नमाकार कहिए अर  
दोऊ हाथनके नमावनेमें द्वयंग कहिए दोय अंगनि करी नमाकार  
कहिए, अर मस्तक अर दोयहाथके नमावनेमें त्रयंग कहिए तीन अंग करी  
नमाकार कहा है ॥ ६३ ॥ अर दोय हाथ अर दोय पुंजे इन चारो  
नमनये चार अंगनिपरि नमाकार कहाई, अर दोय हाथ अर एक  
मस्तक अर दोय भूँजे इन पांचनयो नमाये सेते पंचांग नमाकार है ।  
ऐसा जानना ॥ ६४ ॥

आगे आशक्तवक्त्र स्वरूप कहैहै;—

कथिता द्वादशाक्षर्या वपुर्वपनयेतगात् ।

इत्यगामादिक्वापंतवरावर्धनेषुष्टयाः ॥ ६५ ॥

अर्थ—शीर वचन जिन १२ वर शब्द अर शब्द विकर अदि  
अंगनै आशक्त कहिए देवताके शरणा जिनकर सेते वपुह आशक्त

भावार्थ—सामयिकादिकके आदि अंतर्मे मन बचन कायके दोनूँ हाथ जोड़िके तीन बार भक्ति मद्रिन पच्छना तब एकगार मन्त्रक नञ्चना, ऐंमे ध्याय बार मन्त्रम नभात्रनेमे बारह आवर्त जानना ॥ ६५ ॥

आगे कायोत्सर्गकी संध्या कहैहै,—

अष्टविंशतिसंख्यानाः कायोत्सर्गा मता जिनैः ।

अष्टोराग्रगताः सर्वे पडावश्यककारिणाम् ॥ ६६ ॥

अर्थ—छह आवश्यक करनेवालेके रात्रिदिनविषे सर्व अष्टाईस कायोत्सर्ग जिनदेवने कहैहै ॥ ६६ ॥

आगे ते अष्टाईस कायोत्सर्ग कहां कहां होयहै तिनका स्वर कहैहै,—

स्वाध्याये द्वादश प्राज्ञैर्बंदनायां पटीरिताः ।

अष्टौ प्रतिक्रमे योगमक्तौ तौ द्वाबुदाहृतौ ॥ ६७ ॥

अर्थ—पंडितनिने स्वाध्यायविषे बारह कायोत्सर्ग कहैहै, अर बंदनामे छह कहैहै अर प्रतिक्रममणविषे आठ कहैहै अर योगमक्तिविषे दोय कायोत्सर्ग कहैहै । ऐसें सर्व अष्टाईस कायोत्सर्ग करनेका अन्त जानना ॥ ६७ ॥

आगे कौन कायोत्सर्ग कितने उच्छ्वास ताई करणा ताका प्रमाण कहैहै,—

अष्टोत्तरश्लोच्छ्वासः कायोत्सर्गः प्रतिक्रमे ।

संशये प्राभानिके वाद्विमन्यस्तत्सप्तविंशतिः ॥ ६८ ॥

अर्थ—एकना जत्र उच्छ्वासमात्र कायोत्सर्ग संध्यासंबंधी प्रतिक्रमणमे है, अर प्रभातसवंधी प्रतिक्रमणमे अर्द्ध कहिए चौवन उच्छ्वासमात्र कायोत्सर्ग फलहै, बहुरि और कायोत्सर्ग सत्ताईस उच्छ्वासमात्र ॥ ६८ ॥

सप्तविंशतिरुच्छ्वासाः संसारोन्मूलनक्षमे ।

संति पंचनमस्कारे नवधा चितिते सति ॥ ६९ ॥

अर्थ—संसारकेनाश नाश करनेमें समर्थ जो पंचनमस्कार मंत्र साक्षात् नव प्रकार चितवन परे संते सत्ताईस उच्छ्वास होयहैं ।

भावार्थ—एक णमोकारमंत्रका आप तीन उच्छ्वासमें करै ऐसैं नव णमोकारके आपमें सत्ताईस उच्छ्वास जानना ॥ ६९ ॥

प्रतिक्रमद्वयं प्राज्ञैः स्वाध्यायानां चतुष्टयम् ।

वेदना त्रितयं योगभक्तिद्वितयमिष्यते ॥ ७० ॥

अर्थ—प्रतिक्रमण दोय, स्वाध्याय प्यार, वेदना तीन, योगभक्ति दोय पंडितनि करि कहिएहै ॥ ७० ॥

उल्लूहभावकेर्णते विधातव्याः प्रयत्नतः ।

अन्वैरेते यथाशक्ति संमारांतं पिपासुभिः ॥ ७१ ॥

अर्थ—जे प्रतिक्रमणादि पूर्व कहे ते उल्लूह भावक्यरी भले प्रकार जलने परणा योग्यहै, गह्वरि और जे संमारके पार जानेके इच्छुकहैं तिनकरि प्रतिक्रमणादिक ऐसी शक्ति होय तैसे परणा योग्यहै ॥७१॥

इच्छाकारं समाचारं संयमासंयमस्थितिः ।

विशुद्धश्रुतिभिः सार्द्धं विदधाति प्रियंवदाः ॥ ७२ ॥

अर्थ—संयमासंयमस्थिति है स्थिति जाकी, भावार्थ—शुद्धी समय प्रन-  
हिताका न्यागी अरु एशवरहिमाका त्यागी ऐसा देहावली, प्रिय वचन-  
का सोलनेवाला, सो निर्मल है प्रवृत्ति जिनकी ऐसे जे आचार्यादिक  
तिनके साथ इच्छाकारनामा समाचारको करेहै ।

भावार्थ—आपके सो आचार्यादिकके उपदेशमें इच्छा करेहै, करेहै  
कि हे भगवन् ! आप कदा सो मैं श्रुत हूँ । ऐसा जानना ॥ ७२



भावार्थ—मामयिकादिकके आदि अंतमें मन वचन कायके योगकी हाथ जोड़िके तीन बार भक्ति सहित पलटना तत्र एकवार मस्तक नवावना, ऐसे चार बार मस्तक नवावनेमें बारह आवर्त्त जानना ॥ ६५ ॥

आगे कायोत्सर्गकी संख्या कहेंहैं;—

अष्टविंशतिसंख्यानाः कायोत्सर्गा मता जिनैः ।

अहोरात्रगताः सर्वे पडावश्यककारिणाम् ॥ ६६ ॥

अर्थ—छह आवश्यक करनेवालेनके रात्रिदिनविषे सर्व अष्टाईस कायोत्सर्ग जिनदेवनें कहेहैं ॥ ६६ ॥

आगे ते अष्टाईस कायोत्सर्ग कहां कहां होयहैं तिनका स्वरूप कहेंहैं,—

स्वाध्याये द्वादश प्राज्ञैर्वंदनायां पडीरिताः ।

अष्टौ प्रतिक्रमे योगभक्ता तौ द्वायुदाहृतौ ॥ ६७ ॥

अर्थ—पंडितनिनें स्वाध्यायविषे बारह कायोत्सर्ग कहेहैं, अर वंदनामें छह कहेहैं अर प्रतिक्रममणविषे आठ कहेहैं अर योगभक्तिविषे ते दोय कायोत्सर्ग कहेहैं । ऐसें सर्व अष्टाईस कायोत्सर्ग करनेका अवसर जानना ॥ ६७ ॥

आगे कौन कायोत्सर्ग कितने उच्छ्वास ताई करणा ताका प्रमाण कहेंहैं;—

अष्टोत्तरशतोच्छ्वासः कायोन्मर्गः प्रतिक्रमे ।

मांध्ये प्राभातिके वाद्विमन्यस्तरमपविंशतिः ॥ ६८ ॥

अर्थ—एकमां आठ उच्छ्वासमात्र कायोन्मर्ग संप्यासवंगी प्रतिक्रमणमें कदाहै, अर प्रभातगवधी प्रतिक्रमणमें अर्द्ध कहीए चौथन उच्छ्वासमात्र कायोन्मर्ग कदाहै, बहुरि और कायोन्मर्ग सत्ताईस उच्छ्वासमात्र कदाहै ॥ ६८ ॥

सहविद्यतिश्च्छायाः संसारोन्मूलनधमे ।

सति संघनयस्कारं मदया विगतने सति ॥ ६९ ॥

अर्थ—संसारके नाश का काम करनेमें समर्थ जो संघनयस्कार में तब तक नष्ट प्रयत्न प्रितबन करे तब सत्कारण उच्छाया होय ? ।

भावार्थ—एव, लभोपकारसंघना आप तीन उच्छायामें परे ऐसी नष्ट लभोपकारके, आपमें सत्कारण उच्छाया जागता ॥ ६९ ॥

प्रतिशमद्वयं प्राज्ञैः स्वाध्यायानां चतुष्टयम् ।

दर्शना प्रितयं योगभक्तिद्वितयमिष्यते ॥ ७० ॥

अर्थ—प्रतिशमण दोष, स्वाध्याय ध्यान, दर्शना तीन, योगभक्ति दोष दृष्टितानि करि करिष्ट ॥ ७० ॥

उत्कृष्टधावपेक्षिते विधातव्याः प्रयत्नतः ।

अन्येने यथाशक्ति संमारांतं विद्यागुमिः ॥ ७१ ॥

अर्थ—जे प्रतिशमणादि पूर्वे करे ते उत्कृष्ट धायककरि भले प्रकार जानने करणा योग्यहै, बहुति और जे संमारांके पार जानेके इच्छुकहैं तिनकरि प्रतिशमणादिक जैसी शक्ति होय तैसै करणा योग्यहै ॥७१॥

इच्छाकारं ममाचारं संयमासंयमस्थितिः ।

विशुद्धवृत्तिभिः सार्द्धं विदधाति प्रियंवदाः ॥ ७२ ॥

अर्थ—संयमासंयमविधेयै हे स्थिति जाकी, भावार्थ—एकही समय प्रसहिमाका त्यागी अरु स्वावररिसाका त्यागी ऐसा देशव्रती, प्रिय यथनवा योनेवाला, सो निर्मल है प्रवृत्ति जिनकी ऐसे जे आचार्यादिक तिनके साथ इच्छाकारनामा समाचारफै करैहै ।

भावार्थ—धायकदे सो आचार्यादिकके उपदेशमें इच्छा करैहै, करैहै कि हे भगवन् ! आप कता सो मैं इच्छुं हूं । ऐसा जानना ॥ ७२ ॥

वैराग्यस्य परां भूमिं संयमस्य निकेतनम् ।

• उत्कृष्टः कारयत्येष मुंडनं तुंडमुंडयोः ॥ ७३ ॥

अर्थ—उत्कृष्ट श्रावक है सो वैराग्यकी परम भूमिका अर संयमका ठिकाना ऐसा, तुंड कहिये मुखडाढी मूँछका अर मुंड कहिए मूँडके बालका मुंडन जो मूँडना ताहि करावैहीहै ।

भावार्थ—ग्यारह प्रतिमाका धारी उत्कृष्ट श्रावक डाढी मूँछके बाल कतरावैहै, ऐसा जानना ॥ ७३ ॥

केवलं वा सवस्त्रं वा कौपीनं स्वीकरोत्यसौ ।

एकस्थानान्नपानीयो निंदगर्हापरायणः ॥ ७४ ॥

अर्थ—यह उत्कृष्ट श्रावकहै सो केवल कौपीन वा यज्ञसहित कौपीन कौ अंगीकार करै, केसाहै यह एक स्थानधिने हीहै अन्नपानीका लेना जाके अर आपकी निंदा अर गर्हा रिने तापरहै ॥ ७४ ॥

स धर्मलामशब्देन प्रतिवेद्यम गुधोपमम् ।

मपाथो यागने मिश्रां जगमरणमूदनीम् ॥ ७५ ॥

अर्थ—सो श्रावक पात्रसहित घर घर प्रति अमृत ममान धर्मग्राम शब्द करि जरा मरणकी नाश करनेवाली मिश्राकी यावैहै, ऐसा जाना ॥ ७५ ॥

आगे बटनाके वस्तीम दोषनिका वर्णन करैहै;—

ममप्तादग्निर्मुक्तो १ मदाष्टरुवशीहतः २ ।

प्रतीक्ष्य पीटनाकारी २ कृष्णमूर्द्धजट्टचक्रः ४ ॥ ७६ ॥

चलदन्निगिलं कायं टोलाहट इवामितः ५ ।

अग्रतः पार्श्वतः पथाट्टिपन् कूर्म इवामितः ६ ॥ ७७ ॥

कूर्मो बाहुनाहटः कुर्वन् मूर्द्धनतोन्नता ७ ।

द्विश्रं मन्य इवाऽप्युग्य पंगवां निपतन् पुरः ८ ॥ ७८ ॥

कुर्वन् वक्षोभुजद्वंद्वं विश्रुतीं द्राविडीभिः ९ ।  
 पूज्यात्मासादनाकारो १० गुर्वादिवनर्म पितः ११ ॥ ७९ ॥  
 भयसप्तकविवस्तः १२ परिवारद्विर्गावतः १३ ।  
 समाजतो वहिर्भूय किंचिद्द्विज्जाकुलाशयः १४ ॥ ८० ॥  
 प्रतिकूलो गुरोर्भूत्वा १५ कुर्वाणो जल्पनादिकम् १६ ॥  
 कस्यचिदुपरि कृदन्मस्याकृत्वा धर्मां त्रिषा १७ ॥ ८१ ॥  
 शास्यते वंदनां कृत्वा भ्रमयैस्तर्जनीमिति १८ ।  
 हसनोद्दत्ते कुर्वन् १९ मृकुटी कुटिलालकः २० ॥ ८२ ॥  
 निकटीभूय गुर्वादे २१ राचार्यादिभिरीक्षितः २२ ।  
 करदानं गणेरमत्वा २३ कृत्वा दष्टेषथं गुरोः २४ ॥ ८३ ॥  
 लज्जोपकरणादीनि २५ तेषां लामाश्रयापि च २६ ।  
 असंपूर्णविधानेन २७ सूत्रादितपिषायकम् २८ ॥ ८४ ॥  
 कुर्वन् मूक इवात्यर्थं हुंकारादि पुरः मरः २९ ।  
 वंदारूपां स्वशब्देन परेषां छादयन् ध्वनिम् ३० ॥ ८५ ॥  
 गुर्वादेरग्रतो भूत्वा ३१ मूर्द्धोपरिक्रमभ्रमी ३२ ।  
 द्वाविंशदिति मोक्तव्या दोषा वंदनकारिणाम् ॥ ८६ ॥

अर्थ—समस्त आदररहित किचाकर्म करना सो अनारत दोष है १  
 बहुरि आयादि अउमदके बसौभूत भया वंदना करै सो स्वयं दोष है  
 २ बहुरि प्रतीत्य करिरे देणकरि अंगनकी पाँटे दाँवे मो पाँटिन दोष  
 है ३ बहुरि दाडाँके वा मूछके तिरके बावनकी मरोटे सो बुझिन दोष है  
 ४ बहुरि होलाने बैठेकी ज्यो समस्त हरीर घटावलाय वंदना करै सो  
 दोषादित दोष है ५ बहुरि आगेते एतदादेते पाँउते कउदेकी ज्यो लज्ज-  
 फलै घेत्त करै अंग संकोषे वा विस्तारै सो कण्ठदेलित दोष है ६ बहुरि  
 हापके अगूयाकी मलवदिरे अंगुठकी ज्यो लज्ज करके बकी

वैराग्यस्य परमं मुक्तिं सर्वमस्य निवेदनम् ।

उत्कृष्टः काश्यपोऽपि मूर्धनं तृणमृद्वोः ॥ ७१ ॥

सार्थ—उत्कृष्ट काश्यपक दे सो वैराग्यको परम मुक्ति वा सर्वम  
पिकानी वेसा, तृण कपिरे मृद्वनी मृदका पर मृ कपिरे मृदके  
वास्तुका मृद्वन जो मृदवा पाणि कायेवेदे ।

भाष्य—साम्यद प्रतिभाका वागी उत्कृष्ट काश्यप मृद्वी मृदवे पर  
कश्यपेदे, वेसा नामना ॥ ७१ ॥

केवलं वा मरुतं वा कौपीनं स्वीकरोम्यर्था ।

एकस्यानाश्रयानीषो निदग्दोषममगः ॥ ७४ ॥

सार्थ—एतद् एकत्वात् यावत्के मा कवः कौपीन वा वस्त्रमहित  
कौपीन को भोगिका करेदे, केसादे एतद् एक स्थानीषो हीरे अश्रयनीका  
देना जाने पर आपकी निदा पर मर्श विवेक परदे ॥ ७४ ॥

स धर्मनामशब्देन प्रतिषेधममुच्यते ।

मयाप्रो वापने निधां जगमग्णमृदनीम् ॥ ७५ ॥

सार्थ—सो आश्रयक वापमहित पर पर प्रति अमृत समान धर्मनाम  
शब्द करि जग मग्णकी नाश करनेवागी निधाकी वावेदे, देना  
जाना ॥ ७५ ॥

आगे वदनाके वक्षीम दोषनिका वर्णन करेदे,—

समन्तादरनिर्मुक्तो १ मदाष्टकवर्षीकृतः २ ।

प्रतीक्ष्य पीडताकारी ५ कूर्चमूर्द्धजकुंचकः ४ ॥ ७६ ॥

चलयन्निरिलं कायं दीलारूढ इवाभितः ५ ।

अग्रतः पार्श्वतः पश्चाद्रिपन् कूर्म इवाभितः ६ ॥ ७७ ॥

करटी वांकुशारूढः कुर्वन् मूर्द्धनतोन्नती ७ ।

क्षिप्रं मत्स्य इवोत्प्लुत्य परेषां निपतन् पुरः ८ ॥ ७८ ॥

कुर्वन् बहोभुजद्वंद्वं विश्वतीं द्वाविडीमिव ९ ।  
 पूज्यात्मासादनाकारी १० गुर्वादिजनर्मपितः ११ ॥ ७९ ॥  
 भयसप्तकवित्रस्तः १२ परिवारद्विगर्वितः १३ ।  
 समाजतो बद्धिभूय किंचिद्द्विजाकुलाशयः १४ ॥ ८० ॥  
 प्रतिकूलो गुरोर्भूत्वा १५ कुर्वाणो जल्पनादिकम् १६ ॥  
 कस्यचिदुपरि क्रुद्धस्तस्याकृत्वा धर्मां त्रिधा १७ ॥ ८१ ॥  
 ज्ञास्यते वंदनां कृत्वा भ्रमयंस्तर्जनीमिति १८ ।  
 हसनोद्घटने कुर्वन् १९ शृकुटी कुटिलालकः २० ॥ ८२ ॥  
 निकटीभूय गुर्वादे २१ राचार्यादिमिरीक्षितः २२ ।  
 करदानं गणेरमत्वा २३ कृत्वा दृष्टिपथं गुरोः २४ ॥ ८३ ॥  
 लज्जोपकरणादीनि २५ तेषां लामाशयापि च २६ ।  
 असंपूर्णविधानेन २७ सूत्रीदितपिषायकम् २८ ॥ ८४ ॥  
 कुर्वन् मूक इवात्यर्थं हुंकारादि पुरः सरः २९ ।

वंदारूणां स्वशब्देन परेषां छादयन् ध्वनिम् ३० ॥ ८५ ॥

गुर्वादेरप्रतो भूत्वा ३१ मूर्द्धोपरिक्रमधर्मी ३२ ।

द्वात्रिंशदिति मोक्तव्या दोषा वंदनकारिणाम् ॥ ८६ ॥

अर्थ—समस्त आदरहित क्रियाकर्म करना सो अनादर दोष है १  
 गुरुरि जात्यादि अष्टमदके बसीभूत भया वंदना करे सो लज्ज दोष है  
 २ गुरुरि प्रतीक्ष्य कहिए देगकरि भगनको दाँडे दाँडे सो दाँडित दोष  
 है ३ गुरुरि दाँडके बा मूँठके सिरके बाजनको करोड़े सो बुद्धिदोष है  
 ४ गुरुरि होठामे बैठेकी ज्यो समस्त रतीर खडावतामेण वंदना करे सो  
 दोलापित दोष है ५ गुरुरि आगेते दसबाइते दाँडते कण्ठकेकी ज्यो ल-  
 फमे चेष्टा करे अंग संकोचे वा रिलारि सो कण्ठपलित दोष है ६ गुरुरि  
 हापके अगूठको मलकरिसे अनुदाकी ज्यो लगाय करे, बाकी

मन्त्रकर्त्री नीना ऊंगा करे सो अंगुलिग दोषहै ७ बहुरि मण्डली ग्यौ  
 टछलकरि औरनके आगे पड़े वा मण्डलीकी ग्यौ तडकती सो मन्त्रो-  
 द्धसदोषहै ८ बहुरि द्वािद देशके पुरणकी विनगीममान यशस्पत्ये दोउ  
 हाथ परके वंदना करे सो द्वािडीविज्ञप्ति दोषहै तथा याहीका नाम  
 वेदिकावद्ध दोषहै ९ बहुरि आचार्यादिक पूज्य पुरणकी विरामना  
 करता वंदना करे सो आमादना दोषहै १० बहुरि गुरु आदिकके  
 भयते वंदना करे सो विभीत दोषहै ११ बहुरि जो मरणादिक सात  
 भयकीरि भयभीत भया वंदना करे सो भय दोषहै १२ बहुरि परिवार-  
 ऋद्धि करि गर्हित भया मंता वंदना करे सो ऋद्धिगौरव दोषहै १३  
 बहुरि साधर्मानके समाजते बाहिर होय करि मानी छजाते किंचित्  
 आमुल भया वंदना करे सो लज्जित दोषहै १४ बहुरि गुरुके प्रतिकूट  
 होयकरि वंदना करे सो प्रतिकूटदोषहै १५ बहुरि वचनालाप आदि  
 करता संता वंदना करे सो शब्ददोष है १६ बहुरि काहूके ऊपर क्रोध-  
 रूप भया तामे मन वचन कायकरि क्षमा न करायके वंदना करे सो  
 प्रदुष्ट दोषहै १७ बहुरि कोई जाणैगा ऐसे वंदना करि अंगुलीको  
 भ्रमावै सो मनो दुष्टदोषहै १८ बहुरि हंसना अर अंग घिसना इनको  
 करता संता वंदना करे सो हसनोद्धटन दोषहै १९ बहुरि भौह टेडीकरि  
 वंदना करे सो भृकुटीकुटिल दोषहै २० बहुरि गुरु आदिकनिके अति-  
 निकट होय करि वंदना करे सो प्रविष्ट दोषहै २१ बहुरि आचार्यादि-  
 कनि करि देख्या संता वंदना करे,—

भाषार्थ—आचार्यादिकनिके आगे तौ भले प्रकार करे अन्यथा यद्वा  
 तद्वा करे सो दृष्टदोषहै २२ संधाधिषे करदान मानकरि वंदना करे,

भाषार्थ—संघके खुशी रहनेके अर्थ वा संघते भक्त्यादिककी  
 खांछा करि वंदना करे सो करमोचन दोषहै २३ बहुरि गुरुनकी

आंखों टिनाय बंदना करै सो अष्ट दोरहै २४ बहुरि लपकरनादि  
पाय करै बंदना करै सो आठव्व दोरहै २५ बहुरि तिन लपकर-  
नादिकनके मिलनेके बांछा करि बंदना करै सो अनाठव्व दोरहै  
२६ बहुरि अनंदूर्ण विधान करि कटिर काल मन्त्र अर्थ इत्यादिक करि  
हान बंदना करै सो हानदोरहै २७ बहुरि सूत्रकं अर्थकौ टाक करि  
बंदना करै सो निधनिक दोरहै २८ बहुरि गृहेकी ज्यौ अतिशय करि  
हुंकारादि करता बंदना करै सो मूकदोरहै २९ बहुरि और बंदना करने-  
वालेके मन्दनकौ टारक बंदना करै सो दुर्दुर दोरहै ३० बहुरि गुण  
आदिकनि के आगे होय करि बंदना करै सो अन्न दोरहै ३१ बहुरि  
अनमें बंदनाकौ बूढिकाने क्रम भूले जड्यी करै

भावाये—उर बंदना धोईसी बाकी रहे तब जड्यी जड्यी करै  
अन्न भूटे जाय सो उत्तर बूढिक दोरहै ३२ या प्रकार बर्तान दोर  
बंदना करनेवालेकौ त्यागने योग्यहै ॥ ६८ ॥

क्रियमाना प्रपत्नेन क्षिप्रं कृषिरिवेष्मिवम् ।

निराकृतमला दत्ते बंदना फलमुत्पन्नम् ॥ ८७ ॥

अर्थ—दूर करै मल जाके ऐसी दन्तै करि भई जो बंदना नो  
बंछित महाकालकौ देवै, जेने दूर करै एन कटकटि मल जाके ऐसी  
दन्त करि करी भई ऐनी महामल देव तेने, ऐसा जन्म ॥ ८७ ॥

आगे वापेसर्गके बर्तान दोर कहै:—

सन्धीहृत्कपादन्य स्नानमपत्वेरिव १ ।

चलने वातधृताया सताया इव सर्वतः २ ॥ ८८ ॥

धरपं स्रंमहुटपादेः ३ परकाण्डपरिस्थितिः ४ ।

उपरि मातमातंभ्य द्विरमावस्थितिः कृता ५ ॥ ८९ ॥



निगडेनेव बद्धस्य विकटांघ्रिस्थितिः ६ ।

कराभ्यां जघनाच्छादः किरानयुवनेरिव ७ ॥ ९० ॥

शिरसो नमनं कृत्वा ८ विधायोन्नमनस्थितिः ९ ।

उन्नमय्य स्थितिर्विश्वः शिशोर्घाञ्च्या इव स्तनम् १० ॥ ९१ ॥

काकरस्येव चलाक्षस्य मर्गतः पार्श्ववीक्षणम् ११ ।

उद्धाघः कंपनं मूर्ध्नः खलीनार्त्तहरेरिव १२ ॥ ९२ ॥

स्कंधारूढगजस्येव कृतग्रीवानतोन्नती १३ ।

सकपित्यकरस्येव मुष्टिवंधनकारिणः १४ ॥ ९३ ॥

कुर्वतः शिरसः कंपं १५ मूकसंज्ञाविधायिनः १६ ।

अंगुलीगणनादीनि १७ म्रुत्वादिककल्पनम् १८ ॥ ९४ ॥

मदिराकुलितस्येव घूर्णनं १९ दिग्बेक्षणम् २० ।

ग्रीवोद्धनयनं भूरि २१ ग्रावाघोनयनादिकम् २२ ॥ ९५ ॥

निष्ठीवनं २३ बहुस्पर्शः २४ प्रपंचबहुला स्थितिः २५ ।

सूत्रोदितविधेर्नूनं २६ वयोपेक्षा विवर्जनम् २७ ॥ ९६ ॥

कालापेक्षव्यतिक्रांतिः २८ व्याश्लेषासक्तचित्तता २९ ।

लोभाकुलितचित्तत्वं ३० पापकार्योद्यमः परः ३१ ॥ ९७ ॥

कृत्याकृत्यविमूढत्वं ३२ द्वात्रिंशदिति सर्वथा ।

कायोत्सर्गविधेर्दोषास्त्र्याज्या निर्जरणार्थिभिः ॥ ९८ ॥

अर्थ—घोड़ेकी ज्यों एक पाव उठाय करि खड़े रहना सो घोटक-  
दोषहै १ बहुरि पवनकरि हनी जो उता बाकी ज्यों सर्व तरफ चलना  
सो उतादोषहै २ बहुरि धेभ भीन आदिका आसरा लेना सो स्तंभकुब्ध-  
दोषहै ३ बहुरि पाट आदिके ऊपर तिष्ठ करि कायोत्सर्ग करे सो  
पट्टिकादोषहै ४ बहुरि सिरके ऊपर माताकी अवलंबके तिष्ठना सो  
मालादोषहै ५ बहुरि वेईकारं बंधे पुंजकी ज्यों टेढ़े चरण धारि तिष्ठना

सो निगहदोषहै ६ बहुरि भालकी स्त्रीकी ज्यौ हाथनकरि जंघान कौ टांपना सो किरालपुवति दोषहै ७ बहुरि शिरकौ नमाव करि तिष्ठना सो शिरोनमन दोषहै ८ बहुरि ऊंचा शिर करके तिष्ठना सो उन्नमन दोषहै ९ बहुरि बालककौ धायके स्तनकी ज्यौ छातीकौ ऊंची करके तिष्ठना सो धात्री दोषहै १० बहुरि कागलकी ज्यौ खंचल नेत्रका सर्वतरफ पसवाडेनका देखना सो वायसदोषहै ११ बहुरि लगामकरि पीडित घोडेकी ज्यौ ऊपर नीचे मस्तकका नवायना सो खलीन दोषहै १२ बहुरि कंधापर आगूढहै पुरुष जाके ऐसे गजकी ज्यौ घ्रीवाका नवायना ऊंचाकरना सो गजदोषहै वा याहीका नाम युगदोषहै १३ बहुरि कैथसहित हस्तकी ज्यौ मूठी बंधन करनेवालेके सो कपित्थदोष है १४ बहुरि सिरका कंधावना सो शिरः प्रकंपित दोषहै १५ बहुरि गूंगेकी ज्यौ नासिकादि अंगनिनी मैनानी करनेवालेके मूकदोषहै १६ बहुरि फायोत्सर्गमें अंगुली गिनना सो अंगुली दोषहै १७ बहुरि फायोत्सर्गमें भृकुटी नचावना आदि करे सो भूदोषहै १८ बहुरि मदिराकरि आकुलित पुरुषकी ज्यौ घूमै सो मदिरा पायी दोषहै १९ बहुरि फायोत्सर्गमें दशौ दिशान प्रति देखना सो दिग्देशणदोषहै २० बहुरि घ्रीवाकौ बहुत ऊपर करना सो घ्रीवोर्द्धनयन दोषहै २१ बहुरि घ्रीवाकौ नीची करना इत्यादि घ्रीवाधोनयनादि दोषहै २२ बहुरि गकारना सो निष्ठीवनदोषहै २३ बहुरि अंगका स्पर्शना सो श्पुःस्पर्शन दोषहै २४ बहुरि मापा करि बहुत प्रपंचसहित तिष्ठना सो प्रपंचबहुल दोष है २५ बहुरि सूत्रभारितविविची हीनता करनी सो विधिभ्यूत दोषहै २६ बहुरि वृद्धादि वयकी अपेशादिकका त्यागना,

भावार्थ—अपनी अवस्था बिना देखे फायोत्सर्ग करना सो वयोपेशादिवर्जन दोषहै २७ बहुरि फालकी अपेशाका उदासन करना

कायोत्सर्गके काल कायोत्सर्ग न करना सो कालापेश व्यतिक्रात दोषहै  
 २८ बहुरि चित्तकी विश्लिप्तताके कारणमें आसक्तचित्तपनां सो आक्षेप  
 सक्तचित्तता दोषहै २९ बहुरि लोभकरि आकुलित चित्तपनां सो  
 लोभाकुलित दोषहै ३० बहुरि कायोत्सर्गविषै पाप कार्यमें परम उद्यम  
 करना सो पापकार्योद्यम दोषहै ३१ बहुरि करने योग्य न करने योग्य-  
 विषै मूढपना सो मूढ दोषहै ३२ । या प्रकार कायोत्सर्गकी विधिके  
 बत्तीस दोषहै, ते निर्जगके अर्थी जे पुरुषहै तिनकरि सर्वथा त्यागना  
 योग्यहै ॥ ८७—९८ ॥

समाहितमनोवृत्तिः कृतद्रव्यादिशोधनः ।

विविक्तं स्थानमास्थाय कृतेर्यापथशोधनः ॥ ९९ ॥

गुर्वादिबंदनां कृत्वा पर्यकासनमास्थितः ।

विधाय बंदनामुद्रां सामान्योक्तनमस्कृतिः ॥ १०० ॥

ऊर्ध्वः सामायिकस्तोत्रं समुक्तामुक्तमुद्रकः ।

पठित्वा वार्चितावर्त्तां विदधाति तनूत्सृतिम् ॥ १०१ ॥

कृत्वाजैनेश्वरीं मुद्रां ध्यात्वा पंचनमस्कृतिम् ।

उक्त्वा तीर्थकरस्तोत्रमुपविश्य यथोचितम् ॥ १०२ ॥

चैत्यभक्तिं समुच्चार्य भूयः कृत्वा तनूत्सृतिम् ।

उक्त्वा पंचगुरुस्तोत्रं कृत्वा ध्यानं यथावलम् ॥ १०३ ॥

विधाय बंदनां श्वरेः कृतिकर्मपुरः सराम् ।

गृहीत्वा नियमं शक्त्या विधत्ते साधुबंदनाम् ॥ १०४ ॥

आवश्यकमिदं प्रोक्तं नित्यं व्रतविधायिनाम् ।

नैमित्तिकं पुनः कार्यं यथागममतंद्रितं ॥ १०५ ॥

अर्थ—एकाम है मनकी वृत्ति जाकी अर करीहै द्रव्यादिक फी शोधना जानै सो एकांत स्थानपै तिष्ठकरि करवाहै ईर्षापथका शोधन जानै ॥ ९९ ॥

गुरु आदिकनिकी वंदना करके पर्यकामनपरि तिष्ठया वंदनामुद्राको रचिके सांमान्यपने बज्जाहै नमस्कार जानै ॥ १०० ॥

ता उपरांत सामाधिकस्तोत्रको भडे प्रकार कहिके छोड़ीहै मुद्रा जानै सो पाठ पढ़के जान्याहै आवर्त्त जानै ऐसा पुरुषहै सो फायो मार्गको कौहै ॥ १०१ ॥

बहुरि जैनेदरी मुद्राको करिके अर पंच नमस्कार मंत्रका ध्यान करके अर तीर्थकरनिका स्तोत्र कहिके यथायोग्य बैठकरि ॥ १०२ ॥

चेय भक्तियत उधारन करि केर फायोत्सर्ग करिके बहुरि पंच गुरनिके स्तोत्रको कहिके बहुरि जैसा बल होय तैसा ध्यान करिके ॥ २०३ ॥

बहुरि वृत्तिपरमपूर्वक आचार्यकी वंदनाको करिके केर शक्ति माभिक नियमको ग्रहण करि साधुवंदनाको करै ॥ १०४ ॥

यहू आवश्यक बन करने वालेनको नित्य कहा । बहुरि आलस्य रहित पुरुषनि करि नैमित्तिक कहिए पूर्वआदिका निमित्त पाया सो जैसा आगममें कहा तैसा करना योग्यहै ॥ १०५ ॥

भावार्थ—एकाम चित्त होयके अर द्रव्यक्षेत्रादिक शोधनकरि एकांतस्थानमें तिष्ठके प्रथम ईर्षापथ दडक पढ़ै, केर गुरु आदिकनिकी वंदना करके पर्यकासन तिष्ठिके पूर्वोक्त वंदनामुद्रा रचिके फायोत्सर्ग करै, केर पूर्वोक्त जैनेदरी मुद्रा करिके पंचनमस्कारका ध्यान करै केर तीर्थकरनिका स्तोत्र पढ़के यथायोग्य बैठै, केर पंचपरमेष्ठीनिका स्तोत्र पढ़के शक्तिसारू ध्यान करै केर नमस्कार शिरोनति आवर्त्तपूर्वक आचा-

र्यवन्दना करै फेर शक्तिसारू नियमकों ग्रहण करि साधुवन्दना करै; या प्रकार यहु आवश्यक तौ नित्य ही करै । बहुरि अष्टमी चतुर्दशी आदि पर्वविषै तथा औरभी निमित्त पाय जैसे आगममें कइया तैसे आवश्यक करना योग्यहै ॥ ९९—१०५ ॥

येन केन च संपन्नं कालुष्यं देवयोगतः ।

क्षमयित्वाैव तं त्रेधा कर्त्तव्याऽऽवश्यकक्रिया ॥ १०६ ॥

अर्थ—कर्मयोगतै जिमकिसी पुरूप करि परिणामनिमें मलिनपना कलुषपना उपग्या होय ता पुरुषमाँ मन वचन कापकरि क्षमा कराय आवश्यकक्रिया करणी योग्यहै ॥ १०६ ॥

क्रियां पक्षमवां मूढश्चतुर्मासभवां च यः ।

विधत्तेऽक्षमपित्वासा न तस्याः फलमश्नुते ॥ १०७ ॥

अर्थ—जो मूढ विना क्षमा कराये पक्षजनितक्रियाको बहुरि चतुर्मासजनितक्रियाको करैहै सो यहु ता क्रिया के फलको न पावेहै ।

भावार्थ—पंद्रहदिनमें प्रतिक्रमणादि करिए सो पक्षरी क्रिया कहिए, चार महिनामें करिए सो चातुर्मासिक क्रिया कहिए सो इन क्रियानको जासै कलुषता भई होय तामें क्षमा कराये गिन करै सो परिणामनिकी शक्यतै क्रियाके फलको न पावे ॥ १०७ ॥

देवनारायः कृतमुपमगं

चंदनकारी महति समस्तम् ।

कंपनमुक्तो गिरिरिव धीरो

दृष्ट्वनरुर्मथपणमवेक्ष्य ॥ १०८ ॥

अर्थ—वन्दना करनेवाला मनुष्य है सो पापकर्मरी निर्मगको विचारिके देव मनुष्यादिकनि करि कइया समस्त उपमगको सदेह, केमोहै ? परंनरी शो कंपगदित है धीर है ॥ १०८ ॥

आमैं अधिकारवाँ तकोये है,—

इत्यमदोषं सततमनूने

निर्मलचित्तो रचयति नूनम् ।

यः कृत्तिकर्माभितगतिदृष्टं

याति न नित्यं पदमनष्टम् ॥ १०९ ॥

अर्थ—जो निर्मलचित्त पुण्य या प्रकार निर्दोष न्यूनता रहित निरंतर कृत्तिकर्म कष्टिए आरश्यक क्रिया ताहि करैहै सो नित्य अर दोषनेमें न आवै ऐसा जो मोक्षपद ताहे प्राप्त होय है, कैसाहै कृत्तिकर्म अभितगति कष्टिए अनंतहै हान जायत ऐसा जो सर्वज्ञ देवताकरि फर्याहै; ऐसा जानना ॥ १०९ ॥

अद्विष्ट ।

रागद्वेष तजि सामाधिक भजि कीजे तीर्यकर गुणमान,

पंच परमगुरु चरण बंदि नित्त पूर्वदोषको करि अरसान ।

आगामी अथत्वागि देहसौं ममताभाव निवारि मुजान,

पट आवश्यक साधि जीव हम लहै अमिगति पद निरवान ।

इति श्रीमदभितगत्याचार्यकृते धायकाचारे

अष्टमः परिच्छेदः ।

ऐसैं श्री अमितगति आचार्यविरचित धायकाचार्यविरै

आठवां परिच्छेद समाप्त भया ।

## अथ नवम परिच्छेद ।



दानं पूजा जिनै शीलमुपवास्तुविधः ।

श्रावकाणां मतो धर्मः संसारारण्यपावकः ॥ १ ॥

अर्थ—दान १ पूजा २ शील ३ उपवास्तु ४ यद्दु संसारवनकीं  
अंगिसमान चार धर्म श्रावकनिका जिनदेवनिर्ण कथाहै ॥

तहां प्रथमही दानका स्वरूप कहैहै;—

दानं वितरता दाता देयं पात्रं विधिर्मतिः

फलपिणाश्वबोद्धव्यानि धीमता पंच तत्त्वतः ॥ २ ॥

अर्थ—फलका वांछक अर बुद्धिसहित ऐसा जो दान देनेवाला  
पुरुष ताकरि दाता १ देने योग्य वस्तु २ पात्र ३ विधि ४ मति ५ ये  
पाच स्वरूपसहित जानना योग्यहै ।

भावार्थ—दान देनेवालेकरि पूर्वोक्त पंच वस्तुका स्वरूप जानना  
योग्यहै ॥ २ ॥

तहां दाताका स्वरूप कहैहै;—

भाक्तिकं तौष्टिकं श्राद्धं सविज्ञानमलोलुपम् ।

सात्त्विकं क्षमकं संतो दातारं सप्तधा विदुः ॥ ३ ॥

अर्थ—सतजनहै ते दाताकीं सात प्रकार कहै हैं; सात कीन !  
प्रथम तौ भक्तिसहित १ अर प्रसन्नचित्त २ अर श्रद्धासहित ३  
अर विज्ञानसहित ४ अर लोलुपतासहित ५ अर सात्त्विक कहिये  
शक्तिमान ६ अर क्षमावान ७ ऐसा जानना ॥ ३ ॥

आगे भाक्तिक आदिका स्वरूप कहैहै;—

यो धर्मधारिणां धत्ते स्वयं सेवापरायणः ।

निरालस्योऽश्रुतः शान्तो भक्तिकः स भक्तो पुरुषः ॥ ४ ॥

अर्थ—जो पुरुष धर्मके धारनेवालेनकी सेवामें तत्पर भयासेता स्वयं कहिये अपेक्षा रहित आपही धरिहै सो पंडितनि करि आत्मरहित बुद्धिमान शान्तचित्त ऐसा भाक्तिक कहिये भक्तिसहित कछाई ।

भावार्थ—धर्मात्मानकी सेवा करे सो भाक्तिक कहिए ॥ ४ ॥

तुष्टिर्दत्तवतो यस्य ददतश्च प्रवर्तते ।

देयासक्तमतेः शुद्धासमाहृस्ताँष्टिकं जिनाः ॥५॥

अर्थ—जिसके आगे देता भया ताके वा वर्तमानमें देसके हर्ष प्रवर्तते है ताहि कर्ममलरहित जे शुद्ध जिनदेव हैं से लौष्टिक बजिए हर्षरहित कहैहै, कैसाई सो देनेयोग्य वस्तुबिने नाही है लोभरूप बुद्धिजाकी ॥ ५ ॥

साधुभ्यो ददता दानं लभ्यते फलमीशितम् ।

यस्यैषा जायते भद्रा नित्यं भाद्रं वदन्ति तम् ॥ ६ ॥

अर्थ—साधुनके अर्थ दान देता जो पुरुष ताकरि बोलिग पर पाइए है वटु जाके नित्यही भद्रा प्रतीतिहै ता पुरुषको आचार्य भद्रा-दान करैहै ॥ ६ ॥

द्रव्यं क्षेत्रं गुर्थाः कालं भावं सम्पत्क विविच्य यः ।

साधुभ्यो ददते दानं गविज्ञानमिमं विदुः ॥ ७ ॥

अर्थ—द्रव्य क्षेत्र काल भावको भजे प्रचार विचारके साधुनके अर्थ गुबुली दान देवहे हमको आचार्य गविज्ञान करै ॥ ७ ॥

त्रिधापि यापने किंचिद्यो न मांगारिकं फलम् ।

ददानो योगिनां दानं भाषने तप्तलोडुपम् ॥ ८ ॥



अर्थ—जो योगीनों दान देता संग्रह मन वचन काय करिभी सांसारिक फलकों न पावे है ताहि आचार्य अलोलुप कहै हैं ॥ ८ ॥

स्वल्पवित्तोऽपि यो दत्ते भक्तिमारवशीकृतः ।

स्वाध्यायधर्म्यकरं दानं सात्त्विकं तं प्रनसते ॥ ९ ॥

अर्थ—जो थोडा धनवान भी भक्तिके भारकरि वश किया संग्रह धनवानकों आधर्म्य करनेवाला दानकों देयहे ताहि आचार्य सात्त्विक कहैहे ।

भारार्थ—जो धनगदित भी भक्तिकरि दान देयहे जाको देतके धनवान भी आधर्म्यमाने जो धन्य हे यह सो ऐसा दान देयहे ता पुण्यकों सात्त्विक कहैणहे ॥ ९ ॥

कालुष्यकारणे जाने दुर्निवारे महीपमि ।

यो न कृष्यति केभ्योऽपि धमरु कययंति तम् ॥ १० ॥

अर्थ—क्रोधरूप मठिनपरिणामका दुर्निवार महान कारण उदने मने जो शिर्माने भी क्रोध न करैहे ताहि आचार्य धमाराज बने हे ॥ १० ॥

आगे उलम मध्यम कल्प दामानिका भक्त्य वरेहे;—

सर्वफलं कृतो वयो जयन्त्यो वर्जितो गुणः ।

मध्यमोऽनेकधाऽपि दाता दानविषयणः ॥ ११ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त भक्ति वृत्ति आदि गुण वा आगे करेते निज सर्व गुणनिकरि बरिन्दे सो सो उ हउ दानके धर निज गुणनिकरि बरिन्दे सो इत्ये दानके, बरिन्दे दानके विषयण के गुण निजको मध्यम-दान्य बनेर, इत्ये वरिन्दे ॥ ११ ॥

आगे उलम निज गुण वरेहे;—

पिनीतो धार्मिकः सेव्यस्तत्कालक्रमवेदकः ।

जिनेशमामनाभिज्ञो भोगनिस्पृहमानसः ॥ १२ ॥

दयालुः सर्वजीवनां रागद्वेषादिवर्जितः ।

संसारसारतावेदी समदर्शी महोद्यमः ॥ १३ ॥

परीपहमहो धीरो निर्जिताशो विमस्मरः ।

वरात्मममयाभिज्ञः प्रियवादी निरुत्सुका ॥ १४ ॥

वासितो प्रतिनां पूतः परासाधारणैर्गुणैः ।

लोकलोकोत्तराचारविचारी संघवत्सलः ॥ १५ ॥

आस्तिको निरहंकारो वैयाघृत्यपरायणः ।

सम्यक्कालंकृतो दाना जायते भुवनोत्तमः ॥ १६ ॥

अर्थ—विनयवान होय, धर्मात्मा होय, मूरतादिकके अभावतैं औरन करि सेवनेयोग्य होय, तत्कालक्रम का जाननेवाला होय ।

भावार्थ—जिस कालमें जैसी वस्तु आदि चाहिये तैसा जानता होय; अर जिनेंद्रके उपदेशका ज्ञाता होय, बहुरि भोगनिधिपै बांछारहित चित्त जाका ऐसा होय ॥ १२ ॥ सर्व जीवनि पर दयासहित होय, रागद्वेषादिरहित होय संसारकी असारताका जाननेवाला होय, अर समान देखनेवाला होय,

भावार्थ—कोज्ज्वर इष्टानिष्टपनें करि हीनाधिक देखने वाला न होय, अर उग्रभी होय ॥ १३ ॥ परीपहनिका सहन करनेवाला होय, धीर होय, अर जीताहैं इंद्रिया जानैं ऐसा होय, बहुरि मसरतारहित होय अर थोष्ट अप्यात्मशास्त्रका जाननेवाला होय, प्रियवचन बोलनेवाला होय, प्रियपनि की बांछारहित होय ॥ १४ ॥ बहुरि व्रतीनके और विधिं न पाइए ऐसे असाधारण पवित्र गुणनिकरि वासित होय ।

भावार्थ—व्रतानके गुणनिर्मे अनुरागी होय, बहुरि लौकिक आचार वा लोकोत्तर कहिए परमार्थ आचार ताका विचारसहित होय, अर च्यार प्रकार संवधिपै वच्छासे गौकी ज्यो प्रीतिसहित होय ॥ १५ ॥ बहुरि अस्तिक कहिए परलोकादिकहँ ऐसी अस्तियुद्धिसहित होय ।

भावार्थ—परलोक नाही पुण्य नाही पाप नाही इत्यादिक जो नास्तिकबुद्धि ता करि रहित होय, अहंकाररहित होय, धर्मात्मानकी टहल चाकरीमें तपर होय अर सम्यक्त करि भूषित होय ऐसा दाता लोकविपै उत्तम होयहँ,

भावार्थ—पूर्वोक्त गुणनिसहित होय सो उत्तमदाता जानना ॥१६॥  
आगेँ और भी कहैहँ—

आत्मीयं मन्यते द्रव्यं यो दत्तं व्रतवर्तिनाम् ।

शेषं पुत्रकलत्राद्यैस्तस्करिष्व लुंठितम् ॥ १७ ॥

अर्थ—जो दाता व्रतानकू दिया जो द्रव्य ताहि अपना मानेहँ बहुरि बाकी रखा जो द्रव्य ताहि पुत्र स्त्री चौरनकरि मानौ छूटलिया तैसा मानेहँ ।

भावार्थ—प्रात्रनिक्कं दानमें जो धन लया सो तो पुण्यबंधके कारण तै इस भवमें वा पर भवमें आपकीं मुखदायी है तातै अपना है अर पुत्र स्त्री आदिकनिर्मे सो पापबंधके कारणतै दोऊ भवमें दुखदायीतै तातै अपना नाही चौरनसरी छूट छिए समानहँ, ऐसा जानना ॥१७॥

ये लोकद्वितये सौख्यं कुर्वते मम साधवः ।

साधवा दारुणं दुःखमिति पश्यति चेतसा ॥ १८ ॥

अर्थ—ये साधुजनहँ तै मेर इम भवधिपै वा परमधिपै मुत्तपै करैहँ अर बाधवहँ तै भयानक दुःखसौं करैहँ, ऐसा दाता मनधिपै विचरैहँ ॥ १८ ॥

योऽत्रैव स्वावरं वेत्ति गृहकार्ये नियोजितम् ।

सहगामि परं वित्तं धर्मकार्ये यथोचितम् ॥ १९ ॥

अर्थ—जो पुरुष घरके कार्यमें लगाया जो द्रव्य ताहि इहांही रह-  
नेवाला मानैहै अर वेदल धर्मकार्यमें लगाया योग्य द्रव्य ताहि संग  
जानेवाला मानैहै ।

भावार्थ— विवाहादि कार्यमें द्रव्य लगाया सो सो इम लोकमें  
रखा बाकी धर्मकार्यमें लगाया सो द्रव्य पुण्यवशके कारण तै आपकं  
साथ जायहै ऐसा जानना ॥ १९ ॥

शरदभ्रममाकारं जीवितं यौवनं धनम् ।

यो जानाति विचारज्ञो दत्ते दानं स सर्वदा ॥ २० ॥

अर्थ—जो पुरुष शरदका अके वादके समान अधिर जीवनकी अर  
जौवनकी अर धनकी जानैहै सो विचारका जाननेवाला सदाका  
दानकी देयहै ॥ २० ॥

यो न दत्ते तपस्विभ्यः प्रागुक्तं दानमंजगा ।

न तस्याऽऽत्मभरेः कोऽपि विशेषो विपते पशोः ॥ २१ ॥

अर्थ—जो पुरुष तपस्वीनके अर्थ प्रागुक्तदानकी भडे प्रकार न  
देयहै तिम आपापोरीके अर पशुके विरू विशेष नाही है ।

भावार्थ—दान न देयहै सो पशुसमानहै जाने अपना उर लो  
पशुभी भर डेयहै मनुष्यनकी विशेषता सो दानरति है ॥ २१ ॥

शुभं तदुप्यते सुगं तप्यते यत्र योगिनः ।

निगपते परं प्राज्ञः शारदं धनमंजलम् ॥ २२ ॥

अर्थ—जितविरै योगीपर तम बरिबिहै योगीधनकी दान  
रीतिर है सो ऊषा पर बरिहै है अर दानरतिर वैर पर है सो  
योगिनिकर शरदका के दाननिका मंड उ बरिहै है ॥ २२ ॥

शान्तादाभगा गिरुं गावुर्ना गीधमुत्पते ।  
जगं कर्दमानिमं मन्यंवागर्हणम् ॥ २३ ॥

अर्थ—गावुंके घोरे ते चरण गिरुके जगद्वि शीघ्रता जो घर ताहि गीध कहिहै है, अर गिराग दूना पर है सो घिनहरी विद्या मनुष्यस्य चरनेसंगेना धन है ॥ २३ ॥

स गेही मन्यते मन्यो यो दणे दानमंत्रमा ।  
न परं गेदपुनोऽपि पनर्प्राय कदानन ॥ २४ ॥

अर्थ—जो भडे द्रव्य दान देपटे सो मध्य परिगमि करि गृही मानियेहै अर दानरहित गृहमरित भी परीकी ज्यो गृही न मानियेहै ।

भावार्थ—दान देयगो गृहस्थ है अर दानरहित केवउ घर ठी पत्नीके भी होयहै, ताने दानविना गृहहीने गृहस्थ न कहिये ऐसा जानना ॥ २४ ॥

किं द्रव्येण कुवेरस्य किं ममुद्रस्य वारिणा ।  
किमंधसा गृहस्थस्य भुक्तिर्यत्र न योगिनाम् ॥ २५ ॥

अर्थ—जहा योगीश्वरनिका भोजन नाही निस कुवेरके द्रव्य करि कहा अर ममुद्रके जटवरि कहा अर गृहस्थके भोजन करि कहा ।

भावार्थ—जहां दान नाही निन वदूत द्रव्यादिकनि करि कहा साध्य है किछु साध्य नाही, ऐसा जानना ॥ २५ ॥

ध्यानेन शोभते योगी संयमेन तपोधनः ।  
सत्येन वचसा राजा गृही दानेन चारुणा ॥ २६ ॥

अर्थ—योगी तो ध्यानकरि सोहहै अर तपोधन जो तपस्वी है सो संयमकरि सोहहै अर सत्यवचन करि राजा सोहहै अर गृहस्थ सुंदर-दानकरि सोहहै ॥ २६ ॥

तपोधनं गृहायातं यो न गृह्णाति भक्तिः ।

चित्तमणि करप्राप्तं स कुनीस्त्यजति स्फुटम् ॥ २७ ॥

अर्थ—घर प्रति आया जो तपोधन साधु ताहि जो भक्ति न पड-  
गाहैहै सो कुबुदी हस्तबिधे आया जो चित्तमणी ताहि प्रकटपने  
तजैहै ॥ २७ ॥

विद्यमानं धनं धिष्ये साधुभ्यो यो न पच्छति ।

स वंचयति मूढात्मा स्वयमात्मानमात्मना ॥ २८ ॥

अर्थ—घरबिधे विद्यमान जो धन ताहि जो साधुनके अर्थ न देयहै  
सो मूढात्मा आपही आपकरि आपकौ ठगै है । घरमें धन होतै मुनी-  
नकौ आहारादि दान न देयहै सो आपकौ ठगैहै ॥ २९ ॥

स भण्यते गृहस्वामी यो भोजयति योगिनः ।

कुर्वाणो गृहकर्माणि परं कर्मकरं विदुः ॥ २९ ॥

अर्थ—जो योगीनकौ भोजन करावैहै सो घरका स्वामी कहियेहै  
अर दानबिना केवल घरके कार्यकौ करैहै ताहि पंडित हैं ते गुलाम  
कौहै, ऐस जानना ॥ २८ ॥

यः सर्वदा क्षुधां धृत्वा साधुबेलां प्रतीक्षते ।

सः साधूनामलाभेऽपि दानपुण्येन युज्यते ॥ ३० ॥

अर्थ—जो सदा क्षुधा धारणकरि साधुनके आहारकी बेलाकी  
प्रतीक्षा करैहै अर आहारबेलाटले पाँछे भोजन करैहै सो पुरुष साधु-  
नका अलाभ होतै भी दानके पुण्यकरि युक्त होयहै ॥ ३० ॥

भवने नगरे ग्रामे कानने दिवसे निधि ।

यो घत्ते योगिनधिचे दत्तं तेभ्योऽमुना ध्रुवम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—जो पुरुष घरविषै नगरविषै ग्रामविषै वनविषै दिवसविषै रात्रिविषै योगीश्वरनिकी चित्तविषै धारैहै, सो इन पुरुष करि निश्चयतै मुनिनके अर्थ दान दिया ।

भावार्थ—जो सदा मुनीश्वरनिकी भक्तिका परिणाम राखैहै ताकै मुनिनका मिलना न होतै भी भावनाकी शुद्धितारै दानका पुण्य होयैहै ॥ ३१ ॥

यः सामान्येन साधूनां दानं दातुं प्रवर्त्तते ।

त्रिकालगोचरास्तेन योगिनो भोजिताः स्तुताः ॥ ३२ ॥

अर्थ—जो सामान्य पनेकारे साधूनके दान देनेकी प्रवर्त्तै है ता पुरुषकरि भूत भविष्यत वर्त्तमानकालके सर्व योगीश्वर त्रिमाए अर स्तुतिगोचर किये ।

भावार्थ—जाके मुनिमात्रके दानमै हर्षहै प्रकृतिहै ताकै सर्व मुनीनिकी भक्ति होनेतै सर्वकी दान दिया अर सर्वहीकी स्तुति क ऐसा जानना ॥ ३२ ॥

दत्ते दूरेऽपि यो गत्वा विमृश्य व्रतशालिनः ।

सः स्वयं गृहमायाते कथं दत्ते न योगिनि ॥ ३३ ॥

अर्थ—जो दूर जायकरि भी व्रतीनकी हेर करि दान देयैहै । आपही योगीश्वरनिकी घर आये संते दान कैसे न देयैहै । देयही ॥ ३३ ॥

सद्रव्याद्रव्ययोर्मध्ये यः पात्रं प्राप्य भक्तितः ।

ददानः कथ्यते दाता न दाता भक्तिवर्जितः ॥ ३४ ॥

अर्थ—एक तो द्रव्यसहित पुरुष अर एक द्रव्यरहित पुरुष ई दोउनिके मध्य जो पात्रकी पायके भक्तिने दान देयैहै सो दाता कहि येहै अर भक्तिरहितहै सो दाता न कहिएहै, ऐसा जानना ॥ ३४ ॥

पात्रे ददाति योऽकाले तस्य दानं निरर्थकम् ।

क्षेत्रेऽप्युमं विना कालं कृत्र वीजं प्ररोहति ॥ ३५ ॥

अर्थ—बहुरि जो अकालमें पात्रिरीयै दान देयहे ताका दान निष्प्र-  
योजनहै जैसे विना काल क्षेत्रीयै बोया भी बीज कहूँ उगैहै ! नाहीं  
उगैहै, ऐसा जानना ॥ ३५ ॥

काले ददाति योऽपात्रे वितीर्णं तस्य नश्यति ।

निक्षिप्तमृपरे वीजं किं कदाचिद्वाप्यते ॥ ३६ ॥

अर्थ—बहुरि जो दानके कालमें भी अपात्रिरीयै दान देयहे ताका  
दान नाशकौ प्राप्त होयहे जैसे ऊपर भूमिरीयै बोया बीज कहा कहीं  
पाइयहे अपि तु नाहीं पाइयहे ॥ ३६ ॥

प्रशमेण विना बंध्यं वितीर्णं पात्रकालयोः ।

फलाय किमसंस्कारं निक्षिप्तं क्षेत्रकालयोः ॥ ३७ ॥

अर्थ—बहुरि पात्र अर काल इन दोऊनरीयै दिया दान भी  
दानकी विधि विना निष्फलहै जैसे सुंदर क्षेत्र अर योग्यकाल विरीयै भी  
धरतीका जोतना आदि संस्काररहित बोया बीजहै सो फल फलके अर्थ  
होयहे \* अपि तु नाहीं होयहे ॥ ३७ ॥

कालं पात्रं विधिं ज्ञात्वा दत्तं स्वल्पमपि स्फुटम् ।

उमं बीजमिदं प्राज्ञविधिते विपुलं फलम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—कालकौ पात्रकौ अर विधिकौ जानिके धोडा भी दिया जो  
दानहै सो बोये बीजकी उमों प्रकटपणे विस्तीर्ण फलकौ धारन करैहै,  
ऐसा जानना ॥ ३८ ॥

देयं स्तोत्रादपि स्तोत्रं व्यपेक्षो न

इच्छानुसारिणी शक्तिः कदा







अर्थ—थोड़ेतैं भी थोडा देना योग्यहै अर महा उद्यकी अपेक्षा करनी योग्य नाही जातैं इच्छानुसारिणी शक्ति कहीं कोईकें होयहै ! अपि तु नाही होयहै ।

भावार्थ—आपकै थोडा भी धन होयहै थोड़ेमैसे थोडा धन दानमें लगावना ऐसी न विचारना जो हमारे बहुत धन होयगा जब दान करैगे, जातैं जितनी इच्छाहै तितना धनतौ कहीं कोईकें होय नाही; ऐसा जानना ॥ ३९ ॥

श्रुत्वा दानमतिर्वर्यो भण्यते वीक्ष्य मध्यमः ।

श्रुत्वा दृष्ट्वा च यो दत्ते न दानं स जघन्यकः ॥ ४० ॥

अर्थ—दान देतेकौं मुनकरि दान देनेमें जाकी बुद्धि होय सो उत्कृष्ट पुरुषहै अर दान देतेकूं देखकरि जाकी दान देनेकी बुद्धि होय सो मध्यम पुरुषहै अर मुनकरि देखकरि भी जो दान न देयहै सो जघन्य पुरुष कहिए अवमहै ॥ ४० ॥

ताडनं पीडनं स्तेयं रोपणं दूषणं भयम् ।

यः कृत्वा ददते दानं स दाता न मतो जिनः ॥ ४१ ॥

अर्थ—जो और जीवनेकें ताडना करिकें वा पीडना करिकें वा चोरी करिकें वा रोप करिकें वा नृष्यादि दूषण करिकें वा भय करिकें जो दानको देयहै सो जिन देवनि नै दाता नाही कहाहै ॥ ४१ ॥

यदीपमा मदा दानं प्रदये प्रियवादिना ।

प्रियेण रहितं दत्तं परमं वैश्रवणम् ॥ ४२ ॥

अर्थ—प्रियवचनसहित बुद्धिमान पुरुष करि सदा दान देना योग्यहै जातैं प्रियवचनविना दिया बहुत दानहै सो वैश्रवण कारण है ।

भाषार्थ—दान देना सो मीठेबचन सहित देना अर मीठे बचन-  
विना दान भी बेग्या पागणर, जाते कट्टुकरचन मक्की पुरा  
लग्गिते ॥ ४२ ॥

यः शमायाकृतं विषं विधाणयति दुर्मतिः ।

काले गृह्णाति मृत्युनेन दुर्निवारमसौ भवम् ॥ ४३ ॥

अर्थ—जो दुयुद्धि पुरर समभावसहित धनकी देयई सो यट्टु निध-  
पने भोलका दुर्निवार कहिये दुर्गम निवारण करिने योग्य पापकी  
प्राण परहे ।

भाषार्थ—शोभसहित दान देनेमें उलटा पापबध होयई ताते सम-  
साहित दान देना योग्यई ॥ ४३ ॥

आगे दान न देने योग्य वस्तुकी सामान्यपने कहैहै;

जीरा येन निहन्यंते येन पार्श्वं विनश्यते ।

शगो विवर्द्धते येन यस्मान् संपद्यते भयम् ॥ ४४ ॥

आरंभा येन जन्यंते दुर्गितं यद्य जायते ।

धर्मकामर्गं तदेयं कदाचन निगद्यते ॥ ४५ ॥

अर्थ—जाकरि जीरा हनिये अर जाकरि पार्श्वजनका नाश करिनिष्  
कर जाकरि शग बढ़ाईए अर जाते भय उपज ॥ ४४ ॥ अर जाकरि  
आरंभ उपज अर जाते दुखी होय सो वस्तु धर्मके बाँडक पुररभियारि  
दने योग्य कदाच नाहीं कहियेहै ॥ ४५ ॥

आगे तिन न देने योग्य वस्तुनिके विशेष कहैहै;

हृल्लविदार्यमाणायां गर्भिण्यामिव योषिति ।

धियंतं प्राणिनो यस्यां सा भूः किं ददते फलम् ॥ ४६ ॥

अर्थ—हल्लनिकरि विदारी भई गर्भिणी स्त्रीविये जैसे जाविये प्राणी  
मरेहै सो पृथ्वी कता फल देय अवि तु नारी देयहै ।

भावार्थ—तैसी शक्तिही शक्ति के लोभ से पाप करते तैसी दुर्लभ शक्ति के अनेक जीव बगैरे ता दुर्लभको शक्ति करि अनेक जीविकी शिवा होय ताही भूमिदानमें पुण्य नदी, पापहीरे; देगा जानय ॥ ४६ ॥

गर्वात् भ्रमना येन कृतानेनो देदिनः ।

विषायते न महोदं दनं कम्पायि शान्तये ॥ ४७ ॥

अर्थ—जाकरि गर्व जायगा भ्रमण करने करि पगरी लो जीव विनाशियेहे मो छोड़ दिया मया कोईके भी शांतिके अर्थ नारी ।

भावार्थ—छोड़ गहरी जाय गहरी शिवा शेष ताने छोड़दान पुण्यके अर्थ नारी पापहीके अर्थ हे ॥ ४७ ॥

यद्यं हिंस्यते पात्रं यन्मदा मयकारणम् ।

संपमा येन हीयंते दृष्कालेनेव मानसाः ॥ ४८ ॥

रागद्वेषमदक्रोध लोभमोहमनोभयाः ।

जन्यंते तापका येन काष्टेनेव कृताग्रनाः ॥ ४९ ॥

तथेनाष्टापदं यस्य दीयते हितकाम्यया ।

स तस्याष्टापदं मन्ये दत्ते जीवितशान्तये ॥ ५० ॥

अर्थ—जिसके अर्थ पापकी शिवा काजिण् अर जो मदा मयकारण अर दुर्भिक्ष करि मनुष्य जैसे हीन होय तैमें जाकरि सयन हीन होय ॥ ४८ ॥ अर जैसे काष्ट करि अग्नि उपजैहे तैमें सतापकारी रागद्वेष मद क्रोध लोभ मोह काम जाकरि उपजैहे ॥ ४९ ॥ सो अष्टापद कहिये भुवर्ण जाकरि जिसको हितकी बाछा करि काजिण् मो तिसकी जीवनेकी शांतिके अर्थ अष्टापदनामा क्रूर हिसक जीव ताने दिया ऐसा मैं मानूहं ।

भावार्थ—जैसे कोऊ जीवनेके अर्थ काहूको अष्टापद नाम हिसक जावको देय ता ताका मरनही होय है तैसे धर्मके अर्थ भिष्यादृष्टानको

दिया जो मुक्कन तातै हिसादिक होनेतै परके वा आपके पापही होय,  
ऐसा जानना ॥ ५० ॥

संसर्जत्यंगिनो येषु भूरिशस्रसकायिकाः ।

फलं विधाणने तेषां तिलानां कल्मषं परम् ॥ ५१ ॥

अर्थ—जिनविधै घने प्रसकायिक जीव उपजैहै तिन तिलनके देने-  
विधै फल केवल पापहै ।

भाषार्थ—तिल देनेमें प्रसकायिक जीवनिवासी हिसाने केवल पापही  
है पुण्य नाही ॥ ५१ ॥

प्रारंभा यत्र जायंते चित्राः संसारहेतवः ।

तन्मघ ददतो घोरं केवलं कलिलं फलम् ॥ ५२ ॥

अर्थ—जिसविधै संसारके कारण नाना प्रकार आरंभ होय है तिस  
घरके देनेवालेके फल केवल घोर पाप होय है ॥ ५२ ॥

पीडा संपद्यते यस्या वियोगे गोनिकायतः ।

पया जीवा निहन्त्यंते पुच्छमृंगरुरादिभिः ॥ ५३ ॥

यस्यां घ दुष्टमानायां तर्णकः पीड्यतेतराम् ।

तां गां वितरता श्रेयो लभ्यते न मनागपि ॥ ५४ ॥

अर्थ—जिसको गौनके समूहतै वियोग होनेका पीडा उपजैहै अर  
जाकरि पूछ मींग रुर आदिकनि करि जीव हनिएहै अर जाका दुटे  
संतै बण्ठा अतिशय करि पीडिएहै तिम गौके देनेवाले पुण्यकरि किछ  
भी पुण्य न पाएहै ।

भाषार्थ—गौ देनेमें पुण्यका अंश भी नाही, पापही होय है ॥ ५३-५४ ॥

या सर्वतीर्थदेवानां निवासीभूतविग्रहा ।

दीयते गृह्यते सा गौः कथं दुर्गेनिगामिभिः ॥ ५५ ॥

अर्थ—जो गौ सर्व तीर्थ अर देवनिके बसनेका स्थानहै शरीर जाका सो गौ दुर्गनिके जानवालेन करि कैसें दीजिए है और कैसें ग्रहण करियहै ।

भावार्थ—मिथ्यादृष्टी गौ के शरीरमें सर्व तीर्थ अर देव बसते मानहैं, ऐसी गौ कौ पापी कैसें देखहैं अर कैसें लियहैं; ऐसी तर्क कराहै ॥ ५५ ॥

तिलधेनुं घृतधेनुं कांचनधेनुं च रुक्मधेनुं च ।

परिकल्प्य भक्षयंत चांडालेभ्यस्तरां पापाः ॥ ५६ ॥

अर्थ—तिलनिकी गौ घृतकी गौ मुषणकी गौ रूपेकी गौ बनाय बनाय करि जे भखैंहैं ते चांडालनैं भी अधिक पारीहैं ।

भावार्थ—चांडाल गौ तौ न खायहैं अर इन मिथ्यादृष्टीननैं तिलादिककी बनाय करी गौ भी खाय लीना तानैं ते चांडालनैं भी मियाय पारीहैं, ऐसा जानना ॥ ५६ ॥

या धर्मवनकुटारी पातकवमतिम्लपोदया चोरी ।

वैरायासामूया विपादशोकश्रमक्षोर्णा ॥ ५७ ॥

यस्यां सक्ता जीवा दुःसतमानोचरन्ति भवजलधेः ।

कः कन्यायां तस्यां दत्तायां विघने धर्मः ५८ ॥

अर्थ—जो कन्या धर्मवनके काटनेकी बुन्हागीरामान अर पापकी बसनी अर तरधरण दया की चौनेवाली अर बेर प्रपाम ईर्ष्या शोक रोद इनकी भूमिकाहै ॥ ५७ ॥ अर जा रिपै आतक जीवहैं ते अनिष्टपक्षी दुःखभ्रमण जो संसारममुद्र तानैं न उतारैं निग कन्याकी दिये संनै बड़ा धर्म होयहै ! पापही होयहै ।

भावार्थ—कन्यादाननैं दुर्बोक पापनिका संतान बटैहैं तानैं पापहीहै धर्म नाहीं, ऐसा जानना ॥ ५८ ॥

सर्वारंभकरं ये धीवाहं कारयन्ति धर्माय ।

ते तस्मिन्डविष्टदुर्घं क्षिपन्ति बहिं ज्वलज्ज्वालयम् ॥ ५९ ॥

अर्थ—जो पुण्य सर्वे टिगादिक आरंभका करनेवाया जो विचार साहि धर्मके अर्थ धर्मांगै ने वृक्षानके घनको बटावनेके अर्थि जाण्य मानहे उवाडा जाकी ऐगी अतिरौ संगेरे ।

भावार्थ—जैमें अतिरि धन बँट गाली उलटा ज \* जाय संगे विषय वगये धर्म नाही धर्मका नाशहीते ॥ ५९ ॥

यः संश्रान्तो ग्रहणे वारे विभं ददाति घृष्टमतिः ।

सम्पत्कचनं तिष्ठत्या मिध्यात्त्वचनं सपत्येषः ॥ ६० ॥

अर्थ—जो गृहघुडी पुण्य संश्रान्तिये ग्रहणिये आशयवारादि वारिये धनको देयहे सो सम्पत्क चनको संश्रिये, मिध्या व चनको संगेरे ॥ ६० ॥

ये ददन्ते मृतमृमपं बहुधा दानानि धूममल्पधिपः ।

पात्रव्ययितुं तमं मे भर्मीभूतं निर्विषंति ॥ ६१ ॥

अर्थ—जे निर्वुद्धि पुण्य गये आश्रयी तुमिये, अर्थ बहन प्रकभ दान देयहे ते निधयवति अतिरि भूममल्प गए कृषी एवमतिन बरने को सीये हे ।

भावार्थ—जैमें भूम गए कृषी सीये येर हरा न होय कृषी निपत्त हे तीरी गये विभनकी तुमिये, अर्थ दान देना कर्त, निधय पुए होगे पापरी हे ॥ ६१ ॥

विप्रगण्ये मनि धुनेः क्षमिः संपद्यते यदपि सृष्टाह ।

नान्येन पूते सीने भवति तदान्यः कथं पुष्टः ॥ ६२ ॥

अर्थ—बिप्रगण्ये, मनुष्यो भोजन करये हीने श्री विप्रगणे तुमिये होय तो काय बीज ही दिवे हीने अर्थ पुष्ट वेते न होय ॥ ६२ ॥



दाने दत्ते पुत्रैर्मुच्यन्ते पापतोऽत्र यदि पितरः ।

विहिते तदा चरित्रे परेण मुक्तिं परो यानि ॥ ६३ ॥

अर्थ—पुत्रनि करि दान शिषे संतें जो पितर पारने छुट्टे सो और करि चाग्रि करे संतें और मुक्तिकी प्राप्ति होय ॥ ६३ ॥

गंगागतेऽभ्यजाले भवति सुग्नी यदि मृतोऽत्र चिरकाले ।

भस्मीकृतमन्दांमः मित्तः पद्मवयने वृशः ॥ ६४ ॥

अर्थ—हाड़नके समूहकी गंगानदीविषे गये संतें जो यह प्राणी बहुत सुखी होयहे सो भस्म कर्षा वृश सीष्या मया हरया होयहे ॥ ६४ ॥

उपयाचंते देवान्नष्टधियो ये धनानि ददमानाः ।

ते सर्वस्वं दत्त्वा नूनं क्रीणन्ति दुःखानि ॥ ६५ ॥

अर्थ—जे नष्टबुद्धी दान देते संतें देवनि प्रति धननिकी याचैहे ते निश्चयकरि सर्व अपना धन देकरि दुःखनिकी खरादैं हे ॥ ६५ ॥

पूर्णेकाले देवैर्न रक्ष्यते कोऽपि नूनमुपयातः ।

चित्रमिदं प्रतिबिम्बरचेतनं रक्ष्यते तेषाम् ॥ ६६ ॥

अर्थ—कालकी पूर्ण भये सते निश्चयकरि कोई भी पुरुष निकट आये जे देव तिन करि नाही रक्षिए है, बहुरि तिन देवनिके अचेतन प्रतिबिम्बनि करि रक्षा मानिये सो यह बडा आश्चर्य है ।

भावार्थ—कोई मिथ्यादृष्टी कुदेवनिकी प्रतिमा बनाय तिनके आगे अपना जीवना बाँटै है तहा आचार्य कहैहैं कि आयु पूर्ण भये साक्षात् देवभी रक्षा न करिसकैहै तो तिनके अचेतन प्रतिबिम्बनितें जांबितव्य वाछना यह बडे आश्चर्यकी बात है ॥ ६६ ॥

मांसं यच्छन्ति ये मृदा ये च गृह्णन्ति लोलुपाः ।

द्वये वसन्ति तं श्वभ्रे हिंसामार्गप्रवर्तिनः ॥ ६७ ॥

अर्थ—जे मूढ मांसकी देयहै अर जे लोलुपी मांसका ग्रहण करेंहैं ते दोऊ हिंसामार्गके प्रवर्त्तानहारो नरकविषै वास करेंहैं ॥ ६७ ॥

धर्मार्थं ददते मांसं ये नूनं मूढबुद्धयः ।

जिजीविषन्ति ते दीर्घं कालकूटविपाशने ॥ ६८ ॥

अर्थ—जे मूढबुद्धी धर्मके अर्थ मांसकी देयहै ते निधयकरि काल-कूट विषकी लाय फारि जिये चाहैहैं ॥ ६८ ॥

वाह्यं यच्छतां नास्ति पापं दोषमजानताम् ।

याह्यं गृह्णतां मांसं जानतां दोषमूर्जितम् ॥ ६९ ॥

अर्थ—दोषके स्वरूपकी न जानते ऐसे दानके देनेवाले तिनकी तैसा पाप नाहीं जैसा महापाप दोषकी जानते जे शांभवी ग्रहण करने-वाले तिनकी है ।

भावार्थ—बुढानका देनेवाला अज्ञानते धर्म जानि दान देयहैं सो पापी सो हर्षा परंतु जो जानकरि दानमरित दान ग्रहण करेंहैं सो ताहु ते महापापीहै ताते भोटे जीवतैं जानिके प्रपंच करै ताके कराय अत्रिकहै, वेग जानना ॥ ६९ ॥

दाता दोषमजानानो दत्ते धर्मधियाऽरितम् ।

यः स्वीकरोति तदानं पात्रं स्वेष न मर्यया ॥ ७० ॥

अर्थ—दाता है सो तो दोषकी न जानना मता धर्ममुद्रिकारि मर्क दान देयहै अर जो ता बुढानकी अर्त्ताकार करेंहैं सो मर्यया पात्र नाहीं ॥ ७० ॥

एहनि तानि दानानि विधेयंवा न दोषी ।

विपद्यतेतर्गं प्राणी भूरिभिर्भक्षितैर्विधैः ॥ ७१ ॥

आत्मीकरोति यो दानं जीवमर्दनं संभवम् ।

आकांक्षभात्मनः सांख्यं पात्रता तस्य कीदृशी ॥ ७८ ॥

अर्थ—जो आपकै मुक्त वाहता सेता जीवमिके घातते टरग्या के दान तादि ग्रहण करे, ताके पात्रता केमी ।

भारार्थ—अयोग्य दान ऐस सो पात्र काहेका, वह तो अकार्य है ॥ ७८ ॥

न गुणोदिकं दयं न दाता तस्य दायकः ।

न च पार्थं प्रहीताज्यं जिनानामिति शासनम् ॥ ७९ ॥

अर्थ—गुणोदिक तो देने योग्य वस्तु नाही अर निग गुणोदिकका देनेवाला दाता नाही अर इग दानका ग्रहण करनेवाला पात्र नाही, या प्रकार जिनदेवतिका शासन कहिए आजाहे ॥ ७९ ॥

पार्थं विनाशितं तेन तेनार्थः प्रार्थितः ।

येन गुणोदिकं दयं सर्वानर्थविधायकम् ॥ ८० ॥

अर्थ—निगने पात्रता तो विनाश दिया अर निगने आर्थ प्रार्थना करके सब अनर्थनिहा करनेवाला गुणोदिक दियाकर्ता ।

भारार्थ—गुणोदिकने विनाशिक पात्र उपरहे ताके तेनेकरेवा ले जाइया अर अर्थ प्रार्थना, ताके व दान देना योग्य नाही ॥ ८० ॥

अर्थ देनेवाला वस्तु का वर्णन करे,—

गणो निपुत्रते येन येन धर्मो शिद्धयते ।

संयतः सौम्यते येन शिरोक्षो येन प्रत्यते ॥ ८१ ॥

प्राप्तोपग्रह्यते येन येनोपदिश्यते परः ।

न येन नाशयते पार्थं महाप्रथं प्रशस्यते ॥ ८२ ॥

अर्थ—जो वस्तु गणना करने प्रारंभ होय वा करके पते वृद्धी होय होय वा प्रार्थना करके प्रारंभ होय वा करके शिरोक्षो दावे ॥ ८१ ॥

अर जा करि आत्मा उपदान होय अर जाकरि परका उपकार होय अर  
जाकरि पात्रका विगाड़ न होय मो देने योग्य वस्तु सराहिण्डै ॥ ८२ ॥

आनें देने योग्य वस्तुके विशेष परैहै,—

अभयार्थापधदानभेदतस्तथतुर्विधम् ।

दानं निगद्यते सद्भिः प्राणिनामुपकारकम् ॥ ८३ ॥

अर्थ—अभयदान १ अनदान २ औपधदान ३ ज्ञानदान ४ इन  
भेदनिर्ते प्राणीनिका उपकार करनेवाला दान संतन करि क्या प्रकार  
करिण्डै ॥ ८३ ॥

धर्मार्थकाममोक्षाणां जीवितम्ये यतः स्थितिः ।

तदानतस्ततो दद्यास्ते सर्वे संति देहिनाम् ॥ ८४ ॥

अर्थ—जा कारणते धर्म अर्थ काम मोक्ष इनकी स्थिति जीवितम्य  
होतमते होयहै ताते जीवनकी जीवितम्यके दानते धर्म अर्थ काम मोक्ष  
सर्व दिये ।

भाषार्थ—जाने जीवनकी अभयदानादि दिया ताने धर्म अर्थ काम  
मोक्ष सर्व दिये ताते धर्मादिकका आधार जीवनाईहै ताने ॥ ८४ ॥

देवैरुक्तो वृणीष्वैकं ब्रह्मैवायमप्राणितम्ययोः ।

ब्रह्मैवायं वृणुते कोऽपि न परित्यज्य जीवितम् ॥ ८५ ॥

अर्थ—तीन लोक अर जीवितम्य इन दोऊनिनेने एक कारण कर  
दने देवनिकरि कहा बोऊ पुरम जीवितम्यकी छोड़करि कहा तीन लोक  
करी कारण बनेहै, अपि तु गरी बनेहै ।

भाषार्थ—जीवितम्यके आने तीन लोककी सेवा करु गरी जी  
वितम्यकी छोड़करि बाँड भी तीन लोककी न परैहै ॥ ८५ ॥

ब्रह्मैवायं न एतो मृत्ये जीवितम्यस्य च यते ।

तद्द्रव्यता ततो दत्तं प्राणिनां किं न वारिषिषद् ॥ ८६ ॥

आन्मीरुगेति यो दानं जीवमर्दनं ममाम् ।

आह्नायश्चान्मनः मांस्त्वं पात्रना तस्य कीर्यती ॥ ७८ ॥

अर्थ—तो आनके मुक्त बाल्या मोगा जीवभिके घातने दण्डा मे दान नादि कृष्ण करेई, नाके पात्रना केसी ।

भावार्थ—अयोग्य दान लेव मो पात्र कादेसा, यह तो अनादी हे ॥ ७८ ॥

न मुवर्णादिकं द्रव्यं न दाना तस्य दायकः ।

न च पात्रं प्रहानाज्ज्य जिनानामिति शामनम् ॥ ७९ ॥

अर्थ—मुवर्णादिक मी देने योग्य यन्त्र नाही अर तिम मुवर्णादिकका देनेवाला दाना नाही अर इम दानका प्रहण करनेवाला पात्र नाही, या प्रकार त्रिनदेवनिका शामन करिए आजाहे ॥ ७९ ॥

पात्रं विनाशिनं तेन तेनाधर्मः प्रवर्त्तितः ।

येन स्वर्णादिकं दत्तं सर्वानर्थविधायकम् ॥ ८० ॥

अर्थ—निमर्ने पात्रका ती विनाश किया अर निसर्ने अधर्म प्रवर्त्तिया जाकरि सर्व अनर्थनिका करनेवाला मुवर्णादिकं दियातानै ।

भावार्थ—मुवर्णादिकनै हिमादिक पाप उपजेई तातै देनेवालेका तो नाशकिया अर अधर्म प्रवर्त्तिया, तानै कुदान देना योग्य नाही ॥ ८० ॥

आगै देनेयोग्य वस्तुका धर्षण करेई;—

रागो निपृद्यते येन येन धर्मो विवद्वर्यते ।

संयमः पोष्यते येन विवेको येन जन्यते ॥ ८१ ॥

आत्मोपशम्यते येन येनोपक्रियते परः ।

न येन नाश्यते पात्रं तदात्तव्यं प्रशस्यते ॥ ८२ ॥

अर्थ—जा करि राग नाशकीं प्राप्त होय अर

:प्राप्त होय अर जाकरि संयम पुष्ट होय अर जाकरि

अर जा करि आत्मा उपदान होय अर जाकरि परका उपकार होय अर जाकरि पात्रका विगाइ न होय मो देने योग्य वस्तु सराहिएहै ॥ ८२ ॥

आगै देने योग्य वस्तुके विशेष कहैहै,—

अभयार्घांपधदानभेदतस्तथतुर्विधम् ।

दानं निगद्यते सद्भिः प्राणिनामुपकारकम् ॥ ८३ ॥

अर्थ—अभयदान १ अन्नदान २ औषधदान ३ ज्ञानदान ४ इन भेदनितै प्राणानिका उपकार करनेवाला दान संतन करि प्यार प्रकार कहिएहै ॥ ८३ ॥

धर्मार्थकाममोक्षाणां जीवितव्ये यतः स्थितिः ।

तदानतस्ततो दत्तास्तं सर्वे संति देहिनाम् ॥ ८४ ॥

अर्थ—जा कारणतै धर्म अर्थ काम मोक्ष इनकी स्थिति जीवितव्य होतसतै होयहै तातै जीवनकी जीवितव्यके दानतै धर्म अर्थ काम मोक्ष सर्व दिये ।

भावार्थ—जानै जीवनकी अभयदानादि दिया तातै धर्म अर्थ काम मोक्ष सर्व दिये तातै धर्मादिकका आधार जीवनाहैहै तातै ॥ ८४ ॥

देवैरुक्तो वृणीष्वैकं ब्रह्मैवमिदं प्राणितव्ययोः ।

ब्रह्मैवमिदं वृणुते कोऽपि न परित्यज्य जीवितम् ॥ ८५ ॥

अर्थ—तीन लोक अर जीवितव्य इन दोऊनिमेंमें एक ग्रहण कर ऐसै देवनिकरि कहा कोऊ पुरुष जीवितव्यकी छोडकरि कहा तीनलोककी ग्रहण करैहै, अपि तु नाही करैहै ।

भावार्थ—जीवितव्यके आगै तीन लोककी सेपदा फछू नाही जानै जीवितव्यकी छोडकरि कोऊ भी तीन लोककी न चरैहै ॥ ८५ ॥

ब्रह्मैवमिदं न यतो मूल्यं जीवितव्यस्य ज यते ।

तद्रक्षता ततो ५ न काश्चित् ॥ ८६ ॥



अर जा करि आत्मा उपदान होय अर जाकरि परका उपकार होय अर जाकरि पात्रका विगाड़ न होय सो देने योग्य वस्तु मगदिण्डे ॥ ८२ ॥

आगै देने योग्य वस्तुके विशेष यहैहै;—

अभयार्थापधदानभेदतस्तद्वस्तुविधम् ।

दानं निगद्यते सद्भिः प्राणिनामुपकारकम् ॥ ८३ ॥

अर्थ—अभयदान १ अन्नदान २ औषधदान ३ ज्ञानदान ४ इन भेदनिर्ते प्राणीनिका उपकार करनेवाला दान संतन करि चार प्रकार कहिण्डे ॥ ८३ ॥

धर्मार्थकाममोक्षाणां जीवितव्ये यतः स्थितिः ।

तदानतस्ततो दद्यास्तं सर्वं संति देहिनाम् ॥ ८४ ॥

अर्थ—जा कारणते धर्म अर्थ काम मोक्ष इनकी स्थिति जीवितव्य होतमते होयहै ताते जीवनकी जीवितव्यके दानते धर्म अर्थ काम मोक्ष सर्व दिये ।

भावार्थ—जाने जीवनकी अभयदानादि दिया ताने धर्म अर्थ काम मोक्ष सर्व दिये ताने धर्मादिका आधार जीवनाहीत ताते ॥ ८४ ॥

देवैरुक्तो वृणीष्वैकं प्रैलोचयप्राणितव्ययोः ।

प्रैलोचयं वृणुते कोऽपि न परित्यज्य जीवितम् ॥ ८५ ॥

अर्थ—गीन लोक अर जीवितव्य इन दोऊनिसेमे एक प्राण कर ऐसे देवनिषरि कया बोऊ पुरय जीवितव्यको छोडवरि कदा हीन ने-ककी प्राण बगैरे, अरि तु नाही बगैरे ।

भावार्थ—जीवितव्यके आगे हीन लोककी सेवा करू नाही जीवितव्यकी छोडवरि बगैरे भी हीन लोककी न बगैरे ॥ ८५ ॥

प्रैलोचयं न यतो मृत्युं जीवितव्यस्य ज्ञयते ।

तद्वधना ततो दत्तं प्राणिनां किं न ब्रह्मितम् ॥ ८६ ॥



आत्मीकरोति यो दानं जीवमर्दनं संभवम् ।

आकांक्षन्नात्मनः सौख्यं पात्रता तस्य कीदृशी ॥ ७८ ॥

अर्थ—जो आपके मुख बांछता संता जीवनिके घातते रुपया से दान ताहि ग्रहण करैहे, ताके पात्रता कैमी ।

भावार्थ—अयोग्य दान लेय सो पात्र काहेका, यह तो अपात्री है ॥ ७८ ॥

न सुवर्णादिकं देयं न दाता तस्य दायकः ।

न च पात्रं ग्रहीताऽस्य जिनानामिति शासनम् ॥ ७९ ॥

अर्थ—सुवर्णादिक तौ देने योग्य वस्तु नाही अर तिस सुवर्णादिका देनेवाला दाता नाही अर इस दानका ग्रहण करनेवाला पात्र नाही, या प्रकार जिनदेवनिका शासन कहिए आज्ञाहै ॥ ७९ ॥

पात्रं विनाशितं तेन तेनाधर्मः प्रवर्त्तितः ।

येन ध्वर्णादिकं दत्तं सर्वानर्थविधायकम् ॥ ८० ॥

अर्थ—तिसने पात्रका तौ विनाश किया अर तिसने अधर्म प्रवर्त्तिया जाकरि मर्म अनर्थनिका करनेवाला सुवर्णादिक दियाताने ।

भावार्थ—सुवर्णादिकने हिमादिक पाप उपजै ताने लेनेवाले तौ नाशकिया अर अधर्म प्रवर्त्तिया, ताने कुदान देना योग्य नाही ॥ ८० ॥

धर्मो देनेयोग्य वस्तुका वर्जन करैहे;—

रागो निवृधने येन येन धर्मो विवद्वर्षते ।

संपमः पोष्यते येन विवेको येन जन्यते ॥ ८१ ॥

आन्मोषज्जम्यते येन येनोपक्रियते परः ।

न येन नाशयते पात्रं तदातप्यं प्रज्जम्यते ॥ ८२ ॥

अर्थ—जा करि राग नाशकी प्राप्ति होय अर जाकरि धर्म वृद्धि होय अर ज्ञान होय अर ज्ञान मय्य पुष्ट होय अर जाकरि विवेक उपजै ॥ ८१ ॥

अर्थ—सेवकका आधार जो तपस्वीनका शरीर को मुक्तिका साधक जो पुण्य ताकरी यान्ते प्रामुख औरगनि को रक्षा करणी योग्य है ॥ १०२ ॥

आगे शास्त्रदानका वर्णन करते हैं ।

विवेको जन्यते येन संयमो येन पाल्यते ।

धर्मः प्रकाशयते येन मोहो येन विहन्यते ॥ १०३ ॥

मनो नियम्यते येन रागो येन निहन्यते ।

तदेवं भव्यजीवानां शास्त्रं निर्घृतकल्मषम् ॥ १०४ ॥

अर्थ—जाकरी विवेक उपजाएँ अर जाकरी संयम पाणि अर मोह धर्म प्रकाशित अर जाकरी मोह हनि ॥ १०३ ॥ अर जाकरी न निधत्त वीरिण अर जाकरी राग छेदिए तो नाश विघार पाद तने ऐगा शास्त्र भव्यजीवनिकी देना योग्य है ॥ १०४ ॥

विवेको न विना शास्त्रं तमृते न तपो यतः ।

ततस्तपोविधानार्थं देयं शास्त्रमनिदितम् ॥ १०५ ॥

अर्थ—जाके शास्त्रविना विवेक नाही अर विवेकविना तप नाहीं तो तप करनेके अर्थ अनिदित शास्त्र देना योग्य है ॥ १०५ ॥

आगे और भी दान देने योग्य बस्तुनिको बते हैं ।

यस्यापाशाश्रयादीनि पराण्यपि यथोचितम् ।

दानन्यानि विधानेन रत्नशितसहस्रये ॥ १०६ ॥

यद्यमभ्यजपन्यानां पाशालामुपकारकम् ।

दानं यथावयं देयं वैपाहृत्यविधायिना ॥ १०७ ॥

अर्थ—यस पाश श्रयादीनि पराण्यपि यथोचितम् दान न्यानि विधानेन रत्नशितसहस्रये देयं देयम् ॥ १०६ ॥ यद्यमभ्यजपन्यानां पाशालामुपकारकम् दानं यथावयं देयं वैपाहृत्यविधायिना ॥ १०७ ॥



अर जा करि आत्मा उपदान होय अर जाकरि पन्था उपकार होय अर  
जाकरि पात्रका विगाइ न होय सो देने योग्य वस्तु समझिहँ ॥ ८२ ॥

आगे देने योग्य वस्तुके विशेष कहैहै;—

अभयार्थापधदानभेदतस्तथतुर्विधम् ।

दानं निगद्यते सद्भिः प्राणिनामुपकारकम् ॥ ८३ ॥

अर्थ—अभयदान १ अनदान २ औपधदान ३ हानदान ४ इन  
भेदनिर्णै प्राणनिका उपकार करनेवाला दान सतत करि क्या प्रकाश  
कहिहँ ॥ ८३ ॥

धर्मार्थकाममोक्षाणां जीवित्तप्ये यतः स्थितिः ।

तदानतस्ततो दक्षारते सर्वे संति देहिनाम् ॥ ८४ ॥

अर्थ—जा कारणतै धर्म अर्थ काम मोक्ष इनकी स्थिति जीवित्तप्य  
होतगतै होयहँ तातै जीवनकी जीवित्तप्यके दानतै धर्म अर्थ काम मोक्ष  
सब दिये ।

भावार्थ—जानै जीवनकी अभयदानतै दिया तानै धर्म अर्थ काम  
मोक्ष सब दिये तानै धर्मदिवका आधार जीवनाहीहँ तानै ॥ ८४ ॥

देवैरुक्तो पूर्णार्धैकं प्रैलोक्यप्राणितप्ययोः ।

प्रैलोक्यं वृणुते कौशवि न परित्यज्य जीवितम् ॥ ८५ ॥

अर्थ—तीन लोक अर जीवित्तप्य इन दोऊनिर्णै एक कारण कर  
दो देवनिषरि कदा कौड पुत्र जीवित्तप्यकी सोइवरि कदा तनने-  
वकी कारण कहैहँ, अरि तु नाही कहैहँ ।

भावार्थ—जीवित्तप्यके आगे तीन लोककी सेवा करु नाही देने  
जीवित्तप्यकी सोइवरि कौड भी तीन लोककी न कहैहँ ॥ ८५ ॥

प्रैलोक्ये न यतो मृत्ये जीवित्तप्यस्य अ दने ।

तद्रूपता ततो दत्तं प्रायिनी किं न कश्चित्तद् ॥ ८६ ॥

आत्मीकरोति यो दानं जीवमर्दनं संभवम् ।

आकांक्षन्नात्मनः सौख्यं पात्रता तस्य कीदृशी ॥ ७८ ॥

अर्थ—जो आपके मुख बाछता संता जीवनिके घातते उपस्था जो दान ताहि ग्रहण करैहै, ताके पात्रता कैसी ।

भावार्थ—अयोग्य दान लेय सो पात्र काहेका, वह तो अपात्री है ॥ ७८ ॥

न सुवर्णादिकं देयं न दाता तस्य दायकः ।

न च पात्रं ग्रहीताऽस्य जिनानामिति शासनम् ॥ ७९ ॥

अर्थ—सुवर्णादिक तौ देने योग्य वस्तु नहीं अर तिस सुवर्णादिकका देनेवाला दाता नहीं अर इस दानका ग्रहण करनेवाला पात्र नहीं, या प्रकार जिनदेवनिका शासन कहिए आज्ञाहै ॥ ७९ ॥

पात्रं विनाशितं तेन तेनाधर्मः प्रवर्त्तितः ।

येन स्वर्णादिकं दत्तं सर्वानर्थविधायकम् ॥ ८० ॥

अर्थ—तिसने पात्रका तौ विनाश किया अर तिसने अधर्म प्रवर्त्तिया जाकरि सर्व अनर्थनिका करनेवाला सुवर्णादिक दियाताने ।

भावार्थ—सुवर्णादिकने हिंसादिक पाप उपजैहै ताते लेनेवालेका तो नाशकिया अर अधर्म प्रवर्त्तिया, ताते कुदान देना योग्य नहीं ॥ ८० ॥  
आगे देनेयोग्य वस्तुका वर्णन करैहै;—

रागो निपृद्यते येन येन धर्मो विवद्वर्षते ।

संयमः पोष्यते येन विवेको येन जन्यते ॥ ८१ ॥

आत्मोपशम्यते येन येनोपक्रियते परः ।

न येन नाशयते पात्रं तदातव्यं प्रशम्यते ॥ ८२ ॥

अर्थ—जा करि राग नाशका प्राप्ति होय अर जाकरि धर्म वृद्धि होय अर जाकरि संयम पुष्ट होय अर जाकरि विवेक उपजै ॥ ८१ ॥

अर जा करि आत्मा उपदान होय अर जाकरि परका उपकार होय अर  
जाकरि पात्रका रिगाइ न होय सो देने योग्य वस्तु मगहिण्डे ॥ ८२ ॥

आगे देने योग्य वस्तुके विशेष कहेंहे;—

अभयान्नापधदानभेदतस्तथतुर्विधम् ।

दानं निगद्यते सद्भिः प्राणिनामुपकारकम् ॥ ८३ ॥

अर्थ—अभयदान १ अन्नदान २ औषधदान ३ हानदान ४ इन  
भेदनिर्णै प्राणिनिका उपकार करनेवाला दान संतन करि क्या प्रकार  
कहिण्डे ॥ ८३ ॥

धर्मार्थकाममोक्षाणां जीवितव्यं यतः स्थितिः ।

तदानतस्ततो दद्यात्सर्वं संति देहिनाम् ॥ ८४ ॥

अर्थ—जा कारणतै धर्म अर्थ काम मोक्ष इनका स्थिति जीवितव्य  
होतसतै होयहे तानै जीवनको जीवितव्यके दानतै धर्म अर्थ काम मोक्ष  
सर्व दिये ।

भावार्थ—जानै जीवनको अभयदानदि दिया तानै धर्म अर्थ काम  
मोक्ष सर्व दिये तानै धर्मदिका आधार जीवनतै तानै ॥ ८४ ॥

देवैरुक्तो वृणीर्ध्वकं ब्रह्मलोक्यप्राणितव्ययोः ।

ब्रह्मलोक्यं वृणुते कोऽपि न परित्यज्य जीवितम् ॥ ८५ ॥

अर्थ—तीन लोक अर जीवितव्य इन दोऊनिसेमे एक प्राण कर  
ऐसे देवनिपरि कथा कोऊ पुरख जीवितव्यको छोडकरि कदा तीन लोक  
को प्राण करेहे, अरि तु नाही करेहे ।

भावार्थ—जीवितव्यके आगे तीन लोकको मरदा कहु नाही अने  
जीवितव्यको छोडकरि कोऊ भी तीन लोकको न करेहे ॥ ८५ ॥

ब्रह्मलोक्यं न यतो मूल्यं जीवितव्यस्य च यते ।

तद्रक्षता ततो दत्तं प्राणिनां किं न कर्हिष्ठम् ॥ ८६ ॥

आत्मीकरोति यो दानं जीवमर्दनं संभवम् ।

आकांक्षन्नात्मनः सौख्यं पात्रता तस्य कीदृशी ॥ ७८ ॥

अर्थ—जो आपके मुख बांछता संता जीवनिके घातते उरणा के दान ताहि प्रहण करहे, ताके पात्रता कैसी ।

भावार्थ—अयोग्य दान लेय सो पात्र काहेका, वह तो जगदो है ॥ ७८ ॥

न मुग्धादिकं देयं न दाता तस्य दायकः ।

न च पात्रं ग्रहीणाऽस्य जिनानामिति शासनम् ॥ ७९ ॥

अर्थ—मुग्धादिक तो देने योग्य वस्तु नाही अर तिम मुग्धादिकका देनेवाला दाता नाही अर इम दानका प्रहण करनेवाला पात्र नाही, या प्रकार जिनदेवतिका शासन कहिए आजाहे ॥ ७९ ॥

पात्रं विनाशितं तेन तेनाधर्मः प्रसूतः ।

येन मृगादिकं दत्तं मर्यादार्थविषायकम् ॥ ८० ॥

अर्थ—जिमने पात्रका तो विनाश किया अर निगने अधर्म प्रसूतिया जाकहि मर्य अनर्धनिका करनेवाला मुग्धादिक दियातने ।

भावार्थ—मुग्धादिकी दानादिक पात्र उपप्रेते ताने देनेवालेसो ले नशकिया अर अधर्म प्रसूतिया, ताने दान देना योग्य नाही ॥ ८० ॥

अर्धे देनयोग्य यन्मुक्ता वर्णनं कथितं—

रागो निषृष्यते येन येन धर्मो विरुद्ध्यते ।

मंथमः पोष्यते येन विवेको येन जन्यते ॥ ८१ ॥

श्रान्तोपशम्यते येन येनोपश्रियते परः ।

न येन नाशयते पात्रं तदातथ्यं प्रशम्यते ॥ ८२ ॥

अर्थ—जो कहे राग नाशकी दान होय अर श्रान्तिय धर्म विरुद्धी दान होय अर श्रान्तिय मंथन पुष्ट होय अर श्रान्तिय विरुद्ध दानिये ॥ ८१ ॥

अर जा करि आत्मा उपरांत होय अर जाकरि परका उपकार होय अर जाकरि पात्रका विगाद न होय सो देने योग्य वस्तु सराहिएहै ॥ ८२ ॥

आगैं देने योग्य वस्तुके विशेष कहैहैं,—

अभयान्नौपधज्ञानभेदतस्तधतुर्विधम् ।

दानं निगद्यते सद्भिः प्राणिनामुपकारकम् ॥ ८३ ॥

अर्थ—अभयदान १ अन्नदान २ औपधदान ३ ज्ञानदान ४ इन भेदनितै प्राणीनिका उपकार करनेवाला दान संतन करि चार प्रकार कहिएहै ॥ ८३ ॥

धर्मार्थकाममोक्षाणां जीवितव्ये यतः स्थितिः ।

तदानतस्ततो दत्तास्तं सर्वे संति देहिनाम् ॥ ८४ ॥

अर्थ—जा कारणतै धर्म अर्थ काम मोक्ष इनकी स्थिति जीवितव्य होतसतै होयहै तातै जीवनको जीवितव्यके दानतै धर्म अर्थ काम मोक्ष सर्व दिये ।

भावार्थ—जानै जीवनको अभयदानादि दिया तानै धर्म अर्थ काम मोक्ष सर्व दिये तानै धर्मादिकका आधार जीवनाहैहै तातै ॥ ८४ ॥

देवैरुक्तो वृणीष्वैकं ब्रूलोक्यप्राणितव्ययोः ।

ब्रूलोक्यं वृणुते कोऽपि न परित्यज्य जीवितम् ॥ ८५ ॥

अर्थ—तीन लोक अर जीवितव्य इन दोऊनिभैतै एक ग्रहण कर ऐमें देवनिकरि कया कोऊ पुरर जीवितव्यको छोडकरि कहा तीनलोकको ग्रहण करैहै, अपि तु नाही करैहै ।

भावार्थ—जीवितव्यके आगैं तीन लोककी सेवदा कछु नाही जानै जीवितव्यको छोडकरि कोऊ भी तीन लोकको न चारैहै ॥ ८५ ॥

ब्रूलोक्यं न यतो मूल्यं जीवितव्यस्य ज्ञयते ।

तद्रक्षता ततो दत्तं प्राणिनां किं न काक्षितम् ॥ ८६ ॥





सकलमत्वहितोद्यतचेतनो  
 वितथकर्कशवाक्यपराङ्मुरः ॥ ३४ ॥  
 धनकलत्रपरिग्रहनिस्पृहो  
 नियमसंयमशीलविभूषितः ।  
 कृतकषायदृषीकविनिर्जयः  
 प्रणिगदंति कुपात्रमिमं युथाः ॥ ३५ ॥

अर्थ—जो परकी कठिन है आचरण जाका ऐमे आचरणकी आ-  
 चरैहै, अर रिक्त अर भयानक ऐसे मिथ्यादर्शन करि वासित है, बहुरि  
 सर्व जीवनिके हितमें उद्यमी है मन जाका, अर झूठ अर कठोर ऐमे  
 वचनते पराङ्मुख है ॥ ३४ ॥ बहुरि धन स्त्री परिग्रहते निस्पृही है,  
 अर नियम संयम शील इन करि भूषित है, बहुरि कषाय है कषाय अर  
 इंद्रियनिका पगजय जानै ऐसा है, इस पुरुषकी पंडित जनहैं ते कुपात्र  
 कहैहैं ॥ ३५ ॥

भावार्थ—जो कषायशेशादि करै है अर व्रत धरै अर कषाय इंद्रिय-  
 निका भी जीतै है अर सम्पत्त रहित है सो कुपात्र है ऐसा जा-  
 नना ॥ ३४-३५ ॥

आगे अपात्रका स्वरूप कहैहै,—

गतकृपः प्रणिहंति शरीरिणो  
 वदति यो वितथं परुषं वचः ।  
 हरनि विचमदत्तमनेकथा  
 हतो भजतेऽगनाम् ॥ ३६ ॥  
 वि विपरिग्रहः  
 उद्यमयंत्रितमानमः

भवति यो जिन शासनभासकः

सततनिन्दनगर्हणचंचुरः ।

स्वपरतत्वविचारण कोविदो

व्रतविधाननिरुत्सुकमानसः ॥ ३२ ॥

जिनपत्नीरिततत्वविचक्षणो

विपुलधर्मफलेक्षणतोषितः ।

मकलजंतुदयार्द्रितचेतन

स्तमिह पात्रमुशंति जघन्यकम् ॥ ३३ ॥

अर्थ—चंद्रमाकी किरण समान निर्मल है सम्यग्दर्शन जाका बहुरि जन्म जरा मरण की पीडातें भय है अर करवाहे प्यार प्रकार संसारे दितविधै दिन कहिये प्रीतिरूप भाव जाने अर संसारके भोग शरीरविधै निरुत्सुकै युक्ति जाकी ॥ ३१ ॥ बहुरि जो जिन शासनका प्रकारकर है, अर निरंतर अपनी निंदा गर्हा विधै प्ररीण है, बहुरि आत्मन्य अर परन्य इनके विचारमें पंडित है, बहुरि व्रतनिके आचरणविधै निरुत्सुक है मन जाका । भावार्थ व्रत न धार सकै है ॥ ३२ ॥ बहुरि जिन-भाषित तत्वविधै विचक्षण है, अर वडा जो धर्मका फल ताके देखने तै संवृष्ट है ।

भावार्थ—धर्मका मुख्य फल जो मोक्ष ता मिवाय अन्य फल न कह्ये, अर समस्त प्राणीनिकी देना करि भीत रक्षा है यिन जाका देना जो भक्तिन सम्यग्दर्श साहि इहा जग्यपान करेहे ॥ ३३ ॥

अने वृत्तवत्त संख्या करेहे.—

अग्नि यदग्निं पश्यथां

विष्टधोद्दृशेन्नवागिनः ।

मकन्दमन्वदितोपुत्रपुत्रनां

विद्यवकर्तृशुवाचयपगच्छुतः ॥ ३४ ॥

धनकन्दप्रपग्निप्रदनिष्कृष्टो

नियममंयमर्शात्विभृषिगः ।

कृत्तक्यापहृषीकविनिर्जयः

प्रणिगटंनि वृषाश्रमिर्म वृषाः ॥ ३५ ॥

अर्थ—जो पशुओं का टिन है आभाषण जाता ऐसे आनन्दकन्दे ३४, ३५, अर विद्यव अर भयानक, ऐसे विद्यादुर्दान कर्ता मांगल्य है अर्थात् सर्व जीवनिर्क, हितमे उद्यमी है मन मावा, वात हूँ आ कर्मा ३४, ३५ नभने पगच्छुत है ॥ ३४ ॥ अर्थात् धन कर्ता परिगटंनि निष्कृष्ट है, अर नियम मंयम र्शात् इन कर्ता गृषिग है, अर्थात् कर्मा है अर्थात् अर हृषियनिष्क पगच्छुत जाने ऐसा है, इस पुत्रपुत्री दक्षिण कर्ता त कर्मा क पुरी है ॥ ३५ ॥

भावार्थ—जो पशुपुत्रे शास्त्रि कर्ता है अर कर्मा कर्ता अर कर्मा कर्ता ३४, ३५ निष्क भी जीव है अर माभ्यक्त गीत है साः कृत्तक है देना ३४, ३५ ॥

आगे अर्थात्कः ३४ ३५ कर्ता;—

कृत्तकः प्रणिगंति कर्तागिणो

वदति सो वितथे पश्ये क्वः ।

हरति वितमदपमनेकथा

मदनराजहत्तो भङ्गनेऽपनात् ॥ ३६ ॥

विदिष्येरेषविधाविपत्तिदः

विदति कर्त्तकदेशिहत्तनमः

कृमिकुलाकुलितैः ग्रसते पलं  
कलिलकर्मविधानविशारदः ॥ ३७ ॥

दृढकुटुंबपरिग्रहपंजरः  
प्रशमशीलगुणव्रतवर्जितः ।

गुरुकपायभुजंगमसेवितं  
विपयलोलमपात्रमुशंति तम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—जो दयारहित जीवनकी हनैहै बहुरि झूठ अर कठोर बचनकी बोलैहै, अर विना दिये धनकी अनेक प्रकार हरैहै, अर कामवाणकरि पांडित भया संता स्त्रीकी सेवैहै ॥ ३६ ॥ अर नाना दोषनिका करनेवाला जो परिग्रह ता सहितहै, अर नाहीहै बशीभूत मन जाका ऐसा भया संता मदिराकी पीवैहै, अर कीडाके समूहकरि ब्याप्त जो मांस ताहि खायहै अर पाप कर्म करणेविषै प्रवीणहै ॥ ३७ ॥ अर दृढ कुटुंब परिग्रहके पीत्रासहितहै, बहुरि समता शील गुणव्रत इनकी वर्जितहै तिस विपयलोलुपाकी आचार्य अपात्र कहैहै, केसाहै सो तीव्र कायरूप मर्पकारि सेवितहै ॥ ३८ ॥

भावार्थ—सम्यक् अर व्रतादिक इन दोऊनि करि रहित है सो अपात्रहै ॥

विगृह्य पात्रं बहुधेति पंडितं  
विशुद्धबुद्ध्या गुणदोषभाजनम् ।  
विदाय गद्यं परिगृह्य पापनं  
शिराय दानं निधिना वितीर्यते ॥ ३९ ॥

अर्थ—या प्रकार पंडितनिकरि निर्मलबुद्धिकरि गुण अर दोषनिका मात्रन जो बहुतप्रकार पात्र ताहि जानके अर निदनीककी त्यागिके अर पवित्रकी प्रह्नन करके मोक्षके अर्थ भूमिभक्षित दान दीवितहै ।

भाषार्थ—या प्रवृत्त गुण दाननीं यात्र अत्र श्रावणार्थं कृत्वि  
 मोक्षार्थं अर्थ अपात्रनिषीः त्यागार्थं पात्रनिषी दान देना योग्यते ॥ ३० ॥  
 आगे उक्तम पात्रनिषी आता देनेकी (1) की?—

कृतोपसर्गमपवित्रविप्रदो  
 निजालयद्वारगतो निगहन् ॥  
 नमोभयं स्वीकृत्ये तपोधनं  
 नमोजगु तिष्ठति कृतव्यनिष्कतः ॥ ४० ॥  
 गुणतृप्ते पुज्यतमे शृङ्खले  
 तपस्विने वधापयते विधानतः ।  
 मनीषितानेवकालप्रदायकं  
 सुदुर्लभं वनमिषागतदृषणम् ॥ ४१ ॥  
 अनेकजन्माग्निवर्त्मवर्गिन  
 तपोनिधेयतत्र परिप्रवाणिता ।  
 न सादरः क्षालयते पदद्वयं  
 विदुक्तये हृत्तिगुणामिषाविकः ॥ ४२ ॥  
 प्रगूनर्गपोधतदीपकादिभिः  
 प्रपूज्य मर्यादमर्यादपूजितम् ।  
 हृदा हृष्टोः पदपङ्कजद्वयं  
 न वेदते मन्त्रव्याजिह्वकलः ॥ ४३ ॥  
 मनोवचः कापविदुष्टिमेज्जमा  
 विधास शिष्यस्तमनोभ्यद्विदः ।  
 शत्रुविधातामहादेनिषयो  
 ददाति नः प्राणुवसाः शक्ति-वन्तः ॥ ४४ ॥

अर्थ—करयाहै उज्ज्वल धोवती दुपट्टा सहित पवित्र शरीर जाने  
बहुरि अपने घरके द्वारमें प्रात भया आकुलता रहित ऐसा भया स्त  
मुनिराजकी अंगीकार करैहै, कैसाहै सो नमस्कार होउ, हे मुनीन्द्र इ  
तिश्री ऐसं करयाहै शब्द जानै ॥ ४० ॥ बहुरि ता पीछे भले प्रस  
कियाहै संस्कार जाका,

भावार्थ—दयासहित लगाहै चौका आदि जहां ऐसे अतिशय स्त  
प्रशंसा योग्य घरके भीतर तपस्वीको विधानतै स्थापित करै, कैसाहै  
तपस्वी वाछित अनेक फलका देनेवालाहै, अर दूषण रहित रत्नकी स्त  
भले प्रकार दुर्लभहै ॥ ४१ ॥ अनेक जन्मकरि उपार्जे जे कर्म तिनय  
काटनेवाला ऐसा जो तपोधन मुनि ताके तहां पवित्र जठ करि सो  
आदरसहित चरण युगलको मुक्तिके अर्थ प्रश्लाउन करैहै, कैसाहै मुनि  
मुक्तिके सुखकाहै अभिलाषा जाके ॥ ४२ ॥ बहुरि मनुष्य अर देवने  
ममूहकरि भूजित जो मोक्षाभिलाषी मुनिका चरणयुगल ताहि पुण्य  
अशुल दीपक इत्यादि द्रव्यनि करि हर्षसहित दैहै, अर मस्तकसे लगा  
एहै हस्तकमल जानै ॥ ४३ ॥ बहुरि नाश कियाहै कामरूप दे  
जानै ऐसे मुनिवी मन वचन कायकी विनुद्धिता भले प्रकार करै  
आपके अर्थ किया जो चार प्रकार प्राणुक आहार ताहि दैहै, कैसाहै  
सो पुण्य नाही हरणे योग्यहै निश्चय जाका,

भावार्थ—दृढ है दान जाका ऐसाहै ॥ ४४ ॥

अनेन दत्तं विधिना तपस्विनां

महाकर्म स्तोत्रमपि प्रघ्रायते ।

वसुंधरायां षटपादपत्रं किं

न षात्रमूर्तं परमेति विस्तरम् ॥ ४५ ॥

अर्थ—इस विधिसहित तपस्वीनकी थोडा दिया जो दान सो महा-  
फल तपसाय है जैसे पृथ्वीके घोषा जो बटवृक्षका बीज सो कहा  
लच्छुष्ट विस्तारकी प्राप्त न होय है, होयही है ॥ ४५ ॥

निवेशितं बीजमिलातलेऽनघे

विना विधानं न फलावहं यथा ।

तथा न पात्राय वितीर्णमंजमा

ददाति दानं विधिना विना फलम् ॥ ४६ ॥

अर्थ—जैसे निर्योप पृथ्वीतल विर्ये घोषा भया बीज है सो विधान  
जो जतन आदि क्रिया ता विना फलदाता न होय है जैसे पात्रके अर्थ  
भले प्रकार दिया भया दान है सो विधि जो पदगाहन आदि ता विना  
फलकी न देय है ॥ ४६ ॥

सदाऽतिथिभ्यो विनयं वितन्वता

निर्वं प्रदेयं प्रियजल्पिना धनम् ।

प्रजायते कर्कशभाषिणः स्फूर्टं

धनं वितीर्णं गुरुवरकारणम् ॥ ४७ ॥

अर्थ—विनयको शिस्तारता अर मिठ बचन बोलना जो पुरा  
सायके पात्रनिके अर्थ अपना धन कहिये यथायोग्य आशादि वस्तु  
देना योग्य है जाते बटोर बचन बोलनेवालेके दिया भया वस्तु है सो  
प्रकटपने महावैश्या कारण होयहै ॥ ४७ ॥

निगद्य यः कर्कशमन्त्रपेननो

निर्वं च दत्ते इविषं शठत्वतः ।

सुराया दुःखोदयकारणं परं

मून्पेन गृह्णाति स दुर्मनाः कलिम् ॥ ४८ ॥



अर्थ—जो निर्जुली कठोर वनकी गोरी भय भूतकी डर डर देव है सो दुग्धिल भुक्तके अर्थ केवल दुग्धके उपरान्त उन्नी जो पाप कलह साहि मूल में प्रकृत करीरे ।

भावार्थ—जो छोटा वनन गोरी दान देवे सो उन्नी कलह करीरे ॥ ४८ ॥

गम्यगमक्तिं कुर्यात् संयतेभ्यो

द्रव्यं मां कान्तमान्द्रोस्य दत्तम् ।

दानुर्दानं भूरि पुण्यं विद्यते ।

मामग्रीतः सर्वकार्यप्रसिद्धिः ॥ ४९ ॥

अर्थ—भटे प्रकार भक्तिरी कर्मा जो दाना ताके द्रव्य मां काठ इनकी विचारके दिया भया दानके सो घने पुण्यकी उपजावै, जाते सर्व कार्यकी प्रसिद्धि है सो मामग्रीने होय है ।

भावार्थ—भक्तिमहित द्रव्यादिक पूर्व कहे प्रमाण विचारके पात्रनिके अर्थ छोटा भी दिया दान है सो बहुत पुण्यवचकी करीरे, इहां द्रव्य भाव काठ तो कहे अर क्षेत्र पात्रनिकी जान लेना ॥

बलाहकादेकरसं विनिर्गतं

यथा पयो भूरिरसं निसर्गतः

विचित्रमाधारमवाप्य जायते

तथा स्फुटं दानमपि प्रदावृतः ॥५०॥

अर्थ—जैसें मेघते निकस्या जो एक रसरूप जल सो स्वभावहीं नाना प्रकार आधारकी पाय करि अनेक रसरूप होय है तैसें दाताते निकस्या दान भी प्रकटपने नाना प्रकार पात्रनिकी पाय अनेक प्रकार-रूप परिणमै है ।

भावार्थ—जैसे पात्रों दान दोजिए तैसाही कर्मकर स्वयमेव होय है, ऐसा जानना ॥ ५० ॥

घटे यथाऽऽग्ने सुलिलं निवेदितं  
पलायते क्षिप्रमर्गा च मिघते ।

तथा वितीर्ण विगुणाय निष्फलं  
प्रजायते दानमर्गा च नश्यति ॥ ५१ ॥

अर्थ—जैसे याचे घट विरि धरया जो मळ है सो हीप्र मिघट जाय है अर घट भी फूट जाय है तैसे गुणरहित पुण्यवे, अर्थ दिया भया दान है सो निष्फल होय है अर दो लेनेवाला भी नाशबी प्राण होय है पापकर करे है, ऐसा जानना ॥ ५१ ॥

विना विवेकेन यथा सपरिव्रता  
यथा पट्टद्वेन विना गरुयती ।

तथा विधानेन विना पदान्यता  
न जायते शर्मकारी कदापन ॥ ५२ ॥

अर्थ—जैसे विना विवेक गरुयतीपना अर घातुद्वेपना विना गरुयती कदापिच गुणकारी न होय है तैसे प्रबोक्त विधान विना दान देण कदाप गुणकारी नाही ॥ ५२ ॥

यथा वितीर्ण भुजगाय पारने  
प्रजायते प्राणहरं विषं पयः ।

भयन्दपाश्राय धने गुणोऽग्नये  
तथा प्रदर्शं पट्टदोषकारणम् ॥ ५३ ॥

अर्थ—जैसे गरुदके अर्थ दिया भया जो दरिद्र दूध सो प्राणनश करेवाला शिव होय है तैसे भयन्दके अर्थ गुणरि करे दान अर जो दान सो दिया भया पट्ट दोषकारण होय है ॥ ५३ ॥

वित्तीयं यो दानमसंपत्तात्मने

जनः फलं कांक्षति पुण्यलक्षणम् ।

वित्तीयं वीजं ज्वलिते स पात्रके

समीहते सम्यमपात्रदूषणम् ॥ ५४ ॥

जो मनुष्य अमयत मनुष्यके अर्थ दान देकरि पुण्य है लक्षण ब्रह्म  
ऐसे फलकां चाहे है सो जलनी अग्निविषै बीजको ब्रोंय करि दूषणहित  
धान्यको चाँछे ? ।

भावार्थ—विषय कपायनि महित मदान्मत्त मिथ्यादृष्टीनकी दान देके  
पुण्य चाँहै है सो नाही होय है । बहुरि इहां अमयमाकी दान निषेधा  
सो दुःखित जीवनिकां कल्याण दान नाही निषेध्या है, ऐसा जानना ॥ ५४ ॥

विमुच्य यः पात्रमवघविच्छिदे

कुर्धारपात्राय ददाति भोजनम् ।

स कर्पितं क्षेत्रमपोद्ब मुन्दरं

फलाय बीजं क्षिपते वतोपले ॥ ५५ ॥

अर्थ—जो पुरुष पापके नाशके अर्थ पात्रको छोड़के अपात्रको  
भोजन देय है तहां आचार्य कहैहैं बटे खेदकी बात है जो मुन्दर जोते  
भये खेतको छोड़करि पत्थर विषै बीजको खेप है ॥ ५५ ॥

यथा रजोधारिणि पुष्टिकारणं

विनश्यति क्षीरमलावुनि स्थितम् ।

प्ररूढमिध्यात्वमलाय देहिने

तथा प्रदत्तं द्रविणं विनश्यति ॥ ५६ ॥

अर्थ—जैसे पुष्टिकारी जो दूध सो घूरकी धारने वाली जो तंत्रकी  
विषै घरया भया नाशकी प्राप्त होय है तैसे कैल रखा है मिथ्याव्य-  
प मल जाके ऐसे प्रार्णाको दिया भया द्रव्य है सो नाशकी प्राप्त होय है ।

भावार्थ—जैसे भूल भरी कटुक तंबूही विरै भरया दूध नागकी प्राण होय अर कटुक परिणमै तेरी मिय्यादृशीवी दिया धन नागकी प्राण होय हे अर पापबंध करे हे, ऐसा जानना ॥ ५६ ॥

नो दातारं मन्मथाक्रान्तचित्तः

संसारतैः पाति पापावलीढः ।

अमोराशेर्दुस्तरा लोहमय्या

नाथा लोहं सार्यमाणं न दृष्टम् ॥ ५७ ॥

अर्थ—कामचरि ज्याम हे चित्त जाका ऐसा पापमय पुण्यहे गो दाताकी संसारकी पीडानि न बंधाईहे, जाते दुस्तर समुद्रने लोहमयी नाथकी लोह निराया न देया ॥ ५७ ॥

ग्रंधारंभक्रोपलोभादि पुष्टो

ग्रंधारंभक्रोपलोभादिपुष्टम् ।

जन्माराते रक्षितुं तुल्यदोषो

नूनं शक्तो नो गृहस्थो गृहस्थम् ॥५८॥

अर्थ—आचार्य तर्क करे करे हे, अहां ! जो परिष्कृत आरंभ लोभ लोभ इत्यादिचरि करि पुष्टहे परिष्कृतभागी मुग्ध गो परिष्कृत आरंभ लोभ लोभ आदि करि पुष्ट जो गृहस्थ ताहि समाज बेटीने रक्षण ब्रह्म-नेत्री समर्थ नाही, पैसाहे गो गुरु गृहस्थसत्ताने दोष जा विदे ।

भावार्थ—श्रिमतादि दोषनि करि सैता दाता सैसाही एव सो दोषरहित पात्रका संगे भजा करे ऐसी आचार्यने तर्क करीहे, ऐसा जानना ॥ ५८ ॥

लोभमोहमदमग्गरदीनो

लोभमोहमदमग्गरनेहम् ।

पाति जन्मजलधेरपरागो

रागवंतमपहस्वितपापः ॥ ५९ ॥

अर्थ—दूर किया है पाप जनि ऐसा वीतराग लोभ मोह नर भावकरि रहित पात्र है सो लोभ मोह मद मन्सर भावनिका घर से रागी पुण्य ताहि संसार समुद्रतें रक्षा करैहै ।

भावार्थ—रागी जीवनकी तारनेकी वीतरागही समर्थ है अन्य नाही, ऐसा जानना ॥ ५९ ॥

सर्वदोषनिचिताय फलार्थी

यो ददाति धनमस्तविचारः ।

तदधाति स मलिम्बुचहम्ने

कानने पुनरपि ग्रहणाय ॥ ६० ॥

अर्थ—जो विचाररहित पुण्य फलका अर्था दोषनि करि व्यस्य पुण्यके अर्थ धनकी देयहै सो बनविषै चौग्नके हाथमें फेर पाठा छेनेके अर्थ धन सौंपैहै ॥ ६० ॥

दानं यतिभ्यो ददता विधानतो

मतिविधेया भवदुःखशांतये ।

दुरंतसंसारपयोधिपातिनी

न भोगवृद्धिर्मनसाग्रपि धीमता ॥ ६१ ॥

अर्थ—विधानमहित वर्तानके अर्थ दान देता जो पुण्य ता बरि संसार दुःखशी शांतिके अर्थ बुद्धि करणी योग्यहै, अर दूरहै अंत जाका ऐसा जो संसारममुद्र तागिषै पटकने वाली जो भोगनिकी बुद्धि सो बुद्धिवानकरि मनकरि भी करणी योग्य नाही ।

भावार्थ—दान देकरि परमार्थहीकी बुद्धि करणी भोगनिकी अभि-  
न करणी ॥ ६१ ॥

प्रदाय दानं व्रतिनां महात्मनां  
यो याचते भोगमनर्थकारणम् ।

मनीषितानेकसुखप्रदं मणिं  
प्रदाय गृह्णाति स दुर्जरं विपम् ॥ ६२ ॥

अर्थ—जो पुरुष महात्मा व्रतीनकी दान देकर अनर्थ का कारण जो भोग ताहि बाहैहै सो वाछित अनेक सुखका देनेवाला जो रत्न ताहि देकर दुर्जर विपकी ग्रहण करैहै ॥ ६२ ॥

पद्मागानामिव प्राणिविन्नासिना  
मर्जने रक्षणे पोषणे सेवने ।

याति पौराणि दुःखानि येषां जनः  
संति भोगाः कथं ते मतः धीमताम् ॥ ६३ ॥

अर्थ—प्राणीनकी दुःख देनेवाले सर्पनके समान जो भोग तिनके उपजावने विषै रक्षण विषै पोषणे विषै सेवने विषै भयानक दुःखनिकी जीव प्राप्त होयहै ते भोग बुद्धिमाननि के मने भए कैसें होय ।

भावार्थ—भोगनिकी बुद्धिमान सुखकारी कैसें मानै, अपि तु नाही मानै ॥ ६३ ॥

श्रद्धीयमाणा अपि वंचयंते  
निषेव्यमाणा अपि मारयंते ।

ये पोष्यमाणा अपि पीडयंते  
ते संति भोगाः कथमर्थनीयाः ॥ ६४ ॥

अर्थ—जे भोग प्रीति करे भएभीडिगैहै अर सेवे भयेभी मारैहै अर पोषे भएभी पीडा उपजावे है ते भोग कैसें वाछने योग्य होय है, अपि तु नाही होय है ॥ ६४ ॥

उत्पद्यमाना निलयं स्वकीयं

ये हव्यवाहा इव धार्यमाणाः ।

प्रष्टोपयन्ते हृदयं ज्वलन्त

स्ते याचनीयाः कथमिन्द्रियार्याः ॥ ६५ ॥

अर्थ—जैसे जाज्वल्यमान उपजी भई अग्नि हैं ते अपने स्थानकीं जलावै तैसे वे भोग इच्छाकरि धरेभण मनविषे जलते संते इन्द्रियीं जलावै हे ते इन्द्रियनिके भोग कैसे वांछने योग्य होय ॥ ६५ ॥

दत्तप्रलापभ्रमशोकमूर्च्छाः

संतापयन्तः सकलं शरीरम् ।

ये दुर्निवारं जनयन्ति तृष्णां

ज्वरा इवन्ते न मुरारय संति ॥ ६६ ॥

अर्थ—दियाहे प्रलाप कहिए वृथा बकवाद अरु भ्रमकहिये औरका और जानना अरु शोक अरु अचेतनपना जिनने बहुणि समस्त शरीरकीं संताप उपजावने अरु दुर्निवार तृष्णाकीं उपजावैहे ऐसे ज्वरनि के समान जे भोग ते मुक्तके अर्थ नाही हे ॥ ६६ ॥

विधाय्य दानं कृषियो यतिभ्यो

ये प्रार्थयन्ते विषयोपभोगम् ।

ने मांगलगा मनु कांचनीयै

विन्दिम्य किंवाकवनं वपन्ति ॥ ६७ ॥

अर्थ—जे कुवृद्धि वपानके अर्थ दान देकरि विषयभोग की वदे हे ते पुण्य मुक्तामयी हलनि करि पृथ्वीकी भोग करि विषयनिके वनकी बंरेहे ।

भावार्थ—किपाकका फल स्वानेमें ताँ प्रिय लागैहै अर पाछे प्राण हरैहै तैसे विषय भी भोगते ताँ नीके लागैहै अर परिपाकर्म महादुःख देयहै, ताँतै यह दृष्टांत दियाहै ॥ ६७ ॥

भिदंति सूत्राय मणिं महर्षं  
 काष्ठाय ते कल्पतरुं लुनंति ।  
 नावं च लोहाय विपाटयन्ते  
 भोगाय दानं ननु ये ददन्ते ॥ ६८ ॥

अर्थ—आचार्य सर्व कौहैं जो जे पुरय भोगनके अर्थ दान देयहै ते डोराके अर्थ महामोड रत्नकौं पाँडेहै, अर काष्ठके अर्थ कायरशरीर कौंटेहै अर लोहके अर्थ जहाजकौं तोड़ेहै ॥ ६८ ॥

परंरक्षणं दमितेंद्रियाश्वा  
 धरंति धर्मं विषयार्थिनो ये ।  
 पापाणमाधाय गले महान्तं  
 विशन्ति ते तीरमलभ्यपारम् ॥ ६९ ॥

अर्थ—दमेहें इन्द्रियस्य छोडे जिनमें ऐसे जे पुरय औरनि करि अराक्य जो धर्म ताहि विषयार्थी भर संते आर्षीहै ते बडे बडे पापाणकौ गले किरै धारकें नाही लंनेयोग्यहै पार जावत ऐसा जो जग ता प्रति प्रवेत करैहै ॥ ६९ ॥

दिने दिने ये परिपर्यमाणा  
 विवर्द्धमानाः परिपीडयन्ते ।  
 ते कस्य रोगा इव संति भोगा  
 विभिदनीया विदुषोऽर्धनीयाः ॥७०॥



अर्थ—जे भोग दिन दिन भिरे पशित्त किये मरु वर्धमान नर  
मने जेमे रोग पांडा उपजाये तेमे पीडा उपजायेते ते निदनेयोग्य भोग  
कीन पंडित जनकी वांछने योग्य होयते, अपि तु नाही होयते ॥ ७० ॥

प्रयच्छन्ति मांस्यं गुरार्थीश्वरेभ्यो

न ये जातु भोगाः कथं ते परेभ्यः ।

निशुभन्ति ये मत्तमत्र द्विपेंद्रं

न कंठीग्यास्ने कुरंगं त्यजन्ति ॥ ७१ ॥

अर्थ—जे भोग गुरानिके नायक जो इंद्र तिनके अर्थ ही कदाचित्  
मुख न देखेते ते आरनके अर्थि मुख कैसे देखे, इहां दृष्टांत कहैते—  
जे सिंह इहां लोकमें मतवारे गजेन्द्रकी मारेते ते शिरणकी नाही  
छोडेते ॥ ७१ ॥

न याचनीयाविदुपेति दोषं

विज्ञायं रोगा इव जातु भोगाः ।

किं प्राणहारित्वमवेक्षमाणो

जिजीविषुः खादति कालकूटम् ॥ ७२ ॥

अर्थ—या प्रकार दोषकी जानिके पंडितजन करि रोग समान जे  
भोग ते कदाचित् वांछने योग्य नाही, इहा दृष्टांत कहैते—प्राणहारीप-  
णेकी देखता जीवनेका वांछक जो पुरुष है सो कहा कालकूटकी खाप  
है, अपि तु नाही खाप है ॥ ७२ ॥

भोगाः संपद्यमानाः सुरमनुजभवाश्चितितप्राप्तसौख्या

याच्यन्ते लब्धुकामैः कथमपविषद् धर्मतो मुक्तिकांताम् ।

मस्यं स्वीकर्तुंकामाः क्षुद्रस्तरगमस्काडविच्छेददधं

स्वीकर्तुं किं फलालं फलममलधियः कुर्वते कर्षणं हि ॥

अर्थ—धर्मते मुक्तिखीकी प्राप्ति होनेकी है इच्छा जिनके ऐसे पुरु-  
षनि करि वाछित प्राप्त किये हैं मुय जिनने ऐसे प्राप्त भए जे देव  
मनुष्य जनित भोग ते विपदाख्य कोई प्रकार याचिए है, अपि तु  
नाही याचिए है; जाने धान्यकी अगीकार करनेके बाछक जे निर्मलबुद्धि  
पुण्य है ते बड़ा ख्यार फलकी अगीकार करनेकी वेती करे हैं, अपि तु  
नाही करे है, किन्ता है धान्य पीडाख्य जो बड़ा अधकारका समूह ताके  
हेदने विषै प्रवीण है ।

भाषार्थ—जैसे खेतमें मुख्य फल ती धान्य है अर पियार आदि  
स्वयमेव उपजै है तेसे धर्मका फल ती मोक्ष है इन्द्रादिक पद ती बिना  
चाहे शुभापयोग ती स्वयमेव उपजै है, ताने इन्द्रादिक पदके योग्य  
धर्मका वाछना योग्य नाही ॥ ७३ ॥

त्यक्त्वा भोगामिलापं भवमरणजरारण्यनिर्मूलनार्थं

दत्ते दानं मुदायो नयविनयपरः संयतेभ्यो यतिभ्यः ।

भुक्त्वा भोगानरोगानमरचरवधूलोचनांभोजभानु

नित्यां निर्वाणलक्ष्मीममितगतियतिप्रार्थनीयां स याति

अर्थ—नीति अर विनयविषै तपर भया जो पुरुष जन्म जरा मर-  
णख्य बन्के नाशके अर्थ भोगनिकी वाछाकी (यागिके हर्षसहित संय-  
मी मुनीश्वरनिके अर्थ दान देय है सो देवागनाके नयनकमलकी सूर्य-  
समान देव होय रोगरहित भोगनिकी भोगि मोक्ष लक्ष्मीकी प्राप्त होय  
है, यैसी है मोक्षलक्ष्मी अविनाशी है अर अप्रमाग है ज्ञान जिनरा ऐसे  
वर्तन करि वाछने योग्य है ॥ ७४ ॥

बोदा ।

भोग चाह तजि साधुकीं देत दान जो जीव ।  
 मुरमुख सब लहि अमितगति होय मोक्षतिथ पीत ॥

इत्युपासकाचारे दानमः परिच्छेदः

इस प्रकार भमितगति भाष्यार्यविरचित भाष्यकाचार्यिर्षे  
 दानायां परिच्छेद पूर्ण भया ।

## अथ एकादश परिच्छेद ।



फलं नाभयदानस्य वक्तुं केनाऽपि पार्यते ।

यस्याऽऽकल्पं ह्यरे जिह्वा व्याप्रियंते सहस्रशः ॥ १ ॥

अर्थ—अभयदानके फलको कहनेकी बोज करि भी समर्थ हूजिए है, अरि तु नाही हूजिए है; जिसके बजनेकी कल्पकाठ पर्यंत हजारों जीभ मुगजियै व्यापार कीजिए है तो भी अभयदानके फल कहनेकी बोज करि भी समर्थ न हूजिए है ॥ १ ॥

धर्मायंकाममोक्षाणां जीवितं मूलमिष्यते ।

तद्रक्षता न किं दत्तं हरता तन्न किं हतम् ॥ २ ॥

अर्थ—धर्म अर्थ काम मोक्ष इन चारोंही पुरुषार्थनिका मूल जीवना कहिणै तानै निम जीवनेकी रक्षा करता जो पुरष ताकरि कहा न दिया अर ता जीवनेको रक्षा हरता जो पुरष ताकरि कहा न नाश किया, सर्वही नाश किया ॥ २ ॥

गोबालब्राह्मणस्त्रीतः पुण्यभागी यदीप्स्यते ।

सर्वप्राणिगणत्रायी नितरां न तदा कथम् ॥ ३ ॥

अर्थ—जो गौ बालक ब्राह्मण स्त्री इनकी रक्षार्थ पुण्यवान जीव मानिए है तो समस्त प्राणीनिके समूहका रक्षा करनेवाला पुरष है सो अधिक पुण्यवान कैमें नाही ॥ ३ ॥

यद्येकमेकदा जीवं श्रापमाणाः प्रपूज्यते ।

न तदा सर्वदा सर्वं श्रापमाणः कथं पुर्थः ॥ ४ ॥

अर्थ—जो एककाल एकजीवकों रक्षा करता संता पुरुष है तो पूजिए है तो सदा काल सर्व जीवकों रक्षा करता संता पुरुष है सो पंडितनि करि कर्म नहीं पूजिए है, पूजिए ही है ॥ ४ ॥

चामीकरमयीमुर्वी ददानः पर्वतः सह ।

एकजीवाभयं नूनं ददानस्य समः कुतः ॥ ५ ॥

अर्थ—आचार्य तर्क करैहैं;—पर्वतनि सहित मुवर्णमयी पृथ्वीको देता पुरुष है सो एकजीवकी रक्षा करता जो पुरुष ताके समान कहतै होय, अपि तु नहीं होय ॥ ५ ॥

गुणानां दुखापानामर्चितानां महात्मनिः ।

दयालुर्जीयते स्थानं मणीनामिव सागरः ॥ ६ ॥

अर्थ—बडे पुरुषनि करि पूजित ऐसे जे दुर्लभ गुण तिनका दयालु स्थानक होयहै, जैसे रत्ननिका स्थान समुद्र होयहै तैसे ॥ ६ ॥

संयमा नियमाः सर्वे दयालोः संति देहिनिः ।

जायमाना न दृश्यन्ते भूरुहा घरणीमृते ॥ ७ ॥

अर्थ—दयावान जीव कै संयम नियम सर्व होय है, जातै पृथ्वी विना वृक्षहैं ते उपजे न देखे ॥ ७ ॥

कारणं सर्ववैराणां प्राणिनां विनिपातनम् ।

तत्सदा त्यजतस्त्रेधा कुतो वैरं प्रवर्त्तते ॥ ८ ॥

अर्थ—प्राणीनिकीं घातहै सो सर्व वैर भावनिका कारण है, तातै प्राणीके घातकीं मन वचन काय करि त्यागता जो पुरुष ताके वैरभाव कहां प्रवर्त्ते ॥ ८ ॥

मनोभूरिव कांतांग सुवर्णाद्रिव स्थिरः ।

सरस्वानिव गंभीरो विवस्वानिव भास्वरः ॥ ९ ॥

आदिषः सुभवाः शोभदाद्यामीं योमीं पद्मोनिधिः ।

अभयदानदानेन चित्तजीवी निरामयः ॥ १० ॥

अर्थ—अभयदान करि आदिषदासक सुभवा एगी होयते, आ  
शोभदासक शोभदासक, आ शोभदासक शोभदासक, आ सुभवासक  
शोभदासक होयते ॥ १० ॥ चित्तजीवी शोभदासक, सुभवा होयते, शोभदा  
सक होयते, शोभदासक शोभदासक, चित्तजीवी शोभदासक, सुभवासक  
शोभदासक होयते, हे सर्वे अभयदानक, पद पद ॥ १० ॥

तीर्थंशुचिरेदानां संपदा सुभवेदिताः ।

एतेनाभयदानेन दीयते दक्षिणापदः ॥ ११ ॥

अर्थ—अभयदान करि तीर्थंशुचिरे दक्षिणापद देव दक्षिणापद दक्षिणा-  
पददीयते, दक्षिणापद दक्षिणापद दक्षिणापद करि दक्षिणापद आ नारा  
पददीयते आददा दक्षिणापद देव देव ॥ ११ ॥

सद्वित्तं न शुभं लोके न भूतं न भविष्यति ।

यस्य संपद्यते गणो जेतोरभयदानतः ॥ १२ ॥

अर्थ—दक्षिणापद शोभदासक सुभवासक शोभदासक शोभदासक आ न भया आ न  
शोभदासक शोभदासक शोभदासक शोभदासक नारा प्राण होयते, सर्वही  
सुभवासक होयते ॥ १२ ॥

द्वितीयं धियते येन सममेव महाप्रथम् ।

कल्पस्याभयदानाय फले इत्येति भाषितुम् ॥ १३ ॥

अर्थ—द्वितीयं अभयदान करि जीविका द्वितीयं पदोच्छेदे जैते सम-  
भाव करि महाप्रथम पदोच्छेदे शोभदासक, द्वितीयं अभयदानके पद कहनेकी  
शोभदासक होयते ॥ १३ ॥

एते अभयदानका वर्णन किया ॥

आगे आहार दानका वर्णन कीते;—

आहारेण विना कायो न तिष्ठति कथंचन ।

भास्करेण विना कुच चासरो व्यवतिष्ठते ॥ १४ ॥

अर्थ—जैसे सूर्य विना दिन कहाँतै तिष्ठे दिन न होय तैसे आहारविना शरीर कोई प्रकार न तिष्ठे है ॥ १४ ॥

शमस्तपो दया धर्मः संयमो नियमो दमः ।

सर्वे तेन वितीर्यते येनाऽऽहारो वितीर्यते ॥ १५ ॥

अर्थ—जा पुरुष करे आहार दीजिए है ताकारे शमभाव तप दया धर्म संयम नियम इन्द्रियनिका दमन ये सर्व दीजिए है ॥ १५ ॥

चितितं पूजितं भोज्यं क्षीयते तस्य नालये ।

आहारो भक्तितो येन दीयते व्रतवर्तिनाम् ॥ १६ ॥

अर्थ—जा पुरुष करे भक्तिते वर्तानकों आहारदान दीजिए है ताके घरविषे वांछित अर प्रशंसा योग्य जोभोजन सो क्षीण नहीं होय है ॥ १६ ॥

कल्याणानामशेषाणां भाजनं स प्रजायते ।

सलिलानामिवांभोधिर्येनाहारो वितीर्यते ॥ १७ ॥

अर्थ—जा पुरुष करे आहारदान दीजिए है सो पुरुष जैसे जडनिष्ठा भाजन समुद्र होय तैसे समस्त कल्याणनिका भाजन होय है ॥ १७ ॥

स्वप्नेव त्रिषोऽन्विष्य धन्यं दातारमंधनः ।

आयाति तरमा श्रेष्ठाः सुमर्ग वनिता इव ॥ १८ ॥

अर्थ—आहारदान देनेवाले पुरुषकों बेगि करे छशी है ते स्वप्ने श्रेष्ठ आय प्राप्त होय है जैसे श्रेष्ठ स्त्री है ते सुंदर पुरुषकों आय प्राप्त होय तैसे ॥ १८ ॥

मंपद्मनीर्धकर्तृणां व्यक्तिगामर्द्धचक्रिणाम् ।

मंत्रत्यग्नदं मर्याः पयोविमिरनिघ्नताः ॥ १९ ॥

अर्थ—तीर्थकर्त्तृनीकी चक्रवर्त्तीनीकी अर्द्धचक्रवर्त्तीनीकी सर्व सपदा हैं ते आहार देनेवाले पुरुषकी सेवे है जैसे नदी समुद्रकी सेवे जैसे ॥ १९ ॥

प्रक्षीयंते न तस्यर्था ददानस्यापि भूरिदाः ।

ददाना जनतानंदं चंद्रस्येव मरीचयः ॥ २० ॥

अर्थ—जैसे छोचनकी आनंद देती जे चंद्रमार्की किरण ते क्षीण न होवै जैसे बहुतदान देनेकी भी सपदा क्षीण न होवै ॥ २० ॥

यत्फलं ददतः पृथ्वीं प्रासुकं यद्य भोजनम् ।

अनयोरंतरं मन्ये तृणाधिजलयोरिव ॥ २१ ॥

अर्थ—पृथ्वीकी देता जो पुरुष ताका जो फल है बहुरि प्रासुक भोजनकी देते पुरुष ताका जो फल है, इनि दोऊनिका अंतर तृणकी अणीका जल अर समुद्रका जल इनि दोऊनिका अंतर है जैसे मानू है ।

भाषार्थ—पृथ्वी दानका ती लोकमें प्रशंसामात्र फल है अर पाप बड़ा है, अर भोजनदान का दोऊ भवनिमें मुफकारी फल है; ताते इनिका बड़ा अंतर फलारे, ऐसा जानना ॥ २१ ॥

अन्नदानप्रसादेन यत्र यत्र प्रजापते ।

तत्रोज्ज्वलते भोगैर्नभास्यानिर रश्मिभिः ॥ २२ ॥

अर्थ—जैसे सूर्य जहां जहां जाय वहां वहां किरणनिकरि न छोड़ि है जैसे अन्नदानके प्रसाद करि जहां जहां जीय जाय वहां वहां भोगनि करि नाही छोड़ि है ॥ २२ ॥

ददानोऽन्नमात्रं यत्फलं प्राप्नोति मानवः ।

दानात्सुवर्णकोटीनां न फदाचन तद्गुणम् ॥ २३ ॥

अर्थ—भोजनमात्र देता जो पुरुष सो जिसकल पौ पावै सो फल मोड सुवर्णकी देता जो पुरुषसो निधयते फदाच न पावै ॥ २३ ॥



विना भोगोपभोगेभ्यश्चिरं जीवति मानवः ।

न विनाऽऽहारमात्रेण तुष्टिपुष्टि प्रदायिना ॥ २४ ॥

अर्थ—भोग उपभोग विना तौ मनुष्य बहुत काल जीवै है व  
सतोप अर पुष्टपनाकी देनेवाला जो भोजन ताविना न जीवै है ॥२४

केवलज्ञानतो ज्ञानं निर्वाणसुखतः सुखम् ।

आहारदानतो दानं नोत्तमं विद्यते परम् ॥ २५ ॥

अर्थ—केवलज्ञानतै और दूजा उत्तम ज्ञान नाही, अर मोक्ष मुन  
और दूजा सुख नाही, अर आहारदानतै और दूजा उत्तम द  
नाही ॥ २५ ॥

अंधसा क्रियते यावानुपकारः शरीरिणः ।

न तावान् रत्नकोटीभिः पुंजिताभिरपि स्फुटम् ॥ २६ ॥

अर्थ—प्राणीका जितना उपकार भोजन करि करिये है तिन  
उपकार एकटे किये कोडपां रत्तनि करि भी प्रगटपने नहीं करिये है ॥ २६ ॥

हीयंते निखिलाश्रेष्ठा विना भोजनमात्रया ।

गुप्तयो व्यवतिष्ठंते विना कृत्र नितिक्षया ॥ २७ ॥

अर्थ—भोजनरूप्य मात्रा विना गम्यन श्रेष्ठा नाशकी प्राप्त होय है  
जैसे क्षमा विना मग वचन कायकी गुनि हैं ते कदा तिष्ठे हैं, कइ भी  
न तिष्ठे हैं ॥ २७ ॥

सीर्यते तरमा गाश्रं जंतोर्यजितपंधमा ।

विना नीरं च गम्यस्य कोमलस्य व्यरम्यतिः ॥ २८ ॥

अर्थ—तरमा गाश्रं जंतोर्यजितपंधमा ।  
विना नीरं च गम्यस्य कोमलस्य व्यरम्यतिः ॥ २८ ॥  
अर्थ—तरमा गाश्रं जंतोर्यजितपंधमा ।  
विना नीरं च गम्यस्य कोमलस्य व्यरम्यतिः ॥ २८ ॥

यथाऽऽहारः प्रियः पुंसां न तथा किञ्चनापरम् ।

विक्रीयन्ते प्रियाः पुत्रास्तदर्थं कथमन्यथा ॥ २९ ॥

अर्थ—पुरुषोंकी जैसा भोजन प्रिय है तैसा और किछु प्रिय नाही, जो ऐसै न होय तौ प्यारे पुत्र तिम आहारके अर्थि कैसै बेचिये है, ताँतै आहार सर्व तै प्यारा है ॥ २९ ॥

यत्किञ्चित्सुंदरं वस्तु दृश्यते भुवनत्रये ।

तददादापिना सिद्धं लभ्यते लीलायाऽखिलम् ॥ ३० ॥

अर्थ—जो किछु वस्तु तीन लोकविधि सुंदर देखिये है सो सर्व वस्तु अन्न दान करना जो पुरुष ता करि लीलायात्र करि शीघ्र पाइये है ॥ ३० ॥

बहुनाऽत्र किमुक्तेन विना सकलवेदिना ।

फलं नाऽऽहारदानस्य परः शक्नोति भाषितुम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—इहां बहुत कहने करि कहा है, आहारदानका फल सर्वज्ञ-विना और दूजा कहनेकी समर्थ नाही ॥ ३१ ॥

ऐसै आहारदानका फल वर्णन किया, आगे औपधिदानका वर्णन करे है:—

रक्ष्यते व्रतिनां येन शरीरं धर्मसाधनम् ।

पार्यते न फलं वक्तुं तस्य भैषज्यदायिनः ॥ ३२ ॥

अर्थ—जिस औषधदान करनेवाले करि धर्मका साधन जो व्रती-नका शरीर ताकी रक्षा कीजियेहै तिम औषधदानके फल कहनेकी समर्थ न हूजियेहै ॥ ३२ ॥

येनाप्यधप्रदस्येह वचनैः कथ्यते फलम् ।

सुदुर्कर्मियते तेन पयो नूनं पयोनिधेः ॥ ३३ ॥

विना भोगोपभोगेभ्यश्चिरं जीवति मानवः ।

न विनाऽऽहारमात्रेण तुष्टिपुष्टि प्रदायिना ॥ २४ ॥

अर्थ—भोग उपभोग विना तो मनुष्य बहुत काल जीवै है कः संतोष अर पुष्टपनाकों देनेवाला जो भोजन ताविना न जीवै है ॥२४

केवलज्ञानतो ज्ञानं निर्वाणसुखतः सुखम् ।

आहारदानतो दानं नोत्तमं विद्यते परम् ॥ २५ ॥

अर्थ—केवलज्ञानतै और दूजा उत्तम ज्ञान नाही, अर भोज सुख और दूजा सुख नाही, अर आहारदानतै और दूजा उत्तम दा नाही ॥ २५ ॥

अंधसा क्रियते यावानुपकारः शरीरिणः ।

न तावान् रत्नकोटीभिः पुंजिताभिरपि स्फुटम् ॥ २६ ॥

अर्थ—प्राणीका जितना उपकार भोजन करि करिये है तितना उपकार एकठे किये कोडियां रत्ननि करि भी प्रगटपने नहीं करिये है ॥ २६ ॥

हीयंते निखिलाश्चेष्टा विना भोजनमात्रया ।

गुप्तयो व्यवतिष्ठंते विना कुत्र तितिक्षया ॥ २७ ॥

अर्थ—भोजनरूप मात्रा विना समस्त चेष्टा नाशकों प्राप्त होय है जैसे क्षमा विना मन धचन कायकी गुप्ति हैं ते कहा तिष्ठै हैं, कहुं भी न तिष्ठै है ॥ २७ ॥

सीर्यते तरसा गात्रं जंतोर्वर्जितमंधसा ।

विना नीरं क सस्यस्य कोमलस्य व्यवस्थितिः ॥ २८ ॥

अर्थ—प्राणीका शरीर है सो भोजन विना जल्दी क्षीण होय है जैसे जल विना कोमल धानकी स्थिरता कहां होय, अपि तु कहुं भी न होय है, ऐसा जानना ॥ २८ ॥

यथाऽऽहारः प्रियः पुंसां न तथा किञ्चनापरम् ।

विप्रीयंते प्रियाः पुत्रात्मनर्थं कथमन्यथा ॥ २९ ॥

अर्थ—पुत्रनिर्वाह जैसा भोजन प्रिय है तैसा और रिष्ट प्रिय नहीं, जो ऐसी न होय तौ प्यारे पुत्र निग आहारके अर्थ कैसी बेचने दे, ताँते आहार सर्व तै प्यारा है ॥ २९ ॥

यदिकचित्सुंदरं वस्तु दृश्यते भुवनत्रये ।

तदद्यादायिना क्षिप्रं लभ्यते लीलयाऽग्निलम् ॥ ३० ॥

अर्थ—जो किछ वस्तु तीन लोकत्रिये सुन्दर देखिये है वा सर्व वस्तु अन्न दान करता जो पुत्र्य ता बरि लीलामात्र बरि क्षीप्र पाश्ये है ॥ ३० ॥

बहुनाऽप्र किमुक्तेन विना सबालवेदिना ।

फलं नाऽऽहारदानस्य परः शक्नोति भाषितुम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—इहा बहुत करने परि कटा है, आहारदानका फल सबवेदिना और दूजा करनेकी समर्थ नहीं ॥ ३१ ॥

ऐसी आहारदानका फल बर्णन किया, आगे औषधदानका बर्णन करे है—

रक्ष्यते प्रतिनां येन शरीरे धर्मसाधनम् ।

पार्यते न फलं वक्तुः तस्य औषधदानिनः ॥ ३२ ॥

अर्थ—जिस औषधदान करनेवाले बरि धर्मका साधन जो धर्मनका शरीर ताकी रक्षा बर्णियेते तिस औषधदानके फल बर्णनेकी समर्थ न बर्णियेते ॥ ३२ ॥

येनाप्यप्रदग्देह वचनैः बध्यते फलम् ।

पुत्रुर्धर्मियते तेन पत्नो मृतं पत्नोनिधेः ॥ ३३ ॥

अर्थ—आचार्य कहें हैं मैं ऐसा मानूँ कि जिस करि लोकमें औषध देनेवालेका फल वचन करि कहियें, ताकरि स जल चट्टनि करि मापियेहै ॥ ३३ ॥

वातपित्तकफोत्थानं रोगरेप न पीड्यते ।

दावरिव जलध्यायी भेषजं येन दीयते ॥ ३४ ॥

अर्थ—जा पुरुष करि औषध दीजिएहैं सो पुरुष जैसे दाधान जल विषै तिष्ठ्या पुरुष न पीडिए तैसे वात पित्त कफ करि उठे करि न पीडिए है ॥ ३४ ॥

रोगनिपीडितो योगी न शक्तो ब्रतरक्षणे ।

नास्वस्थैः शक्यते कर्तुं स्वस्थकर्म कदाचन ॥ ३५ ॥

अर्थ—रोगनि करि पीडित जो साधु सो ब्रतनिकी रक्षा समर्थ न होयहैं बहुरि आकुलतासहित जीवनि करि निराकुल कदाच करनेको समर्थ न हूजियेहैं ॥ ३५ ॥

न जायते सरोगत्वं जंतोरौषधदायिनः ।

पावकं सेवमानस्य तुपारं हि पलायते ॥ ३६ ॥

अर्थ—औषध देनेवाले पुरुषके सरोगपना न होयहैं, जाते अति सेवते पुरुषका शीत दूर भागैहैं ॥ ३६ ॥

आजन्म जायते यस्य न व्याधिस्तनुतापकः ।

किं सुखं कथ्यते तस्य सिद्धस्येव महात्मनः ॥ ३७ ॥

अर्थ—जाके जन्मनें लगाय शरीरको ताप उपजावने बाढा न होयहैं तिस सिद्धममान महात्माका मुख कहा कहिए । इहां सि समान कथा सो जैसे सिद्धनिकी रोग नाही तैसे याके भी रोग ना ऐसी ममानता देखि उपमा दीनीहैं सर्व प्रकार सिद्ध न जानलेना ॥ ३७ ॥

निधानमेव कांतीनां कीर्त्तीनां कुलमंदिरम् ।

लावण्यानां नदीनाथो भूपज्यं येन दीयते ॥ ३८ ॥

अर्थ—जा पुरुष करि औपथ दाजिए है सो, यह पुरुष क्यति कहि-  
ये दीर्घिनिका ती भंडार होय है, अर कीर्त्तिनिका कुलमंदिर होय है  
जामें यश कीर्त्ति सदा बसै है, यहुरि सुंदरतानिका समुद्र होय है ऐसा  
जानना ॥ ३८ ॥

ध्वातं दियाकरस्येव शीतं चित्ररुचेरिव ।

भूपज्यदायिनो देहाद्रोगित्वं प्रपलायते ॥ ३९ ॥

अर्थ—जैसेँ सूर्यके शरीरमें अंधकार दूरि भागै है अर अग्निके शरी-  
रमें शीत दूरि भागै है तैसेँ औपथ देनेवाले पुरुषके देहमें रोगापना दूरि  
भागै है ॥ ३९ ॥

आरोग्यं क्रियते येन योगिनां योगमुक्तये ।

तदीयस्य न धर्मस्य समर्थः कोऽपि वर्णने ॥ ४० ॥

अर्थ—जा करि योगीश्वरनके मन बचन कायकी मुक्तिके आधि  
रोगरहितपना कीजिए है ताके धर्मके वर्णनविषेँ कोई भी समर्थ नाही ॥ ४० ॥

चारित्र्यं दर्शनं ज्ञानं स्वाध्यायो विनयो नयः ।

सर्वेऽपि विहितास्तेन दत्तं येनौपथं सताम् ॥ ४१ ॥

अर्थ—जानै साधुनिकों औपथदान दिया जानै चारित्र दर्शन ज्ञान  
विनय नीति ये सर्वही किये ।

भावार्थ—औपथमें शरीर नीरोग होय तब सर्व धर्मका भावन बसै  
है, ऐसा जानना ॥ ४१ ॥

ऐसेँ औपथदानका वर्णन किया; आगेँ शास्त्रदानकी बर्हिहै;—

संछतिदिच्छते येन निर्गुणैरेव दीयते ।

मोहो विधूयते येन विवेको येन अन्यते ॥ ४२ ॥

कषायोर्मद्यते येन मानसं येन शम्यते ।  
 अहृद्यं त्याग्यते येन कृत्ये येन प्रार्थ्यते ॥ ४२ ॥  
 गन्तं प्रकाशयते येन येनागतं निशिध्यते ।  
 मंथमः क्रियते येन मम्यते येन पोष्यते ॥ ४४ ॥  
 देहिभ्यो दीयते येन तपसागं सिद्धिलभ्यते ।  
 कर्मणेन गदशो धन्यो विद्यते भुवनपथे ॥ ४५ ॥

अर्थ—जाकरि मंगार छेरिण्हे, अर जाकरि भोग्य दीकिण्हे, अर  
 जाकरि मोह पुडाइण्हे, अर जाकरि निरेक उपवाइण्हे ॥ ४२ ॥  
 अर जाकरि साधारिक कषाय नाश करिण्हे, अर जाकरि मन हानि  
 करिण्हे, अर जाकरि अकार्य पुडाइण्हे, अर जाकरि हृदये प्रार्थण  
 दे ॥ ४३ ॥ अर जाकरि पदार्थानि का सांचा स्वल्प निरोधियेदे, अर  
 जाकरि पदार्थानका अल्पसा स्वल्प निरोधियेदे, अर जाकरि मंगलकार्य  
 करिण्हे, अर जाकरि मम्यक पोसिण्हे ॥ ४४ ॥ देना नो मम्य  
 प्रार्थननी जाकरि मंगल अरि दीकिण्हे सामान तीन मंगलीनी अर  
 पुण्य करि दे, जाकि नु कोडे लाडी ॥ ४५ ॥

मूचिः प्रदीयते येन शास्त्रज्ञानेन वाचनी ।

कदम्बी मागारिही तस्य प्रददानस्य कः श्रमः ॥ ४६ ॥

अर्थ—कदम्बी मागारिही तस्य प्रददानस्य कः श्रमः ॥ ४६ ॥  
 अर्थ—कदम्बी मागारिही तस्य प्रददानस्य कः श्रमः ॥ ४६ ॥

अर्थ—कदम्बी मागारिही तस्य प्रददानस्य कः श्रमः ॥ ४६ ॥  
 अर्थ—कदम्बी मागारिही तस्य प्रददानस्य कः श्रमः ॥ ४६ ॥

कदम्बी मागारिही तस्य प्रददानस्य कः श्रमः ।

कदम्बी मागारिही तस्य प्रददानस्य कः श्रमः ॥ ४६ ॥

अर्थ—जा शास्त्रज्ञानमें विश्वका प्रकाशक केवल ज्ञान-पाइएँगे तो और मतिज्ञान आदिके पारने विषे ताकी कथनी कैसी, और ज्ञान पावना तो सहजही है ॥ ४७ ॥

मर्त्यामरत्रियं भुक्त्वा भुवनोत्तमपूजिताम् ।

ज्ञानदानप्रसादेन जीवो गच्छति निर्वृतिम् ॥ ४८ ॥

अर्थ—ज्ञानदानके प्रसादकरि जीवहै सो लोकविषे उत्तम अर पूजित ऐसी मनुष्यनिकी अर देवनिकी लक्ष्मीकी भोगके मुक्तिकी प्राप्त होयहै ॥ ४८ ॥

चतुरंगं फलं येन दीयते शास्त्रदायिना ।

चतुरंगं फलं तेन लभ्यते न कपं स्वयम् ॥ ४९ ॥

अर्थ—जिन शास्त्रके देनेवाले पुरख करि चतुरंग कहिए धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, ये चार पुरुषार्थरूप फलदाजिएहै ताकरि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, रूप फल स्वयमेव कैसे न पाइए है ॥ ४९ ॥

शास्त्रदायी सतां पूज्यः सेवनीयो मनीषिणाम् ।

बादी बाग्मी कविर्मान्यः ग्यातशिखः प्रजायते ॥ ५० ॥

अर्थ—शास्त्रकी देनेवाला पुरख संतनिके पूजनकरि होय है अर पंडितनिके सेवनीक होय है, अर बादीनिकी जातनेवाले हैं वचन जाके ऐसा बादी होय है, बहुरि बाग्मी कहिये सभाकी रंजायमान करनेवाला वक्ता होय है, अर कवि कहिये नवीनबंध रचनावाला होय है, अर मानने योग्य होय है, अर विख्यात है निष्ठा जाकी ऐसा होय है ॥५०॥

ऐसे शास्त्रदानका वर्णन किया, आगे वसतिके ज्ञानकी कहेंहैं,—

विचित्ररत्ननिर्माणः प्रोचुंगो बहुभूमिकः ।

लभ्यते वासदानेन वासधंद्रकरोज्ज्वलः ॥ ५१ ॥



अर्थ—वसतिकादान करि चंद्रमाकी किरण समान उज्ज्वल विधि  
ब्रह्म करि रक्षा महाऊंचा बहुत खणनिका महल पाइये है ॥ ५१ ॥

आगे वस्त्रदानको कहैहै,—

कोमलानि महाध्याणि विशालानि घनानि च ।

वासोदानेन वासांसि संपद्यंते सहस्रशः ॥ ५२ ॥

अर्थ—वस्त्रदानकरि कोमल अरु महामोठ अरु सबन ऐसे हजारों  
वस्त्र पाइए है ।

भावार्थ—आजिका श्रायक श्रायिका इत्यादिकनिकों वस्त्रदान करे  
साका फल इहां कहा है ॥ ५२ ॥

ददती जनतानंदं चंद्रकांतिरिवामला ।

जायते पानदानेन वाणी तापपनोदिनी ॥ ५३ ॥

अर्थ—पान करिये पीरने योग्य वस्तु ताके दान करि भद्रकामिनी  
मणिममान निर्मल लोकनिकों आनंद देनेवाली तापकी नाश करनेवाली  
देवी वाणी होय है ॥ ५३ ॥

ददानः प्रागुक्तं द्रव्यं रत्नधितयष्टकम् ।

कांक्षितं गच्छेत् द्रव्यं लभते परदुर्लभम् ॥ ५४ ॥

अर्थ—रत्नत्रयका वसावनेवाला ऐसा जो प्रागुक्त द्रव्य है लक्ष्मी  
देवी पुण्य भोगिनियों दुर्लभ ऐसा कांक्षित गच्छेत् परदुर्लभ परी है ॥ ५४ ॥

विश्राणयति यो दानं गौरामानस्यभिनः ।

मेव्यते क्षुत्नार्थीनः स मदा सुगुणांशुभिः ॥ ५५ ॥

अर्थ—जो पुण्य कर्मकर्तको भोगता सेवा दान देयके सो पुण्य  
सुखके बहुतके जे इत्यादिक विनोद मदा मेशु है ॥ ५५ ॥

यः प्रसंगमापते नम्रा दानं यच्छति योदिनाम् ।

प्रसन्नः स मदा मंत्रिद्विदेन्दु इव नम्यते ॥ ५६ ॥

अर्थ—जो पुरुष गुनीनकी प्रशंसामें लपर भया दान देव है सो पुत्र सदा प्रशंसा योग्य होयहै, अर मन्पुत्र जेमें तीर्थकरदेवकी नये तेमें ताहि नये है ॥ ५६ ॥

दत्ते द्रुधूपयित्वा यो दानं गन्धमशालिनाम् ।

द्रुधूप्यते पुष्परेष भक्त्या गुग्गुलिवानिद्रम् ॥ ५७ ॥

अर्थ—जो द्रुधुपा करिये, संयमी गुनीनकी दान देयहै सो यह पट्टिमिकारे निरंतर जेमें गुग्गुलिकी द्रुधुपावाञ्जित तेमें ताकी द्रुधुपा कीजिए ॥ ५७ ॥

आदृत्य दीयते दानं साधुभ्यो धन सर्वदा ।

आदरेणैष लोकेन निधानमिव पृथगे ॥ ५८ ॥

अर्थ—जो पुत्र वरि आदरसाहित साधुनके, कर्ष सदा दान दीजि-  
येहै सो यह पुत्र लोकवरी निधान की थी आदरसाहित सखण  
कीजिए है ॥ ५८ ॥

पूजापरायणः स्तुत्या यो यच्छति नडात्मनाम् ।

त्रिदशैस्तीर्थकारीष वनाशं वतारं च पूजयते ॥ ५९ ॥

अर्थ—जो पुरुष पूजास्ये लपर स्तुति करिये, साधुपुत्रनिकी दान  
देयहै सो पुत्र देवनि वरि जेमें तीर्थकर देवकी स्तुति तेमें स्तुति करि  
करिये, इजिए है ॥ ५९ ॥

दद्यदाने मतामिष्टे तपः संमयसोवकम् ।

तपद्विस्तारता भक्त्या प्राप्यते पाल्कर्माक्षितम् ॥ ६० ॥

अर्थ—जो जो दान तप सदैमकर पुत्र बननेवाक सत्पुत्रद्वारे  
माय्यहै सो सो दान भतीसाहित देता अ पुत्र लखरे बनेन बल  
पारह है ॥ ६० ॥

दानानीमानि यच्छंति स्तोकान्यपि महाफलम् ।

बीजानीव वटार्दीनां निहितानि विधानतः ॥ ६१ ॥

अर्थ—पूरे कहे ते दान विधानसहित थोडे भी महाफलकी देव है, जैसे वट आदि वृक्षनिके बीज हैं ते विधाननै बोए भए बडे फलनै देव हैं ॥ ६१ ॥

पात्रेभ्यो यः प्रकृष्टेभ्यो मिथ्यादृष्टिः प्रपच्छति ।

म याति भोगभूमीषु प्रकृष्टासु महोदयः ॥ ६२ ॥

अर्थ—जो मिथ्यादृष्टी उच्छ्रष्ट पावनिके अर्थ दान देव है सो महान है उदय जाऊ ऐसा उच्छ्रष्ट भोग भूमीकी जाव है ॥ ६२ ॥

क्रोधप्रय वपुस्तत्र त्रिपत्न्योपमजीवितः ।

निनाकन्पितमात्रिध्वं म भोगमुत्तमश्नुते ॥ ६३ ॥

अर्थ—तदा उच्छ्रष्ट भोगभूमीपिने तीन कोसको शरीर अर तीन पत्नीया आयु जाकी सो निनाकरि कष्टयादी निरुद्ध प्राण भया देव भोगनिका सुख भोगे है ॥ ६३ ॥

मदा मनोनुह्लासिः सेव्यमाना दिवाऽनिशम् ।

नारीमिने गते काले जानने भोगप्रभुषः ॥ ६४ ॥

अर्थ—मनके अनुह्लास जे श्री निनाकरि मदा सेवे भये ते भोगनै सिवा सेवे कालही न जाने है ॥ ६४ ॥

सेव्यमानां म पात्राणां दानतो याति सेव्यमाम् ।

कामाख्यानुत्सवं दि कार्ये जगति जायते ॥ ६५ ॥

अर्थ—सो दान म यम पावनिके दाननै सेव्यम नैगानुनिनी प्रथम सेव है, सो कामाख्यानै प्रथम काम्य दान नैग ही कार्ये जायते है ॥ ६५ ॥

द्विक्रोशोऽश्रुदंशोऽसौ दिवत्यापुत्रिणमवः ।

म नशास्ये मदात्तवः कीर्त्यानांशरवदा ॥ ६६ ॥

अर्थ—सो यह मध्यम भोगभूमिया दोष कोश ऊंचा है दह जाका, अर दोष पत्य आयु, रोगरहित, बडा है आराम कहिये स्थान जाका, अर स्त्रीके नेत्रकमलनिकीं भ्रमरममान सो तहां तिथै है ॥ ६६ ॥

जघन्येभ्यः स पात्रेभ्यो जघन्यां याति दानतः ।

एकत्रोशोच्छ्रयं भूमिमैकपल्योपमस्थिति ॥ ६७ ॥

अर्थ—बहुते सो दाता जघन्य पात्रनके अर्थ दिया जो दान ताते जघन्य भोगभूमिकीं प्राप्त होय है, एक कोश ऊंचा अर एक पत्रकी है स्थिति जाकी ॥ ६७ ॥

वरदामलकविभीतकमाद्यं त्रिद्विपेकवामरैः प्रमतः ।

आहारं कल्याणं दिव्यरसं भुञ्जते घन्याः ॥ ६८ ॥

अर्थ—ते पुण्यवान भोगभूमिया बेर आमला बहेदा इन प्रमाण कमते कल्याणरूप दिव्यहै स्वाद जाका ऐसा आहारकी तीन दोष एक दिन करि खायहै ।

भाषार्थ—उत्तम भोगभूमिया तीन दिनमें बेर प्रमाण आहार करैहै, मध्यम भोगभूमिया दोषदिनमें आंवले प्रमाण आहार करैहै, जघन्यभोगभूमिया एक दिनमें बहेदे प्रमाण आहार करैहै ऐसा जानना ॥ ६८ ॥

विधाणयन् यतीनामुत्तममध्यमजघन्यपरिणामैः ।

दानं यच्छति भूमीरुत्तममध्यमजघन्या वा ॥ ६९ ॥

अर्थ—रहले सो तीन प्रकार शत्रुनके अर्थ दानते तीन प्रकारही भोगभूमि मिलैहै ऐसा कथा; अब यहै है कि दूजा प्रकार यहभीहै कि यतीनकी उत्तम मध्यम जघन्य परिणामनि करि दान देता जो पुरष सो उत्तम मध्यम जघन्य भोगभूमिकीं पावैहै ॥ ६९ ॥

मर्वे दृष्टपरित्यक्ताः मर्वे मेरु विशर्जिताः ।

सर्वे र्थावन संपन्नाः सर्वे सानि विपंददा ॥ ७० ॥



न वियोगः प्रियैः सार्द्धं न संयोगोऽप्रियैः सह ।

न व्रतं न तपस्तेषां न वैरं न पराभवः ॥ ७५ ॥

अर्थ—तिन भोगभूमियानके इष्टपदार्थन करि साथ वियोग नाही, अर अनिष्ट पस्तुनि साहेत संयोगता नाही अर तिनके व्रत नाही तप नाही वैर नाही अनादर नाही ॥ ७५ ॥

यतः स्वस्वामिसंबंधस्तेषां नास्ति कदाचन ।

परच्छेदानुवर्तित्वं ततस्तेषां कुतस्तनम् ॥ ७६ ॥

अर्थ—जाते तिन भोगभूमियानके स्वस्वामि कहिये सेवक ईश्वरपनेका संबंध कदाचित् नाही साते परार्थीन प्रवर्तना तिनके काहेका होय ॥ ७६ ॥

नाऽपूगैः समये सर्वे ते ध्रियंते कदाचन ।

रचयंति न पशुन्यं मुखसागरमध्यगाः ॥ ७७ ॥

अर्थ—जे सर्व भोगभूमियां आयुके अपूर्ण कालीवैष कदाच न मरै है, अर मुखसमुद्रके मध्य प्राप्त भये ते ईषां भावकों नाही करै हैं ॥७७॥

आयासेन विना भोगी नीरोगीभूतविप्रहः ।

क्षुतेन पुरुषस्तत्र ध्रियते जृम्भांगना ॥ ७८ ॥

अर्थ—वेदविना भोगनि करि सहित अर रोगरहित है शरीर जाका ऐसा भोगभूमिका पुरुष लौ छीक करि मरै है अर जेभाई करि छी मरै है ॥ ७८ ॥

ते जायंते कलालापा मकरध्वजमंनिभाः ।

सर्वे भोगक्षमाः रम्यादिनानां सप्त गत्तुः ॥ ७९ ॥

अर्थ—ते सर्व भोगभूमिया दिननके मात सप्तक कहिये गुणचास दिनन करि उपरै हैं, केसे हैं ते भोगभूमिया, सुंदर है शब्द दिनका

अथ कामदेवमन्त्रान् हे स्वयं विष्णो अथ भोगभित्तौ भोगभित्तौ न वि-  
र्त्तक एते हे ॥ ७२ ॥

कोमलाब्जावपा क्रीः कांपाब्ज्यां निगद्यो ।

कनिनाब्ज्यां पुनः क्रीना निरसादृशिषाविना ॥ ८० ॥

अर्थ—कोमल हे शब्द ताका ऐसी स्त्री करि जाये तो भोगभूषित  
गणना पनि सो करिए दे,

भावार्थ—स्त्री कोमल वनमदित्य वनिगी बोडे हे । अथ तानादर  
शुभामर करनेवाया तो पनि ता करि भोगभूषित स्त्री सो करिदे हे,

भावार्थ—पति शृणुवाके वनमदित्य स्त्रीगी बोडे हे ॥ ८० ॥

आदंयाः सुभगाः मौम्याः मुंदरंगा वरांदाः ।

रमंते मद्र गमाभिः मगमामिमिंयो मुदा ॥ ८१ ॥

अर्थ—आदर करने योग्य अर मुंदर अर मौम्य अर मुंदर हे अंग  
जिनके अर भडे वचन बोडनेवाडे ऐमे ने भोगभूषित अरते सनन  
जे स्त्री निनकरि मरित परम्पर हर्षकरि गे हे ॥ ८१ ॥

युग्ममुत्पद्यते साद्वं युगं यत्र विपद्यते ।

शोकाकंदादयो दांपाम्नात्र मंति कुतस्तनाः ॥ ८२ ॥

अर्थ—जहा स्त्रीपुरुषका युग साथ उपजे हे अर साथ ही युग  
भंगे हे ताते शोक अर रोवना इत्यादि दोष हे ते कहाने होय, नहीं  
होय हे ॥ ८२ ॥

करिकेसरिगां यत्र तिष्ठंतौ बांधवामिव ।

एकत्र सर्वदा प्रीत्या सख्यं तत्र किमुच्यते ॥ ८३ ॥

अर्थ—शमी अर सिंह जहा बांधवनिकी ज्यो एक जायगां सदा  
प्रीतिसहित तिष्ठे हे तहा बैरभाव कैसे कहिए, अपि तु नाही कहिए  
ऐसा ज्वनना ॥ ८३ ॥

कुपात्रदानतो याति कुत्मिता भोगमेदिनीम् ।

उत्तै कः कुत्मिते क्षेत्रे गुक्षेत्रफलमश्नुते ॥ ८४ ॥

अर्थ—कुपात्रके दानते जीर कुभोगभूमिकी प्राप्त होय है, इसा द्यंत कहैहै—गोटा क्षेत्रविषे बीज बोये संते गुक्षेत्रके फलकी भीन प्राप्त होय है, अपि तु कोई न होय है ॥ ८४ ॥

यैस्तरद्वीपजाः संति ये नरा म्लेच्छाद्वयं दजाः ।

कुपात्रदानतः सर्वे ते भवंति यथापयम् ॥ ८५ ॥

अर्थ—जे अंतरद्वीप कटिष् टवणसमुद्र विषे वा कतंगः समुद्रविषे उपानवे कुभोगभूमिके टाणू परहै तिनविषे उपजे मनुष्यहै आ १०९३-१०९४ विषे उपजे मनुष्यहै ते सर्व कुपात्रदानते यथायोग्य होयै ॥ ८५ ॥

वर्षमध्यजपन्यागु तिर्यचः संति भूमिषु ।

कुपात्रदानशुभोत्थं भुंजते तैःखिलाः पलम् ॥ ८६ ॥

अर्थ—उत्तम मध्यम जपन्य भोगभूमिन विषे जे तिर्यचहै ते सब कुपात्रदानरूप कृशते उपज्या ओ पाल ताहि खायै ॥ ८६ ॥

दासीदागद्विपम्लेच्छाद्वयमेयादयोऽथ ये ।

कुपात्रदानतो भोगरतेषां भोगवतां स्फुटम् ॥ ८७ ॥

अर्थ—इहा आर्यवंशके जे दासीदाग दासी म्लेच्छ कुला इत्यादि भोगवत जीवहै तिनकी ओ भोगी है ओ प्रत्यक्षमे कुपात्रदानते है, देना जानना ॥ ८७ ॥

ददंते नीपजातीनां ये भोगा भोगिनामिह ।

सर्वे कुपात्रदानेन ते दीदंते सहोदयाः ॥ ८८ ॥

अर्थ—इहा उत्तरदिशि नीप जातिके भोगी दीदंते जे भोग मलाद्वयके देनहै ते सर्व कुपात्रदानके हीके है ॥ ८८ ॥



अथासाय धने दगं व्यर्थं संख्योऽशिलम् ।

जालिने पारके शिखं धीजे कुवाङ्कुरीयति ॥ ८९ ॥

श्लो—अथासायके अर्थे दिया जो धन है सो सर्व कृता होयके, कि  
रूपेण कौटु—जाली अङ्गिने शेष्या बीज है सो कृता अङ्गुलीय  
होयके, अथि नृ नाली होयके ॥ ८९ ॥

अथापदानाः किंपिच कलं पापाः परम् ।

तद्वयो हि कलं मंदो पानुक्त्युत्पीडने ॥ ९० ॥

श्लो—अथापदानो कल पापो दूषण किं नृ मदी होयके, की  
पाप देवके मगदके ये मनेके मगद मोदनी होय, सो ही पश्ये ॥ ९० ॥

विधाणितपसायाप शिखेऽन्यर्थावृत्तिम् ।

अथान्ये मोचने दग्ने व्याधि हि न दूषणम् ॥ ९१ ॥

श्लो—अथापदाने पति ॥ ११ ॥ दान है सो बडे अनयोकी कौटु  
मगद मोचन है सो दू दे दानन साक्षा पैम देवयो कृता न है  
है, इत्यादि है ॥ ९१ ॥

अथान्ये मोचने दग्ने व्याधि हि न दूषणम् ।

अथान्ये मोचने दग्ने व्याधि हि न दूषणम् ॥ ९२ ॥

श्लो—अथान्ये मोचने दग्ने व्याधि हि न दूषणम् ॥ ९२ ॥

अथान्ये मोचने दग्ने व्याधि हि न दूषणम् ।

अथान्ये मोचने दग्ने व्याधि हि न दूषणम् ॥ ९३ ॥

श्लो—अथान्ये मोचने दग्ने व्याधि हि न दूषणम् ॥ ९३ ॥

अथान्ये मोचने दग्ने व्याधि हि न दूषणम् ।

अथान्ये मोचने दग्ने व्याधि हि न दूषणम् ॥ ९४ ॥

अर्थ—एक सूर्य करिही समस्त जगत प्रकाशरूप कीजिए है, बट्टरि उदय भये भी सर्व नक्षत्रनिके समूह तिनकरि प्रकाशित न कीजिए है ॥ ९४ ॥

एकेनापि मुपात्रेण तार्यते भवनीरधेः ।

सहस्रैरप्यपात्राणां पुंजितैर्न पुनर्लेनः ॥ ९५ ॥

अर्थ—उपरि दृष्टांत कथाया ताका दार्ष्टांत कहिए है;—तैरै एक भी मुपात्र करि जीव संसार समुद्रतै तारिये है, बट्टरि एकठे किये अपात्रनिके सहस्रनि करि भी संसारसमुद्रतै न तारिये है, ऐसा जानना ॥ ९५ ॥

अपात्रदानदोषेभ्यो विभ्यता पुण्यशालिना ।

विबुद्धश्च यत्नतः पात्रं देयं दानं विधानतः ॥ ९६ ॥

अर्थ—अपात्रके दोषतै इरता पुण्यदान जो पुरुष तारि पान नै पात्रकी जानिके विधानतै दान देना योग्य है ॥ ९६ ॥

अपात्राय धनं दत्ते यो हित्वा पात्रमुत्तमम् ।

साधुंविहाय चौराय तदर्पयति नः स्फुटम् ॥ ९७ ॥

अर्थ—जो पुरुष उत्तम पात्रकी छोडिके अपात्रके अर्थि धन देयै सो प्रगट साधुकी छोडिके चौरके अर्थि साधनकी देयै, ऐसा जानना ॥ ९७ ॥

अपात्रमिव यः पात्रं विबुद्धिरवलोकते ।

चित्तमणिमसौ गन्धे मन्यते लोष्टमग्निभम् ॥ ९८ ॥

अर्थ—जो निबुद्धि पात्रकी अपात्र की अर्थे अबलोकै सो बट्ट चित्तमणिगतनकी छोड समान मानै, ऐसा मै मानू है ॥ ९८ ॥

त्यक्त्वा धर्मप्रदं पात्रममात्रं स्वीकरोति यः ।

स कालकृत्मादत्ते भुक्त्वा पीयूषमस्त्रयीः ॥ ९९ ॥

१०१—सुखदायक पापही सोरिहे जो अघार की भोग्यता को  
मे सिद्धी मयुक्तकी सोरिहे का हृदयिणी वरण करे ॥ १०१ ॥

प्रायासविभागेन विष्णुश्रेष्ठैरिदं फलम् ।

उदितं दानेन प्राप्तं मत्पदश्रेष्ठैरागतः ॥ १०२ ॥

१०२—जो दानों से प्राप्त फल प्राप्त करने में श्रेष्ठों द्वारा  
प्राप्त करे वही सदाशिव के दानों से प्राप्त फल प्राप्त  
करे ॥ १०२ ॥

दानं विविदायाव मत्पदश्रेष्ठैरागतम् ।

इदानीं श्रमो यस्या कल्याणानी परिणमम् ॥ १०३ ॥

१०३—साधकाने की कर्मों से श्रम समाप्त होने पर  
दान से प्राप्त फल प्राप्त करने के फल प्राप्त करने ॥ १०३ ॥

याथाय निविना दया दाने भुक्त्वा ममाभिना ।

कल्याणाय कल्याणं भागेन सुदुष्कृतम् ॥ १०४ ॥

१०४—जो दान दाने से प्राप्त फल प्राप्त करने में  
श्रम समाप्त करने के फल प्राप्त करने ॥ १०४ ॥

शुद्धात्पादपद्मनाभा वंदयामि त्वत्पदाः ।

सुमेधात्पादपद्मनाभा वंदयामि त्वत्पदाः ॥ १०५ ॥

१०५—शुद्धात्पादपद्मनाभा वंदयामि त्वत्पदाः  
सुमेधात्पादपद्मनाभा वंदयामि त्वत्पदाः ॥ १०५ ॥

शुद्धात्पादपद्मनाभा वंदयामि त्वत्पदाः ।

सुमेधात्पादपद्मनाभा वंदयामि त्वत्पदाः ॥ १०६ ॥

१०६—शुद्धात्पादपद्मनाभा वंदयामि त्वत्पदाः  
सुमेधात्पादपद्मनाभा वंदयामि त्वत्पदाः ॥ १०६ ॥

स्तुवानामां स्तवैः श्रव्यैर्भव्याभरणभामुराः ।

मूर्त्ताः केऽमी विलोक्यन्ते पुण्यपुंजा इवामितः ॥ १०५ ॥

अर्थ—गुनने योग्य स्तोत्रनि करि स्तुति करते अर सुंदर आभूषणनकीर देदीप्यमान मूर्त्तीक पुण्यके समूहसमान ये च्यारों तरफ वीन देखिए हैं ऐसैं नवीन देव विचार हैं ॥ १०५ ॥

रम्याः रामा ममेमाः काश्चिन्नचाटुपरायणाः ।

लावण्यांबुनिधेर्वेला लोकंते कलनिखनाः ॥ १०६ ॥

अर्थ—रमने योग्य अर नानाप्रकार खुशामदमें तन्पर अर सुंदरताके समुद्रकी बेला सुंदर हैं शब्द जिनके ऐसी स्त्री मोकौ देखै हैं ॥ १०६ ॥

किमिदं दृश्यते स्थानं रामर्णाथकमंदिरम् ।

कथमत्राहमायातः किं स्वप्नोऽयमुतान्यथा ॥ १०७ ॥

अर्थ—सुंदरनामा मंदिर ये कौन स्थान देखै है, इहा में कैसैं आया अथवा कहा यह स्वप्न है ॥ १०७ ॥

किमकारि मया पुण्यं जातो येनात्र बंधुरे ।

न पुण्यद्यतिरेकेण लभ्यते सुखसंपदा ॥ १०८ ॥

अर्थ—अथवा मैं कहा पुण्य करत भया जाकरि इन सुंदर स्थान-विधि उपस्था, पुण्य बिना सुखसंपदा न पाइए है ॥ १०८ ॥

इत्थं चिंतयतां तेषां भवकारणकोऽवधिः ।

संपद्यतेनदां दीपः पूर्वसंबंधसूचकः ॥ १०९ ॥

अर्थ—या प्रकार विचारते जे देव तिनके भवही हैं कारण जानै ऐसा भवप्रत्यय अवधि अतिशयतरि देदीप्यमान पदके संबधका सूचक उपजै है ॥ १०९ ॥

ज्ञानेन तेन रिज्ञाय दानपुण्यप्रभावतः ।

त्रिदशीभूतमारमानं ते भजेति मुग्धात्मिकाम् ॥ ११० ॥

अर्थ—तिस ज्ञानकरि दानके पुण्यके प्रभावते आपका देव म जानिके ते देव मुखरूप समाधानताका भजे हैं ॥ ११० ॥

प्रीतेनामरवर्गेण स्वसंबंधेन सादरम् ।

क्रियमाणास्ततस्तुष्टा भजंतेजननीत्सवम् ॥ १११ ॥

अर्थ—तापीछे आपके संबंधी जो प्रीतियुक्तदेविका समूह ताका प्रसन्नकरे भये जन्मोत्सवका भजे हैं ॥ १११ ॥

ज्ञात्वा धर्मप्रभावेन तत्र प्रभवमात्मनः ।

पूजयंति जिनार्चास्ते भक्त्या धर्मस्य वृद्धये ॥ ११२ ॥

अर्थ—धर्मके प्रसादकरि तहां स्वर्गमें आपका जानिके ते देव धर्मका वृद्धिके आर्थे जिनभगवानकी प्रतिमानका भक्ति सहित पूजे हैं ॥ ११२ ॥

मुखवारिनिमग्रास्ते सेव्यमानाः सुधाशिभिः ।

सर्वदा व्यवतिष्ठंते प्रतिविंबरिवात्मनः ॥ ११३ ॥

अर्थ—ते देव मुखजलविषै इवे अर अपने प्रतिविंबममान देवनि करि सेवे भये मदा काल तिष्ठें ॥ ११३ ॥

ते सर्वलेशनिर्मुक्ता द्वाविंशतिमुदन्वताम् ।

आसते तत्र भुंजाना दानवृक्षफलं सुराः ॥ ११४ ॥

अर्थ—ते देव सर्वेशरहित दानरूप वृक्षके फलका भोगते सेवे तथा चाईस सागर निष्ठे हैं ॥ ११४ ॥

तेषां मुखप्रमां वक्ति बचोमिर्यो महात्मनाम् ।

प्रधाति पदविशेषगगनांतममां ध्रुवम् ॥ ११५ ॥

अर्थ—जिन महात्मा देवजिके मुखके प्रमाणका जो पुरुष बचननि करि कहें सो यह निधयकरि पावनके उदावने धग्नेकरि आफतारके धतका जायें ।

भावार्थ—तिन देबनि का मुख बचनने न फला जायहे, ऐसा जानना ॥ ११५ ॥

नवयौवनसंपन्ना दिव्यभूषणभूषिताः ।

ते वरेण्याद्यसंस्थाना जायंतेऽतर्मुहूर्त्ततः ॥ ११६ ॥

अर्थ—नवयौवनसहित अर दिव्य आभूषणानि करि भूषित अर श्रेष्ठ आदिका समचतुरछ हे संस्थान जिनका ऐसं अंतर्मुहूर्त्तमें उपजेहे ॥ ११६ ॥

तेषां रोदमलस्वेदजरारोगादिवर्जिताः ।

जायंते भास्कराकाराः स्फाटिका इव विग्रहाः ॥ ११७ ॥

अर्थ—तिन देबनिके रोद मल पसेव जरा रोग इत्यादि परि देदी-प्यमानहे आकार जिनके मानी स्फटिकमणिके हे ऐसे शरीर उपजे हे ॥ ११७ ॥

राजते हृदये तेषां हारयष्टिर्विनिर्मला ।

निमर्गसंभवा भूर्त्ता सम्पगट्टिरिव स्थिता ॥ ११८ ॥

अर्थ—तिन देबनिके हृदयविषे निशेचनिर्मल हारणी लडी सोरहे, मानौ स्वभायकरि उपजी मूर्तिवत सम्पगट्टि तिणी हे ॥ ११८ ॥

मुकुटो मस्तके तेषामुद्योतित दिगंतरः ।

निपथानामिवादित्यसमोर्ध्वंसीव भामने ॥ ११९ ॥

अर्थ—जेमें निपथापठनके ऊपर अंधकारका नारा करनेवाला सूर्य सोरहे तैसे तिन देबनिके मस्तकविषे उद्योतक्य किया हे दिस्तान-का अंतर जामे ऐसा मुकुट सोहे हे ॥ ११९ ॥

निधुवनकुशलाभिः पूर्णचंद्राननाभिः

मनभरविनताभिर्मन्मथाभ्यामित्ताभिः ।

पृथुतरजयनाभिर्वभुराभिर्वभूभिः

समममलवचोभिः सर्वदा ते रमंते ॥ १२० ॥

अर्थ—सुंदर स्त्रीन कीर निर्मलवचन सहित ते देव सदा रमे हैं, कैसी हैं ते स्त्री कामसे रनविषे प्रवीण हैं अर पूर्णचंद्रमा समान है मुनि जिनका अर स्नानके भागकरि नमीभूत है अर कामकरि व्याप्त है अर विस्वीर्ण है जयनस्थान जिनका ऐसी देवीनसहित ते देव रमे हैं ॥ १२० ॥

दिवोज्यतीर्योर्जितचित्तशृत्तयो

महानुभावा भुवि पुण्यशेषतः ।

भवंति वंशेषु युधानितेषु

विशुद्धमन्यस्कथना नरोत्तमाः ॥ १२१ ॥

अर्थ—ने देव मार्गते अत्यधिके वाक्कीके पुण्यने पृथीरिषे परिश्रितकरि श्रुतिव वशानिषिषे नगनिषिषे उत्तम शक्यवर्षादिक होय है केमे हैं ते उदाहरहे धितकी परगनि जिनकी ऐसे अर महानुभाव अर निर्दमन्यक है धन जिनके, ऐसे होय है ॥ १२१ ॥

प्रवाण्यते शक्रभगादिर्मपदं

मनोग्रामाय विपुण्यदुर्लभाम् ।

नयंति कालं निगिलं निगच्छताः

न लब्ध्वते किं ननु पापदानतः ॥ १२२ ॥

अर्थ—न देव इस लोकविषे पुण्यदिल जीवनको दुर्लभ है, मुद्रा अर शक्ति आदिविषे लयलया प्राप्त होवके निगच्छते मरे मरे मरण करके अलीन वीरे, अती पापदानको कदा न पावते । अरसे पावते, उमा बनना ॥ १२२ ॥

निषेव्य मरुमीदिति शर्मदागिर्णी

श्रीशर्मणी निदिमतेषु कल्पयथ ।

प्रदत्तते ध्यानकृशानुनाऽसिलं

श्रयंति सिद्धिं विधुतापदं सदा ॥ १२३ ॥

अर्थ—पापकार मुखकी फरनेवाली महान लक्ष्मीकी भोगके द्योय तीन भवनिधिमें समस्त कर्मनिकां ध्यान अग्नि करि जरायके ते जीव आपदाहरित मोक्ष अवस्थाकी सदा सेवैहै ॥ १२३ ॥

विधाय सप्ताष्टभवेषु वा स्फुटं

जपन्यतः कल्मषकक्षकत्वेनम् ।

व्रजंति सिद्धिं मुनिदानवासिता

व्रतं चरंतो जिननाथभाषितम् ॥ १२४ ॥

अर्थ—अथवा मुनिराजनिके दानकी हे वासना जिनके ऐसे जीव हैं ते जिनभाषितव्रतकी आचरते संते जपन्यपनेसंतें सात आठ भवविधि कर्मवनकी काउके निधयकी मुक्तिकी प्राप्त होयहै, ऐसा जानना ॥ १२४ ॥

पात्रदानमहनीपपादपः

शुद्धदर्शनजलेन वर्द्धितः ।

यद्दाति फलमर्चितं सतां

तस्य को भवति वर्णने क्षमः ॥ १२५ ॥

अर्थ—निर्मल सभ्यदर्शनरूप जलकी वृद्धीकी प्राप्त भया ऐसा पात्रदानरूपी पूजनीक वृद्धी से मत्पुत्रपनिके पूजित ऐसा जो फल देयहै ताके वर्णनविधि कोन समर्थहै, अदिजु कोई समर्थ नाही ॥ १२५ ॥

गणेशिनाऽमितगतिना यदीरितं

न दानजं फलमिदमीर्यते परैः ।

विभामितं दिनमणिना यदंबरं

न भासते कथमपि दीपकरिदम् ॥ १२६ ॥



अर्थ—अपरिमित हैं ज्ञान जिनके ऐसे गणधर देवनि करि यह दानजनित फल कइया सो फल और करि न कहिए है जैसे जो आकाश सूर्य करि प्रकाशित किया सो यह दीपकनि करि कोई प्रकार भी नाही प्रकाशिये है, ऐसा जानना ॥ १२६ ॥

छप्पय छंद ।

पात्र कुपात्र अपात्र मेद भाप्यो इम जिनपति  
 त्याग कुपात्र अपात्र करहु नितपात्रदानरति ।  
 जा प्रसाद सब भोग भोगि फिर होय महापति  
 ध्यान धारि अरि टारि लहै शिवरमा भ्रमितगति ॥  
 तिहि काल अनंतानंत निजरूप मांहि अविचल रहै  
 तसु ध्यानसलिलतैं जीरका तुरत सकल कलिमलरहै ॥  
 इत्युपासकाचारं एकादशमः परिच्छेदः ।

पंखें श्री भ्रमितगति आचार्यविरचित श्रायकाचार्यविर  
 म्यारहयां परिच्छेद समाप्त भया ।

## अथ द्वादशम परिच्छेद ।



भावद्रव्यस्वभावंयैरुमताः कर्मपर्वताः ।  
विभिन्ना ध्यानवज्रेण दूःखव्यालालिसंकुलाः ॥ १ ॥  
कर्मक्षयभवाः प्राप्ता मुक्तिदूतीरपच्छिदः ।  
नव केवललब्धीयै पंचकल्याणभागिनः ॥ २ ॥  
सर्वभाषामयी भाषा बोधयंती जगत्त्रयीम् ।  
आश्चर्यकारिणी येषां तात्त्वोद्दम्पंदवज्जिता ॥ ३ ॥  
प्रातिहार्याएकं कृत्वा येषां लोकातिशायिनीम् ।  
सपर्यां चक्रिरे गर्वे मादरा भुवनेधराः ॥ ४ ॥  
बचांमि तापहारीणि पयांसीव पयोप्लवः ।  
क्षिपंतो लोकपुण्येन भूतले विहरंति ये ॥ ५ ॥  
येषामिन्द्राज्ञया यथः स्वर्गज्ञोभाभिभाविनीम् ।  
करोत्यास्थायिर्कीं फीर्णां लोकश्रितमजंतुभिः ॥ ६ ॥  
आंघसंहतिसंस्थाना निःस्वेदा क्षीरदोजिता ।  
राजते गुंदरा येषां गुणैधिरमला तनुः ॥ ७ ॥  
येषां द्विष्टः क्षयं यानि तुष्टो लक्ष्मीं प्रपद्यते ।  
न रुष्यंति न तुष्यंति ये तपोः समवृषयः ॥ ८ ॥  
लक्ष्मीं मानिष्यां येषां भुवनत्रयतोपिर्णीम् ।  
अनन्यभादनीं इतौ यत्तुं कथिष्य विपद्यते ॥ ९ ॥  
रागद्वेषमदमोषलोभमोहादयोऽतिशयाः ।  
येषु दोषा न तिष्ठंति तेषु न बुला इव ॥ १० ॥

शक्तितो भक्तितोऽर्हणो जगतीपतिपूजिताः ।

ते द्वेषा पूजया पूजया द्रव्यभावस्यभावया ॥ ११ ॥

अर्थ—जिन करि भाव द्रव्य स्वभावनि करि सहित ऊंचे जे कर्म-पर्वत ते ध्यानरूप वज्र करि भेदेहैं, कैसेहैं कर्मपर्वत दुःखरूप मर्नि-की पंक्तिकरि आकुल हैं ।

भावार्थ—जिन भगवाननै भावकर्म रागादिक द्रव्यकर्म ज्ञानावरणा-दिक पुद्गलस्कंध ते ध्यानकीर नाशकिये हैं ॥ १ ॥ बहुरि जे गर्मादि पव-कल्याणके भोक्ता तीर्थकर देव कर्मकेशयतै उपजी पापके नाश करने-वाली अर मुक्तिकी दूतीसमान ऐसी नव केवललब्धिनकी प्राप्त भए हैं ॥ २ ॥ बहुरि जिनकी आश्चर्य उपजावने वाली सर्व मायामयी ता-वा होठके चलने करिरहित ऐसी दिव्यध्वनि तीन जगतकी ज्ञान करने-संती है ॥ ३ ॥ बहुरि जिनके छत्र चमरादि अष्ट प्रातिहार्य गचिके सर्व लोकके नायक जो इन्द्रादिकहैं ते आदरसहित लोकविषै अनिराप उपजावनेवाली जो पूजा ताहि करते भए ॥ ४ ॥ बहुरि जैसें मेघ जल-निकी वरसावते लोकमें विचरें तैमें सताप हरने वाले वचननकी कल्या-वते संते जे भगवान जीवनके पुण्य करि पृथ्वीतलविषै विहार करेहैं ॥ ५ ॥ बहुरि इंद्रकी आज्ञा करि कुबेर जिनकी समवसरण भूमिकाकी करेहैं, कैसी है समवसरण भूमिका स्वर्गकी शोभाकी जीतनेवाली अर तीन लोकके जीवनि करि भरी ऐसी है ॥ ६ ॥ बहुरि जिनकी देह सुंदर सुगंधरूप निर्मल सोहै है, कैसी है देह आदिका वज्ररूपभनाराव है महनन जा विषै अर आदिका समचतुरम्ब है संस्थान जाका अर पसेवरहित अर दूधममान श्वेत है रुधिर जाका ऐसी है ॥ ७ ॥ बहुरि जिनका द्वेष करनेवाला पुरुष क्षयकी प्राप्त होय है अर भक्ति करनेग-ला लक्ष्मीकी प्राप्त होय है, बहुरि ते भगवान न द्वेष करेहैं न गग की

निन दोऊन विरै समान परणति है ॥ ८ ॥ जिनकी अतिशयरहित  
अर तीन भुवनकी संतोष करनेवाली अर अन्य हरिहरादिविरै न पाइए  
ऐसी जो लक्ष्मी ताहि कहनेकी फोऊ समर्थ नाहीं है ॥ ९ ॥ वदुगि  
राम द्वेष मद क्रोध लोभ मोह इत्यादिक समस्त दोष हैं ते न निर्द्वै  
जैसे तत्त भूमिमें नोले नहीं रहै है ॥ १० ॥ इंद्रादिकनि करि पूजिन ते  
अर्हत भगवान शक्ति माफिक भक्ति तै द्रव्य भार स्वभावरूप दोष  
प्रकार पूजा करि पूजने योग्य हैं ॥ ११ ॥

वचोविग्रहसंकोचो द्रव्यपूजा निगद्यते ।

तत्र मानससंकोचो भावपूजा पुरातनः ॥ १२ ॥

अर्थ—वचनका अर शरीरका जो संकोच कहिए और कियानिने  
रोकि जिनेंद्रके सन्मुख करना सो द्रव्यपूजा कहिए है, अर मनका  
संकोच कहिए अन्य तरफने रोकि जिनभक्तिमें लगावना सो पुराणे पु-  
निकरि भावपूजा कहिए है ॥ १२ ॥

गंधप्रगूनमाघ्राद्यदीपधूपाक्षतादिभिः ।

क्रियमाणाथ वा सेषा द्रव्यपूजा विधानतः ॥ १३ ॥

अर्थ—अथवा गंध पुष्प नैवेद्य दीप धूप अक्षतनि करि विधानते  
करा भई द्रव्यपूजा जाननी ॥ १३ ॥

प्यापकानां चिन्तुद्धानां जिनानामनुरागतः ।

गुणानां यदनुध्यानं भावपूजेपमुच्यते ॥ १४ ॥

अर्थ—यद्वरि जिनसम्बन्धे गुणनिका अनुरागतै बारबार चिन्तन  
करना सो यह भावपूजा कहिए है, जैसे है जिन स्थापक कहिए सदैक  
जाननेवादे अर रागादिरहित चिन्तु है ॥ १४ ॥

द्वेषादि कुर्वतः पूजां जिनानां जितजन्मनाम् ।

न विद्यते द्वये लोके दुर्लभं वस्तु पूजितम् ॥ १५ ॥

अर्थ—जीत्याहै संसार जिनने ऐसे जिनदेवनिकी द्रव्य भाव करि दोऊही प्रकार पूजाकी करता जो पुरुष ताकी इसलोक परलोकविने उत्तम वस्तु दुर्लभ नाही ॥ १५ ॥

यैः कल्मषाष्टकं मुष्ट्या विशुद्धध्यानतेजसा ।

प्राप्तमष्टगुणैश्वर्यमात्मनीनिमनव्ययम् ॥ १६ ॥

क्षुधा तृषा भ्रम स्वेदनिद्रातोषाद्यभावतः ।

अन्नपानाशनस्नानशयनाभरणादिभिः ॥ १७ ॥

क्षुधादिनोदनैर्येषां नास्ति जातु प्रयोजनम् ।

सिद्धे हि वाञ्छिते कार्ये कारणान्वेषणं पृथा ॥ १८ ॥

कर्मव्यपायतो येषां न पुनर्जन्म जायते ।

विलयं हि गते बीजे कुतः संपद्यतेऽङ्कुरः ॥ १९ ॥

रागद्वेषादयो दोषा येषां संति न कर्मजाः ।

निमिगरहितं कापि न नैमित्तं विलोच्यते ॥ २० ॥

न निर्वृतिमर्मा मुक्ता पुनरायांति संसृतिम् ।

शर्मदं हि पदे हित्वा दुःखदं कः प्रपद्यते ॥ २१ ॥

मुक्तस्य प्राप्यते येषां न प्रमाणं कदाचन ।

आकाशस्यैव नित्यस्य निर्मलस्य गरीयमः ॥ २२ ॥

पश्यन्ति ये गुरुरी भूता लोकाप्रशिक्षरन्धिताः ।

लोकं कर्मभ्रंशुशेन नाश्रयमानमनागतम् ॥ २३ ॥

येषां स्मरणमात्रेण पुंसां पार्षं पलायते ।

ते पूज्या न कथं सिद्धा मनोराक्षापकर्मभिः ॥ २४ ॥

अर्थ—जिनने निमल ध्यान अग्नि करि भयकर्मकी प्रशयके आत्मका दिन अर अविनाशी वेसा मध्यकादि अष्ट गुणस्य देवर्ष पलाय ॥ १६ ॥ बहुरि क्षुधा तृषा भ्रम पनेव निद्रा दोष इत्यादिदके

अभावतै क्षुधादिकके दूर करनेवाले जे अन्न पान आगन स्थान मोरना आभूषण इत्यादिकनि करि जिनसिद्धनिके कदाचिन् प्रयोजन नाहीं, जातै बांछितकार्यरी सिद्धीभये कारणका दृटना कृयाहै ।

भाषार्थ—लोकमें क्षुधादिककी पीडा होयहै तब अन्नादिक इच्छिंह, बहुरि सिद्ध भगवानके क्षुधादिक दोषहैं रहे नाहीं तब अन्नदिकको हेरना बाहेकी चहिए, वह ती सहज ज्ञानानंदविषै मगनहैं ॥ १७-१८ ॥ बहुरि जिनके कर्मनिके अभावने केर जन्म न होयहै, जातै बांछरी नारा भये संते अंगुर कहितै होय, अपि तु नाहीं होय ।

भाषार्थ—जन्म होनेका कारण कर्महै सो निरर्थक अष्ट कर्मका अभाव भया अब जन्म कैसे होय ॥ १९ ॥ बहुरि कर्मजनित रागादि पादि दोष जिनके नाहींहैं जातै निमित्तरहित कहु भी न अवलंबिए है ।

भाषार्थ—मोहादिकर्म निमित्त पाप नैमित्तिक रागादि होयहै अब सिद्धीनिके मोहादि कर्म निमित्त रखा नाहीं नैमित्तिक रागादि बांछी होय अपि तु नाहीं होय ॥ २० ॥ बहुरि ये सिद्धभगवान मोक्ष अवस्थाकी छोड़िके केर रीसामें नाहीं आवै है, जातै गुणदायक ठिकानेकी छोड़िके दुःखदायक ठिकानेकी बोन प्राप होय अपि तु कोई भी न होय ॥ २१ ॥ बहुरि जिनका आकारा की ज्यौ निष्प अर निर्मल अर बड़ा जो गुण ताका प्रमाण कदाचिन् भी न पायैहै ॥ २२ ॥ बहुरि जे गुणरूप लोकके अपाशीयर परि लिये संते कर्मरूप नटका बरि निरंतर नचावा जो लोक ताहि देखै ।

भाषार्थ—कर्मबरि जीवनिकी गाना अवस्था होयहै निरर्थक अकर्मके परंतु रागादिकके अभावने आद गुणरूप लिये है ॥ २३ ॥ बहुरि जिनके स्मरण मात्र बरि पुण्यनिका पाप भागि रूप है तं सिद्ध भग-

वान् मन वचन कायकी क्रिया करि कैसें पूजने योग्य नाहीं, अपि तु पूजने ही योग्यहै ॥ २४ ॥

चारयंत्यनुमन्यंते पंचाचारं चरंति ये ।

जनका इव सर्वेषां जीवानां हितकारणम् ॥ २५ ॥

येषां पादपरामर्शे जीवा मुंचंति पातकम् ।

सलिलं हिम रश्मीनां चंद्रकांतोपला इव ॥ २६ ॥

उपदेशैः स्थिरं येषां चारित्रं क्रियतेतराम् ।

ते पूज्यंते त्रिधाऽऽचार्याः पदं वर्यं विद्यासुभिः ॥ २७ ॥

अर्थ—जे दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तप आचार वीर्याचार ये जो पंच आचार सर्व जावनिकां आचरणकरावै है अर आप आचरण करावै जैसे पिता हितका आचरण करावै तैसें ॥ २५ ॥ बहुरि जिनके चरणका स्पर्श होतसतैं जीव पापको त्यागैहै जैसे चंद्रमाकी किरणनिका स्पर्श होतसतैं चंद्रकांतपत्थर जलको छोडै तैसें ॥ २६ ॥ बहुरि जिनके उपदेशानि करि चारित्र अतिशय करि स्थिर काजिएहै ते आचार्य श्रेष्ठपद जो मोक्षपद ताहि जानेकी है बांछा जिनके ऐसे पुरुषनिकरि मन वचन कायने पूजिए है ॥ २७ ॥

उद्यतेभ्यः समत्वेभ्यो येभ्यो दलितरुल्मपाः ।

जायंते पावना विद्याः पर्वनेभ्य इवाऽऽपगाः ॥ २८ ॥

अर्थ—जिनने, नाशकिया है पाप जिनने ऐसी पवित्र विद्या उपगै है जैसे पर्वतनने नदी उपगै तैसें, कैमे है ते बडे हैं अर पराक्रममहित हैं ॥ २८ ॥

चरंतः पंचधाचारं भवाण्यद्वानलम् ।

द्वादशांगधृतस्कंधं पाठयंति पठंति ये ॥ २९ ॥

अर्थ—बहुरि जे संसार बनकों दावानल समान जो पंचाचार ताहि आचरण करैहैं बहुरि जो बारह अंगरूप धृतस्केधकों पढावै हैं अर पढै है ॥ २९ ॥

येषां वचोद्भूदे स्नाता न संति मलिना जनाः ।

तेऽर्च्यंते न कथं दक्षरूपाध्याया विरेपसः ॥ ३० ॥

अर्थ—जिनके वचनरूप सरोवरविधै न्याये जन हैं ते मलिन न होय हैं ते पापरहित उपाध्याय भगवान चतुर पुरुषनि करि कैसैं न पूजिए, पूजिए ही है ॥ ३० ॥

यैरनंगानलस्तीव्रः संतापितजगत्रयः ।

विध्यापितः शमांभोभिः पापपंकायसारिभिः ॥ ३१ ॥

दिग्धक्षवो भवारण्यं ये कुर्वति तपोऽनघम् ।

निराकृताखिलग्रंधा निस्पृहाः स्वतनावपि ॥ ३२ ॥

निधानमिव रक्षंतियेरत्नत्रयमादृताः ।

ते सद्भिर्वरिवस्यंते साधवो भव्यबांधवाः ॥ ३३ ॥

अर्थ—संतापकों प्राप्त किये हैं तीन लोक जानैं ऐसी जो कामरूप तीव्र अग्नि सो जिननै पापरूप फीचके दूर करनेवाले जे शांत भावरूप जल तिन करि उढाया है ॥ ३१ ॥ बहुरि जे संसारबनकों दग्ध करनेके बाहुक पापरहित सपकों करैहैं कैसे हैं ते साधु निराकरण किया है समस्त अंतरंग बहिरंग परिग्रह जिननै बहुरि अपने शरीरविधै भी बांछा रहित हैं ॥ ३२ ॥ बहुरि जे आदरसहित भेडारकी ज्यो दर्शन ज्ञान चारित्ररूप रत्नत्रयकों रक्षा करैहैं ते भव्यजीवनके बाधव जे साधु भगवान ते सत्पुरुषनि करि आराधिए है ॥ ३३ ॥

अर्चयद्गणरिधा पुंभ्यः पंचेति परमेष्ठिनः ।

नम्यंति तरसा विष्ठा विडलेभ्य इवाऽऽश्रवः ॥ ३४ ॥



अर्थ—या प्रकार पंच परमेष्ठीनकी पूजते जे पुरख तिनते विघ्न शीघ्र नाशकी प्राप्त होयहे, जैसे बिलावनते मूसा नसे तैसे ।

भावार्थ—पंच परमेष्ठीनके पूजनादिकते शुभपरिणाम बंधेहे ताने अंतरायकर्मका अनुभाग हीन होयहे, तत्र विघ्न न होयहे, ऐसा जानना ॥ ३४ ॥

पूजयंति न ये दीना मक्तितः परमेष्ठिनः ।

संपद्यते कुतस्तेषां शर्म निन्दितकर्मणाम् ॥ ३५ ॥

अर्थ—जे दीन अज्ञानी पुरख पंच परमेष्ठीनकी न पूजेहे तिन न कर्मानके मुख कहां ते होय, अपि तु नाही होय, ऐसा जानना ॥ ३५ ॥

इंद्राणां तीर्थकर्तृणां केशवानां रथांगिनाम् ।

संपदः सकलाः सद्यो जायंते जिनपूजया ॥ ३६ ॥

अर्थ—इंद्रनिकी तीर्थकरनिकी नारायणनिकी चक्रवर्तिनकी जे समस्त संपदाहे ते जिनपूजा करि शीघ्र होयहे ॥ ३६ ॥

मानवैर्मानवावासे त्रिदशस्त्रिदशालये ।

खेचरैः खेचरावासे पूज्यंते जिनपूजकाः ॥ ३७ ॥

अर्थ—जिनदेवकी पूजा करनेवाले पुरखहे ते गनुष्यलोकधिरे तो मनुष्यनिकरि पूजियेहे अर देवलोकधिरे देवनिकरि पूजियेहे अर विष्णुधरनिके लोकधिरे प्रियामनिकरि पूजियेहे ॥ ३७ ॥

मक्तामा मन्मथालापा निरिदहस्तनर्मदलाः ।

रमण्यो रमगीयांगा रमयंति जिनाचिनः ॥ ३८ ॥

अर्थ—जिनदेवकी पूजा करनेवाले पुरख को रमगीक जे श्री रम-बहे ते श्री कामगतिनहे अर मधुरहे शब्द जिनके अर कठोरहे दुष्कर्तव्य जिनके अर मुंदरहे अंग जिनके ऐसीहे ।

भावार्थ—जिनपूजाविधिं पुण्यवत्तु होयहै ताकरि देखादि पद विधिं अनेक स्त्री मिलैहै ॥ ३८ ॥

पवित्रं यस्मिरातंकं सिद्धानां पदमव्ययम् ।

दुष्प्राप्यं विदुषामर्घ्यं प्राप्यते तज्जिनार्चकैः ॥ ३९ ॥

अर्थ—जिनदेवके पूजाके जे पुरुष जिनकरि मुक्त जीवनका पद जो मोक्षमुख सो पाइये है किता है मुक्त जीवनिका पद रागादिमउदाहित है पवित्र हैं अरु सेसाररोगरहित है अरु अधिनाशी है अरु दुर्लभ है अरु ज्ञानीनिकरि वाढने योग्य है ऐसो पद जिनपूजाके पवि हैं ।

भावार्थ—जिनपूजाके परिणामके निमित्त पाप परंपराय रतत्रय आराध के मोक्ष होय है ॥ ३९ ॥

जिनस्तवं जिनस्नानं जिनपूजां जिनोत्सवम् ।

कुर्वाणो भक्तितो लक्ष्मीं लभते याचितां जनः ॥ ४० ॥

अर्थ—जिनदेवका स्नान जिनदेवका अभिषेक जिनदेवकी पूजा महा उत्सव इनकी भक्तिसे करता गेता मनुष्य है सो वांछित लक्ष्मीकी पावे है ॥ ४० ॥

इहां ताई पूजाका वर्णन किया । आगे शीडका वर्णन करे है,—

संनगरानिभीतस्य प्रतानां गुरुमाक्षिकम् ।

गृहीतानामदोषाणां रक्षणं शीलमुच्यते ॥ ४१ ॥

अर्थ—सेसार बेदीते भयभीत जो पुण्य ताके गुरुकी साति ग्रहण करे जे समस्त व्रत निनकी रक्षा करना सो शील कहिये है ॥ ४१ ॥

साक्षीकृता प्रतादाने कुर्वते परमेष्ठिनः ।

भूषा इव महादुःखं विषारे व्यभिचारिणः ॥ ४२ ॥

अर्थ—प्रताहणविधि साक्षी किये जे परमेष्ठी हैं ते विचारविधि व्यभिचार करता जो पुण्य ताकी रक्षणकी उद्योग महान दुःख करे है ।

भावार्थ—जैसे राजाके आगे किछु प्रविज्ञा करे अर ताके भूत जाय तो दंड पावे तैसे अहंतादिकनिके आगे छिनी जो अकरी ताके भेग होय तो महादुःख पावे । यद्यपि अहंतादिक वांतराग है उनके दुःख देनेका किछु प्रयोजन नाही तथापि अपनेही परिणामनिकी मलिनताके पाप वांछि नरकादि दुःख भोगे है, ऐसा जानना ॥ ४२ ॥

एकदा ददते दुःखं नरनायास्तिरस्कृताः ।

गुरवो न्यरहता दुःखं वितरन्ति भवे भवे ॥ ४३ ॥

वार्थ—तिरस्कार किये भय राजाके से तो एकताही दुःख देवे अर निराक्रम्य भये गुरवे से भय भय सिधे दुःख देवे ।

भावार्थ—गुरुनके अनादर करि महापापवंत होयके ताके जीत नाकादिघोरे महादुःख पावे ॥ ४३ ॥

मथयित्वा रिपं पौरं वरं प्राणा विगर्जिताः ।

न कदान्विद्धत मयं गृहीत्वा गूरिगाशिकम् ॥ ४४ ॥

वार्थ—मयानकरिपही माथ करि त्यागे भये प्राण है ते प्रभे अर आचार्यही माथि प्रणही प्रहय करि भेग करना श्रेय नाहीं ।

भावार्थ—मरण होय तो हो पन्हु ओकही भेग करना योग्य है ॥ ४४ ॥

वमनेर्षुर्गर्दीनः मरुदेवपि शोभते ।

शीलेन वृत्तयेन न पुनर्बन्धितो जनः ॥ ४५ ॥

वार्थ—मने कर्मनके आनन्दन की शीलनी पुन से बंधे करि मरुदेवके होय वरुनी, ए तो मरुदेवके शील पुन न सेवे ॥ ४५ ॥

मद्वं भूयं शीलं शीलं मदनमृतमम् ।

वाचेन वृत्तं शीलं शीलं श्वयम्भिनम् ॥ ४६ ॥

अर्थ—शील है सो स्वभावस्वरूप आभूषणहै अरु शील उत्तम मंडन है अरु शील है सो घणी घटसारीहै अरु शील है सो बड़ा रक्षा करना है शील ही जीवनिकी रक्षा फरैहै ॥ ४६ ॥

शीलेन रक्षितो जीवो न केनाऽप्यभिभूयते ।

महाहृदनिमप्रस्य किं करोति दवानलः ॥ ४७ ॥

अर्थ—जो पुरुषकी शील करि रक्षा कीजिएहै सो काहूकरि भी निमस्कारफौ प्राप्त नहीं होयहै जेमें बडे सरोवरभिषै दूष्या पुरुषका दवानल क्या करि सकैहै तैसे ॥ ४७ ॥

पांधवाः सुहृदः सर्वे निःशीलस्य परासुखाः ।

शत्रवोऽपि दुरागध्याः संमुखाः संति शीलिनः ॥ ४८ ॥

अर्थ—शत्रव जनहै से तथा मित्र हैं ते सर्व शीलरहित पुरुषके परान्मुखा होयहै अरु दुःख करि आगवे जाय ऐसे शत्रुभी शीलवान पुरुषके महायक होयहै ॥ ४८ ॥

शीलनो न परो बंधुः शीलतो न परः सुहृत् ।

शीलतो न परा माता शीलतो न परः पिता ॥ ४९ ॥

अर्थ—शीलमिषाय और बंधु नाही, शीलतै सिषाय और मित्र नाही, शीलतै सिषाय और माता नाही, शीलतै सिषाय और पिता नाही ।

भावार्थ—जीवका हितकारी शीलसिषाय और नाही ॥ ४९ ॥

उपकारो न शीलस्य कर्तुमन्येन शक्यते ।

कल्पद्रुमफलं दत्ते परः कुत्र महीरुहः ॥ ५० ॥

१ वरु श्लोक मूलप्रतिभे ४७ के संबर परदे और वचनविहारी प्रतिभे ४९ के संबर परदे ।

अर्थ—शीलसमान उपकार करनेकी और समर्थ न हुआएँहै जैसे कल्पवृक्ष फल देयहै सो और कहा वृक्ष फल कहा देयहै, कट्टी भी न देयहै ॥ ५० ॥

तापेऽपि सुखितः शीली शीलमोची पुनर्जनः ।

चित्रं जनांगुलिच्छायो स्थितोऽपि पदितप्यते ॥ ५१ ॥

अर्थ—आचार्य कहें हैं बड़ा आश्चर्य है, देखो—शीलवान जीरहै सो ताप कहिए घामविषं भी मुखीहै बहुरि शीलका त्यागनेवालाहै सो मनुष्यनिकी अंगुलीकी छायाविषं तिष्ठयाभी ततायमान होयहै ॥ ५१ ॥

कदाचन न केनापि सुशीलः परिभूयते ।

न तिरस्त्रियते यो हि श्लाघ्यते तस्य जीवितम् ॥ ५२ ॥

अर्थ—जो मुशील पुरुष कोऊ करि भी चलायमान न कीजिएहै अर तिरस्कार न कीजिएहै ताका जीवना सराहिएहै ॥ ५२ ॥

भंगस्थानपरित्यागी व्रतं पालयतेऽमलम् ।

तस्करैर्लुब्धते कुत्र दूरतोऽपि पलायितः ॥ ५३ ॥

अर्थ—भंगस्थान कहिये जिस स्थानमें शील भंग होय ऐसा स्थानका त्यागनेवाला पुरुष है सो निर्मल व्रतका पालेहै, जैसे दूरीति भाग्या जो पुरुष है सो चोचन करि कहा दृष्टिएहै, अपि तु नारी दृष्टिएहै ।

भावार्थ—जैसे चौरनिकी दूरीति त्यागे तांपुरुष दृष्टे नारी तैसे व्रतभंगके कारण स्थानादिक त्यागे ताका व्रत निर्मल पलेहै ॥ ५३ ॥

आमें शीलभंगके कारण जे घृतादिक निनका निषेध करेहै, तहां प्रथम घृता निषेध करेहै,—

नानानर्थकरं घृतं मौक्तव्यं शीलशालिना ।

शीलं हि नाद्यते तेन गगलेनेन जीवितम् ॥ ५४ ॥

अर्थ—शीटपरि शोभित जो पुण्य है ताकरि अनेक अनेक अन-  
र्थनिका पत्रनेवाला जो ज्ञा है सो त्यागना योग्य है, जाने निधयते-  
ती ताकरि शीट नाशिए है जैसे विप्रभक्षण करि जीवन नाशिए है ॥५५॥

विषादः कल्हो राटिः कोपो मानः धर्मो ध्रमः ।

पेशून्यं मरमाः शोकः सर्वे सुतय पांधवाः ॥ ५५ ॥

अर्थ—विषाद कल्ह गद घोष मान वेद गेहाय सुतानी मग-  
रभाष शोक, ये सर्वे सुतयके संभुजन है ।

भावार्थ—जहां सुवा होय है तहां पृथोक सर्व सुभाव अक्षय  
होय है ॥ ५५ ॥

दुःस्थानि तेन जन्पंते जलानीयागृवादिना ।

प्रतानि तेन धूयंते रजामीश पारपुना ॥ ५६ ॥

अर्थ—जिन ज्ञा करि जैसे वादने करि जल उपजाये है, तैसे दुःस्थ  
उपजाए है अर जैसे पवनकरि रज उदाए है तैसे ज्ञा करि मन  
उदाए है ।

भावार्थ—ज्ञा करि माना दुःस्थ होय है अर कर्मनिकर होय भी  
न रहे है ॥ ५६ ॥

न भिपस्तत्र तिष्ठते एतं यत्र प्रवर्तते ।

न वृथज्ञानस्तत्र विद्यते यत्र पारजनः ॥ ५७ ॥

अर्थ—जैसे जहां अति होय है तहां कर्मकी कति उपय न होय  
है तैसे जहां ज्ञा प्रवते है तहां कर्मकी न विद्ये है ॥ ५७ ॥

मातुरपुत्ररीपं सो हरते जनदूजितम् ।

अकर्तव्यं परं तस्य कुर्वनः कीदृशीं वया ॥ ५८ ॥

अर्थ—जो सुदा विन्देक्षण पुण्य को लोकेने कर्म के कर्मकर  
एकरा ताको भी हर लेव है निमित्त और अकार्य करनेके है सो कर्म ।

भावार्थ—कोऊ भी अकार्य करनेमें जुवा वालकै लज्जा नहीं, ऐसा जानना ॥ ५८ ॥

संपदं सकलां हित्वा स गृह्णाति महाऽऽपदम् ।  
स्वकुलं मलिनीकृत्य वितनोति च दुर्यशः ॥ ५९ ॥

अर्थ—सो जुवा खेलनेवाला पुरुष समस्त संपदाकी त्याग करि महा आपदाकी ग्रहण करि है, बहुरि अपने कुलकी मलिन करकै सोया पद विस्तारि है ॥ ५९ ॥

नारकैरपरैः शुद्धैर्नारकस्येव मस्तके ।  
निखन्य कितवस्तस्य दुर्ज्वालो ज्वालयतेऽनलः ॥ ६० ॥

अर्थ—जैसै अन्य क्रोधायमान भए जे नारकी तिन करि नारकीके मस्तकविषै थापि करि दुःखकारी है ज्वाला जाकी ऐसा अग्नि जलाइपै है तैसै जुवारीनकरि जुवारीके मिर परि अग्नि जलाइपै है ॥ ६० ॥

कर्कशं दुःश्रवं वाक्यं जल्पन्तो वंचिताः परे ।  
कुर्वन्ति घृतकारम्य कर्णनामादिकर्त्तनम् ॥ ६१ ॥

अर्थ—जिनका धन टिगलिया ऐमे जे अन्य घृतकारहै ते बटोर अर फाननिकी दुःखदाई बचन बोधते मते जुवा खेलनेवाले के कान नामिका आदि अंगनिकी काँटे ॥ ६१ ॥

विज्ञायेति महादोषं घृतं दीव्यन्ति नोत्तमाः ।  
जानानाः पावकोष्णन्वं प्रविशंमि कथं युधाः ॥ ६२ ॥

अर्थ—या प्रकार ज्वाकी महादोषरूप जानकरि उत्तम पुरुष नहीं भेटै है जैसै अद्रिका उष्णापना जानते मते पहिल जनहै ते अद्रिके प्रवेश बँधै करै, अरि तु नहीं करै है ॥ ६२ ॥

अग्रे बेशका निदेश करै है,—

वितनोति दृशो रागं या वात्येव रजोमयी ।

विध्वंसयति या लोकं शर्वरीव तमोमयी ॥ ६३ ॥

या स्वीकरोति सर्वस्वं चोरीवार्धपरायणा ।

छलेन याति गृह्णाति शाकिनीवामिप्रिया ॥ ६४ ॥

वाह्निश्वालेव या स्पृष्टा संतापयति सर्वतः ।

शुर्नीव कुरुते चाटु दानतो याऽति कम्बला ॥ ६५ ॥

विमोहयति या चित्तं मदिरेव निपेविता ।

सा हेया दूरतो वेश्या शीटालंकारधारिणा ॥ ६६ ॥

अर्थ—जो वेश्या नेत्रनिविर्षे जैसे भूलिसहित पवन राग विस्तार  
सैमें राग विस्तार है बहुरि या लोकका जैसे अधकारमयी राग नाश  
करेहे तैसे नाश करेहे ॥ ६३ ॥ बहुरि जो वेश्या धनमें तपर चोरी  
करनेवालाकी ज्यों सर्व धनको गृहण करेहे बहुरि जो छलकरि मांस दे  
प्रिय जाको ऐसी शाकिनिकी ज्यों मनुष्यको अतिशयकरि बंगीकार  
करेहे ॥ ६४ ॥ बहुरि जो वेश्या अग्निकी ज्वाला समान स्पर्शी भई  
सर्व तरफतै संताप उपजावेहे, बहुरि धनके देवतै जो अत्यंत पापिनी  
कुत्तीकी ज्यों खुशामद विस्तार है ॥ ६५ ॥ बहुरि जो मदिगकी ज्यों  
सेई भई चित्तको मोह उपजावेहे सो वेश्या शीटलरूप आभूषणका धारी  
जो पुरुष साकरि दूरतै त्यागनी योग्यहे ॥ ६६ ॥

सत्यं शौचं शमं शीलं संयमं नियमं यमम् ।

प्रविशन्ति बहिर्मुक्ता विटाः पण्यांगनागृहे ॥ ६७ ॥

अर्थ—व्यभिचारी पुरुषहैं ते सत्य शौच शम शील संयम नियम  
यम इत्यादि सर्व धर्मके अंगनिकों बाहर छोडिकरि वेश्याके घरमें प्रवेश  
करेहे ।

भावार्थ—वेश्याके घरमें प्रवेश करतेही सर्व धर्मका नाश होयहे ॥ ६७ ॥



तपो व्रतं यशो विद्या कुलीनत्वं दमो दया ।

छिद्यंते वेश्याया सद्यः कुठार्येवाऽखिला लताः ॥ ६८ ॥

अर्थ—जैसे कुल्हाड़ी करि सर्व उता शीघ्र छेदिणै तैसे वेश्याकरि तप व्रत यश विद्या कुलीनपना इद्रियनिका दमन दया ये सर्व शीघ्र छेदियेहैं ॥ ६८ ॥

जननी जनको आता तनयस्तनया धमा ।

न संति बल्लभास्तस्य दारिका यस्य बल्लभा ॥ ६९ ॥

अर्थ—जा पुरुषके वेश्या प्यारीहै ता पुरुषके माता पिता भाई पुत्र पुत्री बहन ये प्यारे नाही ॥ ६९ ॥

न तस्मै रोचते सेव्यं गुरुणां वचनं हितम् ।

सशर्करमिव क्षीरं मित्ताकुलितचेतसे ॥ ७० ॥

अर्थ—वेश्या सेवने वाले पुरुषको सेवने योग्य जो गुरुनका हितकर वचन सो नहीं रुचै जैसे पित्तकरि आकुलितहै चित्त जाका ऐसा जो पुरुष ताके अर्थ मिथीमहित दूध नाही रुचै तैसे ।

भावार्थ—वेश्यासक्तको गुरुवचन नहीं मुहावेहै ॥ ७० ॥

वेश्यावक्रगतां निघां लालां पिबति योऽधमः ।

शुचित्वं मन्यते म्यम्य काऽपगतो रिडपना ॥ ७१ ॥

अर्थ—जो अधम पुरुष वेश्याके मुख रिषे प्राप्त जो गिरनीक दाह ताहि पीवेहै अथ आपके शुचिपना मानेहै या मिश्राप और बहा रिडवनाहै ॥ ७१ ॥

यो वेश्यावदनं निग्ने मूढो मया दिवागितम् ।

मद्यमामपरित्यागव्रतं तस्य कृतघ्ननम् ॥ ७२ ॥

अर्थ—जो मूढ़ मदिगकरि वागिन जो वेश्याका मुख ताहि पीवेहै ताके मदिग मयके त्यागकरि व्रत करिका ॥ ७२ ॥

वदनं जपनं यस्या नीचलोकमलाविलम् ।

गणिकां सेवमानस्य तां शौचं वद कीदृशम् ॥ ७३ ॥

अर्थ—जा वेश्याका मुख अर जघन नीचलोकके मलकरि मलिनहै  
सा गणिकाकी सेवता जो पुण्य ताके पवित्रपना पैना, कोई प्रकार पवि-  
त्रपना नाहीं ॥ ७३ ॥

या परं हृदये घचे परेण सह भाषते ।

परं निषेवते लुब्धा परमादयते दृशा ॥ ७४ ॥

अर्थ—या वेश्या मनमें अन्य पुरुषको धारै है अर औरके साथ बोलेहै  
अर लोभनी औरको सेवेहै अर दृष्टिकरि औरको बुलावे है ॥ ७४ ॥

सरलोऽपि सदक्षोऽपि कुलीनोऽपि महानपि ।

ययेशुरिव निःसारः सुपर्वापि विमुच्यते ॥ ७५ ॥

अर्थ—जा वेश्या करि भाषाचारहित सरल भी अर चतुर भी अर  
कुलीन भी अर बडा भी अर सुपर्वा कहिये मुदर अंगसहित भी निःसार  
कहिये द्रव्यरहित होय सो साठे की र्थों त्यागिए है,

भावार्थ—जैसे सूधा भी भला भी अर कुलीन कहिये पृथ्वीविषै लीन  
भी बडा भी अर सुपर्वा कहिये भली है मुटोर जाकी ऐसा भी तांटा है सो  
सागरहित त्यागिए है तैसे वेश्याकरि निःसार मनुष्य त्यागिए है ॥७५॥

न सा सेव्या त्रिधा वेश्या शीलरत्नं यियामता ।

जानानो न हि हिंस्रत्वं व्याघ्रीं स्पृशति फथन ॥ ७६ ॥

अर्थ—शील रत्नकी रक्षा करता जो पुण्य ताकरि सो वेश्या मन  
बचन काय धरि मेवनी योग्य नाहीं जाते हिंसकपनेको जानना मंता  
कोई भी पुण्य है सो व्याघ्रीको नाहीं स्पर्शै है ॥ ७६ ॥

आमै परधर्मिबनका निषेध करै है;—

ये मारयन्ति निस्त्रिंशो ये मार्यन्ते च विह्वलाः ।

तेषांपरस्परं नास्ति विशेषस्तत्क्षणं मिना ॥ ९६ ॥

अर्थ—जे निर्दयी मारिंहे अर जे विह्वल जीव मारिण्हे तिनके परस्पर ता समयविना विशेष नाही ।

भाषार्थ—वर्तमान समयने ती मारनेवाला अर जिनकी मारिंहे ते जीव हीनाधिकहे बहुरि आगे नरकादिकमें परस्पर मारिंहे तहां हीनाधिक नाही ॥ ९६ ॥

स्वमांसं परमांसये पोषयन्ति दुराशयाः ।

स्वमांसमेव खाद्यन्ते हृष्टनो नारकैरिमे ॥ ७७ ॥

अर्थ—जो दुष्टचित परजीवनके मांसनकरि अपना मांस पोषिंहे सो वे हृष्टने अपने मांसहीको नारकीन करि खायिंहे ॥ ७७ ॥

म्वल्यायुर्विकृत्यो गोगी विचक्षुर्वधिः सलः ।

वामनः पामनः पंटो जायते स भवे भवे ॥ ९८ ॥

अर्थ—अन्य आयु अगणिकरु गोगी नेसहित वरुण दूष्ट वामन कुटुंबी नपुंगक मां मांसभक्षी भव भवसिंहे होयते ॥ ९८ ॥

दुःखानि यानि दृश्यन्ते दुःखानि जगत्त्रये ।

मर्वाणि तानि लभ्यन्ते प्राणिमर्दनहारिणा ॥ ९९ ॥

अर्थ—जीन लेकसिंहे जे दुःख दृष्ट देगिए हे ते सब दुःख प्रार्थनकी शिवा करनेवाडे करि पाएय हे ॥ ९९ ॥

इति दोषवर्ती मया मृगया दिनहाश्रिणा ।

नानानर्थक्यं न्याय्या मधुर्गीर रिमीपणा ॥ १०० ॥

अर्थ—या प्रव म दंगर मदिन ननिने दिनहा वंशक की पुण्य ना करे अनेक अनर्थनकी करनकी मधुगी मयान मयकी के निकरु को न्यायना संभव हे ॥ १०० ॥

भोजने कुर्यता कार्यं मौनं शीलवना गदा ।

संतोषित्वमिवानिद्यं भक्ष्यशुद्धिविधापिना ॥ १०१ ॥

अर्थ—जैसँ भिक्षा शुद्धिका आचरण करनेवाला जो मुनि ताकति अनिद्य संतोषीपना करणा योग्य है तेरी भोजन करना जो शीलवान सत्युक्त ताकति मौन करना योग्य है ॥ १०१ ॥

सर्वदा दृश्यते जोषं भोजने तु विशेषतः ।

रसायनं गदा श्रेष्ठं सरीगित्त्वं पुनर्न किम् ॥ १०२ ॥

अर्थ—मौन सदाकाय सराहिए है अरु भोजनमें तो विशेष गरा हिए है जैसँ औषध सदा भली है वही सरीगोपने विधि वैसी भली न होय ॥ १०२ ॥

संतोषो भाष्यते तेन वैराग्यं तेन दृश्यते ।

संयमः पोष्यते तेन मौनं येन विधीयते ॥ १०३ ॥

अर्थ—जाकरि मौन करिए ताकति संयम भासत है ताकति वैराग्य देखिए ताकति संयम पोषिए है ॥ १०३ ॥

वाचो व्यापारतो दोषा ये भवन्ति दुरत्तमाः ।

ने सर्वेऽपि निरापते मौनमतविधापिना ॥ १०४ ॥

अर्थ—वचनके व्यापारते अ दुःखी हते जाय तेने दोष है ते सर्वेही मौनमतके धारक पुनर कति निवारिए है ॥ १०४ ॥

सामगोऽपि जनो येन प्राप्यते सति संयमम् ।

मौनम् तत्र शक्यं ते तेन र्णसितुं मुखाः ॥ १०५ ॥

अर्थ—जिम मौन मन करि मुहस्यते वतने सदाके प्रापते किरी तिस मौनके मुन कोनकी वतने वातेके सत्ये हजिरे अदि तु गती हजिरे है ॥ १०५ ॥

पोषेण विशता रोधः कल्मपस्य विदीयते ।

बलिष्ठेन महिष्ठेन सलिलस्येव सेतुना ॥ १०६ ॥

अर्थ—जैसे बलवान अरु बडा जो सेतु कहिए पाउ ताकरि बडका रोध करिए तैसे प्रवेश करता जो पाप ताका रोध मौनकरि कीजिए ॥ १०६ ॥

हुंकारांगुलिखात्कारभ्रूमूर्द्धचलनादिभिः ।

मौनं विदधता संज्ञा विघातव्या न गृह्ये ॥ १०७ ॥

अर्थ—मौनको धारता जो पुण्य ताकरि हुंकार करना अंगुली उठानना शंकार करना भ्रुकुटी खटारना मस्तक घटारना इत्यादिकी गृही जो अनिचाह ताके अर्थ संज्ञा करना योग्य नाही ॥ १०७ ॥

सार्धकालिकमन्यस्य मौनं देया विधीयते ।

मन्त्रितः शक्तितो मर्त्यर्धैवभ्रमणमीकभिः ॥ १०८ ॥

अर्थ—संगारभ्रमणसे भयभीत जे भयजीव निगरि मन्त्रिते शक्तिमारु एक सा सार्धकालिक कहिए मरणपर्यंत दूजा अगारंकारिक कहिए कालही मर्त्यारूप तेमे होय प्रकार मौन कीजिए ॥ १०८ ॥

मर्त्येन मन्त्रितः कृत्वा मौनं निपतकालिकम् ।

त्रिनेत्रमने देया संटिका ममहोत्तरम् ॥ १०९ ॥

अर्थ—मर्त्यजीव कहि मन्त्रिते कालकी मर्त्यारूप मौन कहिए त्रिनेत्रके मन्त्रितसे महोत्तरमहित जेमे होय तेमे धरिता देनी कोपरी ।

अर्थ—मौनरूप पूर्ण होय सब उगावन की लगे त्रिनेत्रके अर्थ संज्ञा बडावे, वेसः मानना ॥ १०९ ॥

नसार्धकालिकं मौनं निराह्वयनिकृतः ।

उद्योतनं वा शत्रुः द्विचनार्थि विधीयते ॥ ११० ॥

अर्थ—सार्धकालिक पाहिए यावज्जीव मौनविधे निर्वाह विना (निर्वा-  
हकें सिवाय ) पडितनिकरि किछु भी उद्योतन न करिए है ॥ ११० ॥

आवश्यकें मलक्षेपे पापकार्ये विशेषतः ।

मौनी न पीड्यते पापः सन्नद्धः सायकैरिव ॥ १११ ॥

अर्थ—सामाधिकारि आवश्यक क्रिया विधे मलके क्षेपण विधे  
बहुरि पापकार्य जो मैधुनसेवन आदि ता विधे मौनका धारी जीवहै सो  
पापकरि न पीडिएहै जैसे बकतर पहरे मोह्ला है सो वाणनिकरि न  
पीट्या जायहै तैसे मौनी पापनिकरि न बंधेहै ॥ १११ ॥

कोपादयो न संज्ञेशा मौनव्रतफलार्थिना ।

पुरः पश्चाच्च कर्त्तव्याः सूघने तद्विषैः कृतैः ॥ ११२ ॥

अर्थ—मौनव्रतके फलका याठक जो पुरुष ताकरि आगे वापीछे  
प्रोधादिकराय करणा योग्य नाही, जातें करे जे प्रोधादिकराय तिन-  
करि मौनव्रत नारा कीजिएहै ।

भावार्थ—मौनके पहले वा पीछे कयाय न करना, कयायतें मौन-  
व्रत निष्फल होयहै ॥ ११२ ॥

वाचंयमः पवित्राणां गुणानां सुखकारिणाम् ।

सर्वेषां जायते स्थानं मणीनामिव नीरधिः ॥ ११३ ॥

अर्थ—वचनका संयम है सो पवित्र अर सुखकारी जे सर्वगुण  
तिनका स्थान होयहै जैसे रत्ननिरता स्थान समुद्र होयहै तैसे ।

भावार्थ—वचनका संयमहै सो सर्व गुणनिका स्थानहै, ऐसा  
जानना ॥ ११३ ॥

वाणी मनोरमा तस्य शास्त्रसंदर्भगर्भिता ।

आदेया जायते येन क्रियते मौनमुज्ज्वलम् ॥ ११४ ॥

अर्थ—जा पुरुष करि निर्मल मीन करियेहैं ताकी शास्त्ररचना करि  
युक्त मनसों प्यारी आदर करनेयोग्य वाणी होयहै ॥ ११४ ॥

पदानि यानि विद्यन्ते बंदनीयानि कोरिर्दः ।

सर्वाणि तानि लभ्यन्ते प्राणिना मौनकारिणा ॥ ११५ ॥

अर्थ—जे पंडितगण करि बंदनीक पद हैं ते सब पद मीन बान-  
काय जो जीव ताकरि पाइए है ॥ ११५ ॥

निर्मलं केवलज्ञानं लोकलोकान्लोकनम् ।

लीलाया लभ्यते येन किं तेनान्यत्र काशिमम् ॥ ११६ ॥

अर्थ—लोकलोकलोक देगनहाय तेगा निर्मल केवलज्ञान काशी  
लीलाया करि पाइए ताकरि और काशिम वस्तु कहा न पाइए, की  
तु पाइएडी है ॥ ११६ ॥

तेन मौनव्रतका वर्णन किया, आगे उपवासका वर्णन करे है,—

गर्वा निवार्यते येन धर्मो येन विद्वर्षते ।

वार्य निद्वन्द्यते येन संयमो येन जन्यो ॥ ११७ ॥

अनेकभयभयद्वकर्मकाननपारकः ।

उपवासः स कर्मयोगो नीमार्गीभुवभेदगा ॥ ११८ ॥

अर्थ—गर्वा निवारण करे आ अने बड़ाइए है आ धर्म  
वर्षते है आ नानन भाव उपवास है ॥ ११७ ॥ मो उपवास ही  
करि न भय है विद्वं काय पद पुन्यकर्म काया योग्य है, कैसा है  
उपवास अने न भयि करे अ वन मो ही भय वन ताकी अर्थ अने  
न है ॥ ११८ ॥

उपेन्द्रवर्षि सर्वाणि विद्वानि शक्यते ।

वर्षेति यत्र स शक्येत्सर्वाणो विद्वाने ॥ ११९ ॥

अर्थ—जा विधि सर्व स्पर्शनादि इन्द्रिय हैं ते अपना अपना कार्य जो स्पर्शादि विषयनिमित्त प्रवर्तना लाने गति भए सने आत्माके निकट प्राप्त होयकरि कहिए सो उपवास कहिए ॥ ११९ ॥

म मार्गकालिको जैनरेकोऽप्योऽप्यार्थकालिकः ।

द्विविधः कथ्यते दत्तो हृषीकाश्रनियंत्रणे ॥ १२० ॥

अर्थ—सो उपवास एकही मार्गकालिक कहिए यावत्कीच धारणा दूहा अस्वार्थकालिक कहि० यावत्के प्रमाणात्म्य, ऐसे हाथ प्रपन्न जैनीन कीर कहिए हे, केमा हे उपवास इन्द्रियत्म्य बौद्धनके गोवर्तने समर्थ हे ॥ १२० ॥

तत्राप्यो भियमाणस्य वर्तमानस्य चापरः ।

कालानुसारतः कार्यं क्रियमाणं महापत्यम् ॥ १२१ ॥

अर्थ—तहां आदिवा मार्गकालिक उपवास हे सो जाका कारण निकट होय संन्यास धी लार्थ हाथ हे वृत्ति दूहा अस्वार्थकालिक उपवास हे सो वर्तमान पुण्यके भवदशा आदि पूर्वक कारिनि महापत्य होय हे, जाने वाचके अनुसारते किया भवा कार्य हे सा महापत्य होय हे ॥ १२१ ॥

वर्तमानो मतश्रेया म चर्यो मध्यमोऽधमः ।

कर्णव्यः कर्मनाशाय निजशक्त्यनुसृष्टकः ॥ १२२ ॥

अर्थ—सो वर्तमान कहिए वाचक निदमत्त्व उपवास हे सो उलम मध्यम अधम ऐसे तीन प्रकार कथा हे सो अपनी शक्तिसे न विपावनेका हे सो जे पुण्य भित करि कर्मके नाशके अदि कथना योग्य हे ।

भावार्थ—एतन्निजात् उपवास कर्मकी निर्भेदाहंके अर्थ कथना योग्य हे, क्वचित् क्वचि दूहादिबके अर्थ न कथना ऐसा अविद्याद हे ॥ १२२ ॥



चतुर्णां तत्र भुक्तीनां त्यागे त्र्यश्वत्विधः ।

उपवासः सयान्नीयस्त्रिविधो मध्यमो मतः ॥ १२३ ॥

भुक्तिद्वयपरित्यागे त्रिविधो गदितोऽधमः ।

उपवासस्त्रिधाप्येषः शक्तित्रितयसूचकः ॥ १२४ ॥

अर्थ—तहाँ चार प्रकार आहारका त्याग करिए, सो चतुर्विध नामा उत्तम उपवास है, बहुरि पानी सहित है सो त्रिविध नामा मध्यम उपवास कइया है ॥ १२३ ॥ बहुरि दोय बेटा प्रकार भोजनका त्याग होतसतै त्रिविध नामा अधम उपवास है, यह उत्तम मध्यम जइय तीनी प्रकारहोका उपवास उत्तम मध्यम जइय तीनी शक्तिका सूचक है, जैसी जा पुरुषमें शक्ति होय तैसाही उपवास धारै ॥ १२४ ॥

भावार्थ—धारणे पारणे एकवार भोजन करै अरु चार प्रकार आहारका त्याग करै सो चतुर्विध नामा उत्तम उपवास कहिए है, अरु धारणे पारणे एक भुक्ति करै अरु उपवासमें जइ लेंय सो मध्यम त्रिविधनामा उपवास है, अरु धारणे पारणे अनेक बार गाय अरु उपवासमें पानी भी लेंय सो अधम त्रिविधनामा उपवास कहिए, एतै एकदिनमें दोय भोजनकी बेटा होय है तिन दोऊ बेटामें भोजन त्याग्या तानें दोऊ भोजनका त्याग क्रिया, ऐसा जानना ॥ १२३-१२४ ॥

आर्य उपवास करनेका विधान कहेतै:—

प्रहरद्वितये भुक्त्वा ममेत्याचार्यमसिधिम् ।

वंदित्वा भक्तितः कृत्वा कापोन्मगं यथाक्रमम् ॥ १२५ ॥

पंचांगप्रगतिं कृत्वा गृहीत्वा गृहिसारथतः ।

उपवासं पुनः कृत्वा कापोन्मगं विश्रानतः ॥ १२६ ॥

आचार्यं श्रवतः स्तुत्वा वंदित्वा गगनायकम् ।

दिनद्वयं ततो मेयं व्याध्यापामन्यतगा ॥ १२७ ॥

विधाय माक्षिणं गृहं गृहमाणः पटीपमा ।

संपद्यतेतगमेप प्यवहार इव स्थिरः ॥ १२८ ॥

गर्वभोगोपमोगानां कर्णव्या विगतिग्रिधा ।

शयितव्यं मदीष्टुष्टे प्रागुक्ते कृतसंस्तरे ॥ १२९ ॥

विहाय गर्वमारंभमसंपमविवर्द्धकम् ।

विरक्तपेतगा स्थेयं यतिनेत्र पटीपमा ॥ १३० ॥

तृतीयं वागरे कृत्वा गर्वमावश्यकादिकम् ।

भोजयित्वाऽतिथिं भक्त्या भोक्तव्यं गृहमेधिना ॥ १३१ ॥

उपवागः कृतोज्जेन विधानेन विगणिना ।

दिनम्येकोत्रपि रेपांसि माटीव दिवाकरः ॥ १३२ ॥

अर्थ—धापके दिन दोप प्रारंभ रिपै भांगन करके, आध्यायिक  
निकट आयकरि भक्तिसे बैठना करके, आगम अनुसार बापों सहे करके,  
॥ १२५ ॥ गृहि पंचम नमाकार करके आध्यायिके, बधनी उपवा-  
सत्रो मरण करके, देरि विधानो बापोंसंगे करके, ॥ १२६ ॥ आधा-  
यिको स्तवनो स्तुति करके, अर गणपत देवकी धरि के लखे अनंतर  
दोप दिन करिए सो गृह प्रारंभ स्वाध्यायमे आगम ओ मम तावधि  
व्यतीत करणा योग्य है,

भाषार्थ—सो गृह प्रारंभ स्वाध्यायमे लीन रहे ॥ १२७ ॥ सुदिकान  
तावधि आध्यायिको माक्षिकि मद्य ओ उपवास भो कतिपयबदे  
निधल होवै अने व्यवहारबापे बहेजके, सादीरुन विद्या स्थिर होवै  
तेसे गुरुको सादी धारवा उपवास निभन होवै ॥ १२८ ॥ गृहि  
उपवासमे सर्व भोग उपभोगनिकर त्याग मन बधन बाध की कल-  
योग्य है, अर कदा है सुनादिकका संग अर तेसे प्रथम सुद-  
तन पर सोचना योग्य है ॥ १२९ ॥ अमदमद्य बहुरजेकन ओ रुं

आरंभ ताहि त्यागिकै मुनिकी ज्यो विरक्तचित्त होय कै बुद्धिबान करि  
तिष्ठना योग्यहै ॥ १३० ॥ बहुरि तीसरे दिन मर्ब आवश्यक क्रिया  
करकै अतिथिकी भक्ति करि भोजन करायकै श्रावककरि भोजन फरमा  
योग्य है ॥ १३१ ॥ इस विधान करि बिरागी पुर्य करि किरा जो  
उपवास सो एकरी जैसे सूर्य अंधकारसौ हरे तैसे पापसौ हरै है  
॥ १३२ ॥

उपवासं विना शक्तो न परः स्मरदने ।

सिंहेनेव विदायते मिथुरा मदमंधराः ॥ १३३ ॥

अर्थ—जैसे मदोन्मत्त हस्ती हैं ते सिंहरि विदारिण हैं तैसे उप-  
वासविना कामके नाश करने विधि और समर्थ नाही ॥ १३३ ॥

उपवासेन संतप्ते क्षिप्रं नश्यति पातकम् ।

ग्रीष्माकाश्यामिने तोयं क्रियन्तिष्ठति भूतले ॥ १३४ ॥

अर्थ—उपवासकरि तनायमान भया जो पुर्य ता विधि पाप शी-  
घ्र ही नाशकी प्राप्त होय है जैसे ग्रीष्मके मूय करि व्यास जो पृथ्वी-  
ता विधि जल कितना निष्ठे शीघ्र ही गूगि जाय तैसे उपवासने पाप  
नशि जाय है ॥ १३४ ॥

नित्यो नैमित्तिकश्चेति द्वेषात्सो कथितो युधः ।

प्रोषधे म मतो नित्यो बहुधात्स्यो व्यवस्थितः ॥ १३५ ॥

अर्थ—सो यह उपवास पड़ितनिकरि नित्य अर नैमित्तिक दोनो  
दोय प्रकार कदाहे सो प्रोषध जो अष्टमी धनुर्दशीपरं ता विधि तो  
नित्य कदा है अर अन्य जो नैमित्तिक सो बहुत प्रकार व्यवस्थित  
है ॥ १३५ ॥

उपवामा विधीयन्ते ये पंगम्यादिगोचराः ।

उक्ता नैमित्तिकाः सर्वे ते कर्मश्रमणधमाः ॥ १३६ ॥

अर्थ—जो पंचमी आदि विषे उपवास करिए हैं ते सर्व कर्मके नाश करनेमें समर्थ नैमित्तिक उपवास कहे हैं ॥ १३६ ॥

गुरुतरकर्मजालसलिलं भववृक्षकरं

बहुपरिणाममेघनिबहप्रभवं प्रसभम् ।

क्षुपयति सर्वमुग्रमुपवामपयोऽपति—

विरचितसंश्रुतेर्निस्सिलदेहितडागततेः ॥ १३७ ॥

अर्थ—रग्या है सबर जानै ऐसा जो पुरुष ताके उपवासरती जो उम मूर्य है सो अनिबडा जो ज्ञानावरणादि जालरूप जल ताहि बलान्कारत क्षुपै सोखै, कैसा है कर्मजालरूप जल संसार वृक्षका करनेवाटा है अर नानाप्रकार रागादि भावरूप मेघनिके समूहते उप-  
-ग्रहै बहुरि समस्त संभारी जीवरूप सरोवरविषै भरपाई ।

भावार्थ—संवर सहित उपवामते कर्मनिकी निर्जग अपिक होयै, ऐसा जानना ॥ १३७ ॥

जनयति यद्विधुय विपदं रभसोपचितिं

पटयति संपदं त्रिदशमानववर्गमताम् ।

विधिविहितस्य तस्य पुरुषः श्रुतमेवनिनो

वदति फलं न कोऽप्यनशनस्य परो भुवने ॥१३८॥

अर्थ—जो उपवास मंचयन्त भई जो विपदा ताहि नाश करि बलान्कारत देवमनुष्यके समूहकरि मानित सपडाको रचै, ऐसा विधि-  
-पूर्वक करषा जो उपवास ताके फलको केवली कौहे और पुरुष लोकविषै न करै ॥ १३८ ॥

रचयति यस्त्रिधा प्रथमिदं महितं महिते—

रमितगतिश्चतुर्विधमनन्यमनाः पुरुषः ।

मात्रमर्चयित्वा कनिलमो निदन्त्य पत्नं

निगदरमैति शास्तामसानाममममलम् ॥२३॥

अर्थ— जो पुत्र पद प्राप्त करके प्रकृत मन वचन काय करि ।  
 सो अनेक जन्म करि भोग्य किया जो शासन वाद वादि नाग  
 समस्त कर्ममण्डित भावना जो निगद वादि प्राप्त योग है, के  
 पुत्रनीक पुत्रनिकरि पुत्रनीकदे, पदरि केसादे यह पुत्र अकार है ।  
 जाका अरु नादी है अविद्या अन्विते मन जाका, देगा है ॥२३॥

बोला ।

मन वच काय विशुद्धकरि जो धर्म अत शुद्ध ।

नाजि कर्ममल, मोक्षपद पारि मो अरिहृद् ॥

इत्युपामकाचारे द्वादशः परिच्छेदः ।

येमं श्री भक्तिमति भाष्यार्थविरचित भाष्यकाचारविरिं  
 द्वादशमां परिच्छेद् समाप्त भया ।

## त्रयोदश परिच्छेद ।

शशांकामलमम्यक्तो व्रताभरणभूषितः ।

शीलरत्नमिवास्त्रानिः पवित्रगुणमागमः ॥ १ ॥

अर्थ—शशांकादिमलरहित चंद्रमासमान निर्मलहै सन्यक्त जाका अर व्रतरूप आभूषणकारी शोभित अर शीलरत्नके उपजायवेकीं गानिममान अर निर्मल गुणनिका समुद्र पेसाहै ॥ १ ॥

श्रुभूतमनोबुद्धिर्गुरुशुभूषणोद्यतः ।

जिनप्रवचनाभिज्ञः धावकः मत्तपोत्तमः ॥ २ ॥

अर्थ—अर सगलहै मनसमेधी बुद्धि जाकी अर गुरुकी सेवा विषे उत्तमहै अर जिनागमका जाननेवाला है ऐसा उत्तम धावक सातप्रकार जानना ॥ २ ॥

निसर्गजरुचौ जंतावेकांतरुचिगजिते ।

अमहाय महाप्राप्ते मदायतनसेचके ॥ ३ ॥

कृतानायतनत्यागे परदृष्टयविमोहिते ।

मासनासादनाहीने जिनशामनघूंहेके ॥ ४ ॥

सोपानं सिद्धिर्माधस्य कल्मषक्षपणक्षमम् ।

ज्ञानचारित्रयोर्दंतुः स्थिरं तिष्ठति दर्शनम् ॥ ५ ॥

अर्थ—ऐसे पुराण विषे मन्वद्दर्शन निधल मिट्टहै जो म्भावजनित राधि जाके अर निधयप्रतीति करि शोभित अर महापगहेन महाबुद्धि-वान सदा आयतन जो अहंतादि तिनका सेवक अर किए हैं अनायतन कटिए बुदेवादिकया त्याग जानै अर अन्वयनकारि विनोदितहै अर

... ..  
... ..  
... ..

... ..  
... ..

य तिस्र्यादि अष्टवक्त्रे । तिस्र्यादिभिरिति ।  
... ..

... ..  
... ..

... ..  
... ..  
... ..  
... ..  
... ..

... ..  
... ..  
... ..  
... ..  
... ..  
... ..

आगमाध्ययने कार्यं कृत्वान्नादिशुद्धिना ।

विन्यास्तुचिमेन बहुमानविधायिना ॥ १० ॥

अर्थ—यही है पञ्चांगविधायी शुद्धिना मनी मया जो मुख्य मनी ।  
आगमना अध्ययन करना योग्य है, वेसा है मा । अर्थात् । यत्र है  
विल जाया अथ बहु मानना करनेवाला है ।

भावार्थ—पञ्चांगविधायी शुद्धिना मनी विन्यासोक्त बहुमान जो  
विन्यासोक्त आगमन मना योग्य है ॥ १० ॥

सर्वनाश्वघटं योग्ये शुग्निनिश्वसोत्थिना ।

परमां सर्वनां शुद्धिं सर्वजनार्थदयविधायिना ॥ ११ ॥

अर्थ—शुग्निनिश्वसोत्थि कश्चि आध्यात्मिक । अथ म । शुग्निनिश्वस  
अथ योग्य अथवा कश्चि शुद्धि करकेवाला अथ सर्वजनार्थ ।  
शुद्धि होऊ ल कुछ वाता रेसा जो मुख्य तापके शुद्धि होऊ ल  
है ॥ ११ ॥

संपन्नो संपन्नाधारे संपन्नप्रतिशक्तिनि ।

आदर्शं सर्वतो संपन्नारिप्रतिनयः परः ॥ १२ ॥

अर्थ—संपन्न रि, अथ संपन्न अर्थात् । संपन्न । संपन्नो म  
संपन्नो, उपदेश करनेवाले । अर्थ । अथ सर्वतो । संपन्न । संपन्नो  
सर्वतो रि नय अर्थात् । ॥ १२ ॥

महातपः स्थिते सार्धं तपः कथं सत्तदर्थे ।

अति सार्धं तपसां प्राप्नुवन्मो विनये कृपाः ॥ १३ ॥

अर्थ—महातपः स्थिते । सार्धं । तपः । कथं । सत्तदर्थे ।  
अति सार्धं तपसां प्राप्नुवन्मो विनये कृपाः । ॥ १३ ॥

साम्प्रदायिकान्तरात्प्राप्तं सति सर्वज्ञानम् ।

विन्यास्तुचिमेन दुःखोमे अथर्ववेदे ॥ १४ ॥

अर्थ—साम्प्रदायिकान्तरात्प्राप्तं सति सर्वज्ञानम् ।  
विन्यास्तुचिमेन दुःखोमे अथर्ववेदे ॥ १४ ॥



अर्थ—ये सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र्य तपहैं ते जीवनिकी दुःखरूपहै  
उहर जामें ऐसा जो संसारसमुद्र तार्तें तारणे विधि समर्थ हैं ॥ १४ ॥

चतुरंगमिदं साधोः पोष्यमाणमहर्निशम् ।

सिद्धिं साधयते सद्यः प्रार्थितां नृपतेरिव ॥ १५ ॥

अर्थ—यह चार भेदरूप मुनिराजका आचरण निरंतर पोष्यामया  
शीघ्रही वाञ्छित मोक्षकी साथेहैं जैसैं राजाकी चतुरंग सेना पोषी भई  
वाञ्छितसिद्धिकी साथेहैं तैसैं ॥ १५ ॥

सिसाधयिषते सिद्धिं चतुरंगमृतेऽत्र यः ।

स पोतेन विना मूढस्तितीर्यति पयोनिधिम् ॥ १६ ॥

अर्थ—जो मूढ दर्शन ज्ञान चारित्र्य तप इनि चार कारण विना  
मोक्षकी साथे चाहैहैं सो मूढ जहाजविना समुद्रकी तीरथा चाहैहैं ॥ १६ ॥

लोकद्वयेऽपि सांख्यानि दृश्यंते यानि कानिचिन् ।

जन्यंते तानि सर्वाणि चतुरंगेण देहिनः ॥ १७ ॥

अर्थ—निश्चयकरि इम लोकमें अर परलोकमें जे कई मुग देखि-  
एहैं ते सर्व जीवकें दर्शन ज्ञान चारित्र्य तपरूप चतुरंगकरि उपजाइएहैं ॥ १७ ॥

निरस्यति रजः सर्वं ज्ञेयं मृचयते हितम् ।

मानेव कुरुते किं न चतुरंगनिषेवणा ॥ १८ ॥

अर्थ—सर्व रज जो पाप ताहि दूर करैहैं अर हित बतावैहैं ऐमें  
माताकी ज्यौ दर्शन ज्ञान चारित्र्य तपकी सेवा कहा न करैहै, सर्वही  
हित करैहै ॥ १८ ॥

चतुरंगमपाकृत्य कुर्यंते कर्म ये परम् ।

कल्पद्रुममपाकृत्य ते भजंति विपद्रुमम् ॥ १९ ॥

अर्थ—जे पुरूप दर्शन ज्ञान चारित्र्य तप इनि चार कारणनिकी  
सागकें और क्रियाकर्म करैहैं सो कल्पवृक्षकी छोटके विपवृक्षकी साथेहैं ॥ १९ ॥

चतुरंगे गुरवं दत्ते यत्तत्कर्म परं कथम् ।

यत्करोति सुदृत्कार्यं तन्न वैरी कदाचन ॥ २० ॥

अर्थ—साम्यदर्शन ज्ञानादि ध्यार कारण जो गुरव देवहैं सो और कर्म सुख कैसे देव जैसे जो मित्र कार्य करे सो वैरी कदाच नाहीं करे ॥ २० ॥

ये संति साधवो धन्याश्चतुरंगविभूषणाः ।

विधेयो विनयस्तेषां मनोवाचायकर्मभिः ॥ २१ ॥

अर्थ—जे धन्य साधु पुरुष दर्शन ज्ञान चारित्र्य तप ये ध्यार अंग-होहै भूषण जिनके ऐमेहैं तिनका विनय मन बचन वायकरी करना योग्यहै ॥ २१ ॥

गुणनामनवदानां तदीयानामनारवम् ।

चित्तनीयं पटीयोमिरूपसृंहणकारणम् ॥ २२ ॥

अर्थ—तिन साधुनके निर्मल गुणनिका निरंतर सुद्विधाननिकरि चित्त-वन करणा योग्यहै कैसाहै साधुनके गुणका चित्तवन धर्म पटावनेका कारणहै ॥ २२ ॥

ध्यायतो योगिनां पथ्यमपथ्यप्रतिषेधनम् ।

मानसो विनयः साधोर्जायते मिद्रिसापकः ॥ २३ ॥

अर्थ—योगीश्वरनका हितरूप अर अहितका निरिध करने वाला कार्य ताहि ध्यायता जो पुरुष ता साधुके मोक्षका साधक माननिक विनय होवहै ॥ २३ ॥

यश्चित्तयति साधूनामनिष्टं दुष्टमानसः ।

तर्वानिष्टयनिर्भूटो जायते न भवे भवे ॥ २४ ॥

अर्थ—जो दुष्ट साधुनका अनिष्ट विधारे है सो दुष्ट मर्ष अनिष्ट-निकी त्तानि भव भव सिधै होवहै ॥ २४ ॥

दुर्भगो विकलो मूर्खो निर्विवेको ननुंसकाः ।

नीचकर्मकरो नीचो याति दूषण चिंतकः ॥ २५ ॥

अर्थ—यतीनके दूषणका चिंतवन करनेवाला पुरुष है सो दुर्भग होयहै विकलाग होयहै मूर्ख होय विवेकरहित होय नपुसक होय नीचकर्मका करनेवाला नीच होय ॥ २५ ॥

विज्ञायेति महाप्राज्ञाः संयतानामरेपसाम् ।

संचितयंति नानिष्टं त्रिविधेन कदाचन ॥ २६ ॥

अर्थ—ऐसैं जानकारि महाबुद्धि हैं ते पापरहित जे मुनिरात्र तिनका अनिष्ट मनवचन कायकारि कदाच न चितवैहैं ॥ २६ ॥

श्रवणीयमनाक्षेपं सपर्याप्रतिपादकम् ।

अनवज्ञापरं तथ्यं मधुरं हृदयंगमम् ॥ २७ ॥

अर्थ—मुनने योग्य संदेहरहित पूजाका उपजावनेवाला अर अनिदार्मै तत्पर सन्त्यार्थ मधुर हृदयकी प्यारा ॥ २७ ॥

वचनं वदतः पथ्यं रागद्वेषाद्यनाविलम् ।

वाचिको विनयोऽवाचि वचनीय निखर्वकः ॥ २८ ॥

अर्थ—रागद्वेषादि करि मलीन नाही ऐसा हितरूप बोलता जो पुरुष ताके वचनसंबंधी दोषनिका दूर करनेवाला वचनसंबंधी विनय जानना ॥ २८ ॥

अभ्याग्न्यानिस्कारकारकं गुणदूषकम् ।

न वाच्यं वचनं भक्तमनपोधनविनिन्दकम् ॥ २९ ॥

अर्थ—ज्ञाने माधुनके दोष प्रगट होय ऐसा वचन तथा अनार करनेवाला वचन तथा गुणवादूषक वचन तथा माधुनिका निन्दकवचन थावकनि करि बोलना योग्य नाही ॥ २९ ॥

वदन्ति दूषणं दीना ये साधूनामनेनसाम् ।

ते भवन्ति दुराचारा दूष्या जन्मनि जन्मनि ॥ ३० ॥

अर्थ—जे अज्ञानी पापरहित साधुनके दूषण कहैं हैं ते दुगचारी जन्म जन्म विषै दूषणकी भजैहैं ॥ ३० ॥

अनादयगिरो गर्वाः क्लेशिनः शोकिनो जडाः ।

यतिनिंदापराः संति जन्मद्वितयदूषिताः ॥ ३१ ॥

अर्थ—जे पुरुष साधुनकी निंदामें तत्परहैं ते इस भवमें अर परभवमें दूषित होयहै, नाही आदरने योग्य है वाणी जिनकी अर निंदने योग्य अर क्लेशसहित अर शोकवान अर अज्ञानी ऐसे होय है ॥ ३१ ॥

किं चित्रमपरं तस्माद्यदौदासीन्यचेतसाम् ।

वंदका वंदितास्तेषां निंदकाः संति निंदिताः ॥ ३२ ॥

अर्थ—जातैं उदासीनहैं चित्त जिनका ऐसे साधुनके वंदनेवाले तौसबनिकरि वंदनाक होयहैं अर निंदकरैं ते निंदक होय है, ताने वामें सिवाय आश्चर्य कहा है, किछु भी नाही ॥ ३२ ॥

आगें ऊपरि दांछति फटा ताका दृष्टत करैहैं;—

यादृशः क्रियते भावः फलंतत्रास्ति तादृशम् ।

यादृशं चर्च्यते रूपं तादृशं दृश्यतेऽब्दके ॥ ३३ ॥

अर्थ—जैसा भाव करिए तहां तैसा फल होय है जैसे दर्पणमें जैसा रूप करिए तैसाही देखिए है ।

भावार्थ—साधु तौ धीतराग है तिनमें जैसा भक्तिरूप या द्वेषरूप परिणाम करै तैसाही शुभ अशुभ फल पावै जैसे दर्पण तौ निर्मलहै वामें जैसा रूप करै तैसा ही दीने वंसा जानना ॥ ३३ ॥

व्रतिनां निद्रकं वाक्यं विबुद्धयेति न सर्वदा ।

मनोवाक्काययोगेन वक्तव्यं हितमिच्छता ॥ ३४ ॥

अर्थ—या प्रकार साधुनकी निद्रामें महापाप जानकरि हितका वांछक जो जीव ताकरि व्रतीनका निद्रक मन वचन कायके योगकरि सदाकालही कहना योग्य नाही ॥ ३४ ॥

अभ्युत्थानासनत्यागप्रणिपातांजुलिक्रिया ।

आयाते संयते कार्या यात्यनुव्रजनं पुनः ॥ ३५ ॥

अर्थ—संजमी मुनीका आगमन होतमंतें उठना आसनका त्यागना नमस्कार करना अंजुलिक्रिया कहिए हाथ जोडना क्रिया करनी योग्य है, वदुरि संजमीकौ गमन करते संतें पीछें चालना योग्यहै ॥ ३५ ॥

आयातं ये तपोराशिं विलोक्यपि न कुर्वते ।

अभ्युत्थानासनत्यागो नैभ्यः संत्यधमाः परे ॥ ३६ ॥

अर्थ—जो पुरुष आवता जो तपका समूह मुनि ताहि देखकरि मं उठवैठना अर आसनत्यागना रूप विनय नाही करै हैं इन्हें तिहा और नीच कोऊ नाही ॥ ३६ ॥

यत्र यत्र विलोक्यंते संयतायतमानसाः

तत्र तत्र प्रणंतव्या विनयोद्यतमानसैः ॥ ३७ ॥

अर्थ—यत्नसहित है मन जिनका ऐसे संयमी मुनि जहां जहां देखिए तहां तहां विनयमें उद्यमी है मन जिनका ऐसे पुरुषनिकरि नमस्कार करना योग्य है ॥ ३७ ॥

शय्योपवेशनस्थानगमनादीनि सर्वदा ।

विधातव्यानि नीचानि संयताराधनापरैः ॥ ३८ ॥



उद्यस्थानस्थितः कार्या वंदना न तपस्यिनः ।

न गतिं वामतः कृत्वा विनिर्तनं च पृष्टतः ॥ ४२ ॥

अर्थ—ऊँचे स्थानपरि तिष्ठतेनकरि तपस्वीनकी वंदना करनी योग्य नाही अर विनयवाननि करि वाई तरफतें गमन करके पाछैतें वंदना करणी योग्य नाही ।

भावार्थ—मुनिनके दक्षिण तरफतें प्रदक्षिणारूप गमन करके वंदना करणी, वाई तरफतें जायकरि पाछैतें वंदना न करणी ॥ ४२ ॥

त्रिधेति विनयोऽध्यक्षः करणीयो मनीषिभिः ।

परोक्षेऽपि स साधूनामात्राकरण लक्षणः ॥ ४३ ॥

अर्थ—ऐसैं मन वचन काय करि तीन प्रकार प्रत्यक्ष विनय करना योग्यहै अर मुनिनको परोक्ष होतें तिनकी आज्ञा करणा है लक्षण जाका ऐसा परोक्ष विनय करणा योग्यहै ॥ ४३ ॥

संघे चतुर्विधे भक्त्या रत्नत्रितयराजिते ।

विघातव्यो यथायोग्यं विनयो नयकोविदैः ॥ ४४ ॥

अर्थ—नीतिविधैं चतुर जे पुरुष तिनकरि रत्नत्रयकरि शोभित जो मुनि आर्यिका श्रावक श्राविका ऐसा च्यार प्रकार संघ ताविधैं मध्य योग्य विनय करना योग्य है ॥ ४४ ॥

विनयेन विहीनस्य व्रतशीलपुरः सराः ।

निष्फलाः संति निःशेषा गुणा गुणवर्ता मताः ॥ ४५ ॥

अर्थ—विनय करि हीन जो पुरुष ताके व्रत शील आदि समस्त गुणहैं ते निष्फल गुणवानानिके कहैहैं ॥ ४५ ॥

विनश्यंति समस्तानि व्रतानि विनयं विना ।

सरोरुहाणि तिष्ठंति सलिलेन विना कुतः ॥ ४६ ॥

अर्थ—सर्व व्रत हैं ते विनय विना नाशकी प्राप्त होयहे जैसे जठ विना कमल हैं ते कहां तिष्ठें, अपि तु नाहीं तिष्ठेहे तैसे जानना ॥ ४६ ॥

निर्वृतिस्तरसाञ्चया विनयेन विधीयते ।

आत्मर्नानमुखाधारा सांभागेनेव कामिनी ॥ ४७ ॥

अर्थ—विनय करि आत्माका हितरूप सुखकी आधारभूत जो मुक्ति अत्रस्था सो वेगकरि वश कांजिए हे, जैसे श्रीभाग्य पने करि स्त्री वश कांजिए तैसे विनयकरि मुक्ति वश होयहे ॥ ४७ ॥

सम्यग्दर्शनचारित्र्यतपोदानानि दंदिना ।

अद्याप्यंते विनीतेन यथांसीव विपथिता ॥ ४८ ॥

अर्थ—जैसे पंडितजनकरि यज्ञ पाइएहे तैसे विनयवान पुण्यकरि सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र्य तप ये पाइएहे ॥ ४८ ॥

तस्य कल्पद्रुमो भृत्यस्तस्य चिंतामणिः करे ।

तस्य गच्छिहितो यक्षो विनयो यस्य निर्मलः ॥ ४९ ॥

अर्थ—जा, पुण्यके निर्मल विनयहे ताका कल्पद्रुम किकरहे अर ताके हाथविधि चिंतामणिहे अर यक्ष ताके निकटवर्ती हे ।

भावार्थ—विनयते शुभ परिणामके वसते पुण्यबन्ध होयहे ताके उदयते सर्व कल्पद्रुमादि पदार्थ सुखदाई होय परिणमेहे ॥ ४९ ॥

अःराध्यंतेऽखिला येन त्रिदशाः सपुरंदराः ।

संपस्पाराधने तस्य विनीतम्यास्ति वः धमः ॥ ५० ॥

अर्थ—इंद्रनिसहित समस्त देव जा विनयवान करि आराधिते ताके संघके आराधनविधि कता धर्महे ।

भावार्थ—जा विनयभावनकरि इत्यादिक देव धरननकी सेवा करेहे ऐसा शंभुका विनय करेवै कता भेदहे स्वामी हे ॥ ५० ॥



क्रोधमानादयो दोषाश्छिद्यन्ते येन वैरदाः ।

न वैरिणो विनीतस्य तस्य संति कथंचन ॥ ५१ ॥

अर्थ—जा विनयवानकरि वैरभावके देनेवाले ऐसे जे क्रोधमानादिक परिणाम ते नाश कीजिण है ताके कोई प्रकारमी वैरी न होय है ।

भावार्थ—विनयवानते कोई वैर रखे नहीं ॥ ५१ ॥

कालत्रयेऽपि ये लोके विद्यन्ते परमेष्ठिनः ।

ते विनीतेन निःशेषाः पूजिता वंदिताः स्तुताः ॥ ५२ ॥

अर्थ—लोकमें भूत भविष्यत वर्त्तमान ऐसे तीनों काल विद्ये भी जे अर्हतादि परमेष्ठी विद्यमानहैं ते समस्त विनयवान पुरुषकरि पूजे अर वंदे अर वचनकरि गोचर किये ।

भावार्थ—जाके विनयहै ताके समस्त परमेष्ठीनकी भक्तिहै ॥ ५२ ॥

गर्वो निखर्व्यते तेन जन्यते गुरुगौरवम् ।

आर्जवं दर्श्यते स्वस्य प्रथमं वितनोति यः ॥ ५३ ॥

अर्थ—जो पुरुष विनयकी विस्तार है ता पुरुष करि आपका मान कषाय नाश कीजिण है अर गुरुनका मान उपजाइए है अर सरलमा प्रवर्त्ताइए है ॥ ५३ ॥

विनीतम्यामला कीर्त्तिर्वभ्रमीति महीतले ।

मुख्यंतीजनं सेव्या कान्तिः शीतरुचेरिव ॥ ५४ ॥

अर्थ—विनयवान पुरुषकी निर्मल कीर्त्ति पृथ्वीतलविषे अतिशय करि भ्रमे है सर्व जगतमें फैले है, केजी है कीर्त्ति लोककी मुख उपजागी है अर चंद्रमाकी कान्तिममान निर्मल है ॥ ५४ ॥

विनयः कारणं मुक्तेर्विनयः कारणं श्रियः ।

विनयः कारणं प्रीतेर्विनयः कारणं मनेः ॥ ५५ ॥

अर्थ—विनय है सो मुक्तिका कारण है अर विनय है सो लक्ष्मी-  
का कारण है अर विनय है सो प्रीतिकारण है अर विनय है सो  
सुदिका कारण है ॥ ५५ ॥

विनयेन विना पुंसो न संति गुणसंपदः ।

न वीजेन विना कापि जायंते मम्यजातयः ॥ ५६ ॥

अर्थ—जैसे बीज विना कट्टे भी धान्यकी जाति नाही उपजै तेने  
विनयविना गुणरूप संपदा न होय है ॥ ५६ ॥

प्रथयेण विना लक्ष्मीं यः प्रार्थयति दुर्मनाः ।

स मूल्येन विनानूनं रत्नं स्वीकर्णुमिच्छति ॥ ५७ ॥

अर्थ—जो दुष्टचित्त पुरुष विनय विना लक्ष्मीकी बात है सो पु-  
न्य निधय करि मोल विना रत्नकी अंगीकार करनेकी इच्छ है ॥ ५७ ॥

का संपदविनीतस्य का मैत्री चलयेतसः ।

का तपस्या विशीलस्य का कीर्तिः कोपवर्जिनः ॥ ५८ ॥

अर्थ—विनयरहित पुरुषकी संपत्ति कहा अर चलायमान है चित्त  
जाका ऐसे पुरुषकी मित्रता कहा अर शीलरहित पुरुषकी तपस्या कहा  
अर मोक्षी पुरुषकी कीर्ति कहा ॥ ५८ ॥

न गठस्येह यस्यास्ति तस्यागुरु कथं गुणम् ।

न कण्ठे कर्णटीयस्य गृहे तस्य वृत्तस्वनी ॥ ५९ ॥

अर्थ—जा पुरुषके इन लोकमें सेतोपत्य गुण नाही तःके परलो-  
कमें गुण बैन होय जैसे जाकी बाहीमें ककड़ी नाही तःके घरमें कटे-  
की होय, अदि तु नाही होय ॥ ५९ ॥

लाभालाभौ विबुद्धयेति भो विनीताविनीतयोः ।

विनीतेन मदा भाष्यं विदुष्याविनयं त्रिधा ॥ ६० ॥

अर्थ—या प्रकार विनयवानके अर विनयरहितके लाभ अज्ञान जानिकरि भो शिष्य । मन बचन कायते अविनयकी त्यागके विनयन-हित होना योग्यहै ॥ ६० ॥

ऐसे विनय का वर्णन किया आगे वैयावृत्य का वर्णन करेंगे;—

कृतांतरिव दुर्वारैः पीडितानां परीपहैः ।

वैयावृत्यं विघातव्यं मुमुक्षूणां विमुक्तये ॥ ६१ ॥

अर्थ—काल समान दुःखते निवारण जिनका ऐसे जे गेगादि फल पह तिनकरि पीडित जे मोक्षके अभिलाषी आचार्य आदि तिनका वैया वृत्य कहिए टहल चाकरी करणा योग्यहै, काहेके अर्थ—मुक्तिके अर्थ ।

भावार्थ—छाँकिक कार्यकी बाछा रहित मुक्तिहाके अर्थ वैयावृत्य करना ॥ ६१ ॥

दुर्भिक्षे मरके रोगे चौरराजाद्युपद्रुते ।

कर्मक्षयाय कर्तव्या व्यावृतिव्रतवर्तिनाम् ॥ ६२ ॥

अर्थ—दुर्भिक्षविषै अर मरी विषै अर रोगविषै अर चौर राजा दिकते उपसर्ग विषै करनिके नाशके अर्थ व्रतीनकी टहल चारगी करनी योग्यहै ॥ ६२ ॥

आचार्येऽध्यापके वृद्धे गक्षरक्षे प्रवर्तके ।

शक्ये तपोधने संघे गणे ग्लाने दशस्रपि ॥ ६३ ॥

प्रासुर्करौपधैर्योर्गर्मनसा वपुषा गिरा ।

विधेया व्यावृतिः सद्भिर्भवभ्रांतिजिहासुभिः ॥ ६४ ॥

अर्थ—जाते व्रतनिका आचरण करिए सो आचार्य कहिए, बहुरि जाके निकट शास्त्राध्ययन करिए सो उपाध्याय कहिए, बहुत बालके दीक्षित होय सो वृद्ध कहिए, अर गणकी रक्षा करे सो गणरक्ष कहिए,

अर सययी प्रवर्त्तावे सो प्रवर्तक कहिए, अर शास्त्रके सीरानेमें तत्पर होय सो ईश्वर कहिए अर महोपगमादिके करनेवाले तपस्वी कहिए, अर प्यार प्रकार मुनिनका समुहके सय कहिए, अर बडे मुनिका मतानकी गण कहिए अर गौणादिक करि श्रेणरूप शरीर जाका होय सो गण कहिए, ऐसे दस प्रकार मुनिनविधे मातृगुणिकरि योग्य कहिए कर्मानके लेने योग्य प्रामुख औपधनि करि तथा मन वचन काय करि दृढ चाकरी पत्नी योग्य है केनेह वैवाह्य करनेवाले पुण्य नमार भ्रमणके त्याग करनेके बाढक है ॥ ६३-६४ ॥

तपोभिर्दुष्करं रोगः पीड्यमानं तपोधनम् ।

यो दृष्टोपेक्षते शक्तो निधर्मा न ततः परः ॥ ६५ ॥

अर्थ—दुःख करि करे जौय ऐसे तपनि करि रोगनिकरि पीडित जो माधु ताहि देखकर जो शक्तिमहित पुण्य उपेक्षते कहिए किछु इलाज न करेहे देखताहि रहि जायहे ता मित्राय और अधर्मी नाही ॥ ६५ ॥

गृहस्थोऽपि यतिर्ज्ञेयो वैवाह्यपरायणः ।

वैवाह्यविनिर्मुक्तो न गृहस्थो न संयतः ॥ ६६ ॥

अर्थ—जो वैवाह्य विधे तत्पर है सो गृहस्थ भी यतिममान जानना बहुरि वैवाह्यकरि रहितहे जो गृहस्थहै न मुनिहै ॥ ६६ ॥

वैवाह्यपरः प्राणी पूज्यते संयतरपि ।

लभते न कुतः पूजामुपकारपरायणः ॥ ६७ ॥

अर्थ—वैवाह्यविधे तत्पर जीवहै सो संयमीन करि भी पूजिएहे, जाते उपकारविधे परायणजे पुण्य ते किन्तै पूजा न पावे सर्व हीने पावे ॥ ६७ ॥

संयमो दर्शनं ज्ञानं स्वाध्यायो विनयो नयः ।

सर्वेऽपि तेन दीयन्ते वैवाह्यं तनोति यः ॥ ६८ ॥

अर्थ—जो पुरुष वैद्यावृत्त्यको विस्तारैहै ताकरि संयम सम्मरसन ज्ञान स्वाध्याय विनय नीति ये सर्वही दीजिएहै ।

भावार्थ—वैद्यावृत्त्य करनेतै ब्रती स्वस्थ होय तत्र संयमादि निर्विद्व-सधै, तार्तै जो ब्रतीनकी टहल चाकरि करै ताकरि संयमादिक सर्व दिने कहिए ॥ ६८ ॥

निवृत्तिर्दीयते येन तेन धर्मो विधाप्यते ।

आगमोऽध्याप्यते तेन क्रियते तेन वा न किम् ॥ ६९ ॥

अर्थ—जा पुरुषकरि धर्मात्मा जीवनिकी मुख दीजिएहै ता करि धर्म कराइएहै अर आगम पढाइएहै अथवा ता करि कहा उत्तमकार्य न कीजिएहै सर्वही कीजिएहै ।

भावार्थ—धर्मात्मा निराकुल होय तत्र धर्मसाधन करै शास्त्रान्वानन करै और भी धर्मकार्य करै जातै जो धर्मात्माको निराकुल करै ताकरि धर्मादिक सर्व उत्तम कार्य किए कहिए ॥ ६९ ॥

समार्थाविहितस्नेन जिनाज्ञा तेन पालिता ।

धर्मो विस्तारितस्नेन तीर्थ तेन प्रवर्त्तितम् ॥ ७० ॥

अर्थ—जो वैद्यावृत्त्य करै है तानै समाधि जो शुभध्यान सो किया अर जिनगत्रकी आज्ञा पाठी अर तानै धर्म विस्तारया अर तीर्थ जो रत्नत्रय मो प्रवर्त्ताया ॥ ७० ॥

दुष्प्रापं तीर्थकर्तृत्वं त्रैलोक्यक्षोभणक्षमम् ।

प्राप्यते प्यायतेर्यस्या तस्याः किं न परं फलम् ॥ ७१ ॥

अर्थ—तीन लोककी शोभ उपजावने विषै समर्थ जाके प्रभारतै इंद्रादिकनिकं आसनरूपनादि शोभ उपजे ऐमा तीर्थकरपना जा वैद्या-  
त्य भावनाका फल पाए, ताका और फल क्या न पाए, सर्व ही पाए ॥ ७१ ॥

परस्पापोलते दुःखं सदा येनोपकुर्वता ।

संपद्यते कथं तस्य क्व कार्यं कारणं विना ॥ ७२ ॥

अर्थ—जिस पर उपकार करनेवाले पुण्य करि परका दृग्व दृ  
कीजिए है ताने दुःख कैसे होय, जाने कारण विना कार्य कैसे होय ।

भावार्थ—दुःखका कारण अनुभवाव है सो परंपरवार्गीक अनुभ-  
भाव नाही तर आप दुःखी कैसे होय, ऐसा जानना ॥ ७२ ॥

सैव्यो दीर्घायुरादेयो नीरोगो निरुपद्रवः ।

षट्पान्यः सुंदरो दक्षो जायते स प्रियंवदः ॥ ७३ ॥

अर्थ—सो वैद्याह्वय करनेवाला संरने योग्य होय है दीर्घायु होय  
आरु करने योग्य होय है उपद्रवहित होय है सुंदर अ प्रवीण अ  
प्रियवादी होय है ॥ ७३ ॥

म धार्मिकः स सदृष्टिः स विवेकी स बोविदः ।

स तपस्वी स चारित्री घ्याष्टनि विदधानि यः ॥ ७४ ॥

अर्थ—जो वैद्याह्वय कर है सो धर्मात्मा होय है सो तपस्वी है  
सो विवेकी है सो पंडित है सो तपस्वी है सो चारित्रवान है ।

भावार्थ—वैद्याह्वय होत संते सर्व धर्मके अंग होय है जाने वैद्याह्वय  
नामा तप सच तपनियत साम्भूत कया है ॥ ७४ ॥

ऐसे वैद्याह्वय तपका वर्णन किया, आगे प्रायश्चित्त नामा तपका  
वर्णन कर है;—

आधित्य भक्तिनः गुरि रत्नशितयभूषितम् ।

प्रायश्चित्तं विधातव्यं गृहीत्वा प्रानुद्धये ॥ ७५ ॥

अर्थ—दर्शन हान चरित्ररूपी र नभय करि भक्ति देगा ओ आकाश  
ता प्रति भक्तिने प्राप्त होय करि प्रानियती सुननाके अर्थ प्रायश्चित्त प्र-  
णकरि आचरण करना योग्य है ॥ ७५ ॥

न मदीयः धमः कर्तुं दोषाणां व्यपनोदनम् ।

कदेमाक्तं कथं वासः कर्दमेन विशोध्यते ॥ ७६ ॥

अर्थ—मदीय पुरुष है सो दोष दूर करने की समर्थ नहीं, जैसे कंकड़ कवि शिष्टता सब की-बकरी कैसी सोओये ।

भाषार्थ—निरीय गुहरी दोष दूर करके शुद्ध कर है सदीपगुहरी दोष दूर होय नाही ॥ ७६ ॥

दोषमालोचिन्तं ज्ञानी मुस्सीशो व्यपोहितम् ।

अज्ञानेन न वैद्येन व्याधिः कापि चिकित्सयते ॥ ७७ ॥

अर्थ—आ रोचिय कतिपु शिष्यने कथा जो दोष मारि हावतन जानाय दूर करने की समर्थ है, वाने अज्ञानी वैद्यकरी रोगका इलाज करे न कीरिय है रोगका ज्ञान होयना सो इलाज करेगा ॥ ७७ ॥

आलोच्यतेष्वभावेन ज्ञानिने मयनात्मने ।

तदीयसावयतः कार्यं प्रायश्चित्तं मनीषिणा ॥ ७८ ॥

अर्थ—मयम मरिय है आमा मरना पेना ज्ञानवान जो ज्ञान है नही, अन मयममावने अपने दामनिही मर है शिव भाषार्थके प्रकृति मुक्तिमानकी प्रायश्चित्त करना योग्य है ॥ ७८ ॥

प्रांशरीभूय कर्मण्यः मूर्ख मदीयनविधा ।

विधाके दृष्टान्तं कार्यं यकभावेन निर्भियम् ॥ ७९ ॥

अर्थ—अपवने मन जयन कार्य करि साद होय है आ रोचिय कथना यना है जैसे कृतिदत्ताव की विधा कार्य है सो विधाकी दृष्टान्त है ।

अर्थ—अपव दार्शनकी कृतिदत्ताव कथना यना अपव कथना है साद होय है सादानी कथना कृतिदत्ताव की लो दृष्टान्त दृष्टान्त है ॥ ७९ ॥

फलाय जायते पुंसो न चारित्र्यमशोधितम् ।

मलयस्नानि शस्यानि कीदृशं कुर्वते फलम् ॥ ८० ॥

अर्थ—बिना सोप्या चारित्र्यै सो पुण्यके फलके अर्थ न होयहै जैसे मूढ जो कूड़ा ताकारि मसे जे सस्य धान्य से कैमै फल निपजावै, अपि तु नाहीं उपजावै ॥ ८० ॥

ऐसै प्रापचित्त का वर्णन किया, आगै स्वाध्याय नामा तप का वर्णन करैहै;—

वाचना प्रच्छन्नाऽऽम्नायानुप्रेक्षा धर्मदेशना ।

स्वाध्यायः पंचधा कृत्यः पंचमीं गतिमिच्छता ॥ ८१ ॥

अर्थ—पंचमी गति जो मिद्ध अवस्था ताहि इच्छता जो पुरुष ताकारि पाच प्रकार स्वाध्याय करना योग्यहै, एवं कहिए आत्माके अध्यापन्य जो पढ़ना अथवा तु कहिए भलेप्रकार शास्त्रका अध्यापन कहिए वाचनादिक करना सो स्वाध्यायहै, सो पाच प्रकारहै—तहां निर्दोष ग्रंथ अर्थ उभय इतिका जो भग्यजीवनिकी देना सिखावना सो ही वाचनाहै, बहुरि संशयके दूर करनेकी निर्वाधनिधयके पुष्ट करनेकी ग्रंथ अर्थ उभयका प्रदन करना सो प्रच्छनाहै जो आपकी उच्चताके अर्थ परकी टगनेके अर्थ नीचा पाडनेके अर्थ परकी हास्य करनेकी इत्यादि छोटे छोटे आशयके पूछे सो प्रच्छनातप नाहीं, बहुरि गिरा पदार्थका स्वरूप जान्या ताका मनके विषे बारंबार चिंतन करना सो अनुप्रेक्षाहै, बहुरि पाठकी शुद्ध फोकना सो आम्नायहै, बहुरि धर्मकथा आदिका श्रेणीकार उपदेश देना सो धर्मोपदेशहै; ऐसै पंच-प्रकार जानना ॥ ८१ ॥

तपोऽनुरानंतरभेदमिधे

तपोविधा किंचन पापहारि ।



स्वाध्यायतुल्यं न विलोक्यतेऽन्यत्  
हृषीकदोषप्रशमप्रवीणम् ॥ ८२ ॥

अर्थ—अंतरंग अर बहिरंग भेदकरि भिन्न जो बारहप्रकार तप विधान ता विधि स्वाध्यायसमान पापकी हरनेवाला और तप न देखि एहै, कैसाहै स्वाध्यायनामा तप इंद्रियनिका दोषे जो इष्टानिष्ट विषय निर्मे रागद्वेष करना ताके उपसमावनेमें प्रवीणहै ॥ ८२ ॥

स्वाध्यायमत्यस्य चलश्चभावं  
न मानसं यंत्रपितुं समर्थः ।  
शक्तोति नोन्मूलयितुं प्रष्टुं  
तमः परो भास्करमंतरण ॥ ८३ ॥

अर्थ—चचल है स्वभाव जाका ऐसा जो मन ताके रोकनेमें स्वाध्यायविना और समर्थ नाही जैसे वृद्धिकी प्राप्त भया जो अंगर ताके नाशकी सूर्य विना और समर्थ नाही तैमें ॥ ८३ ॥

यः स्वाध्यायः पापहानिं विधत्ते  
कृत्वाकाग्रं नोपवामः क्षमन्ताम् ।  
शक्तः कर्तुं मंथनानां न कार्यं  
लोकं दृष्टोऽमंथतां दृष्टचेष्टः ॥ ८४ ॥

अर्थ—स्वाध्यायनामा तप एकाग्रता करि जो पापकी हानि करे ता पापकी हानिके करनेकी केवळ उपयाम समर्थ नाही, लोकविषे संस रहित अर दुष्टदे चेष्टा जाकी ऐसा पुरुष संसरमहित जीवनिके करने योग्य जो कार्य है ताहि करनेकी समर्थ नाही ।

भावार्थ—स्वाध्यायविधि संवर होवहे ताके कर्मकी निर्मल होवहे अर स्वाध्याय विना केवळ उपयामही करे गे संसरमहित दुष्टचेष्टाके प्रवर्ने ताके पापकी निर्मल होय नाही ॥ ८४ ॥

विज्ञाननिः शेषपदार्थज्ञानः  
कर्मास्रवद्वारविधानकारी ।

भूत्वा विधत्ते न्यपरोपकारं  
स्वाध्यायवर्त्ता कृधपूजनीयः ॥ ८५ ॥

अर्थ—स्वाध्यायवर्ति प्रवर्तनेवाला पुरुष है सो जानै धुनजानक, बडते सफलपदार्थ जानै अर काग्रव आवनेके द्वारे गिन्यायवर्तिक, निनका रोकनेवाला देसा होयकरि आपका वा परका टपकाव करै पैसाहै स्वाध्याय करनेवाला पुरुष पंडितनि करि पूजने योग्य है ॥ ८५ ॥

यद्बुद्धतप्तो विधुनोति मघो  
विध्वंमिताशेषहृषीकदोषः ।  
तपोविधानं भवकोटिलक्ष-  
नं न तदसौ न पुनोति कर्म ॥ ८६ ॥

अर्थ—जान्याहै बरुका स्वरूप जानै अर नास विपैहै समान इन्द्रियनिके दोष जानै देसा पुरुष है सो जा कर्मबौ निर्जरा करै ना कर्मबौ अशानी अनेक जन्मनिधरि तपके आचरण करि भी निबध करि नाही निर्जरावैहै ।

भावार्थ—निर्जरा होय है सोधुन ज्ञानके अध्यासो अर जो रिदु-  
द्धता ताते होवै केवल कावरेत से विदेष निर्जरा होय नाही लगे  
हानाभ्यासही मुख्य है देसा जानका ॥ ८६ ॥

निरन्तरवर्षाक्षकपादवृषि-  
विधीयते येन तपिरिबर्गः ।  
प्रसूद्वज्ज्माद्वृत्तप्रोपपूषा  
स्वाध्यायतोऽशेषनि ततो न दोषः ॥ ८७ ॥

अर्थ—जा स्वाध्याय करि नष्ट भई है मर्व इंद्रिय अर कषायरूप  
परिणति जाकी ऐमा जीवनिकाममूह कांजिएहै,

भावार्थ—विषय कषायरहित जीव कांजिएहै तातैं स्वाध्यायतैं  
न्यारा योग कहिए ध्यान नाहीं, ।

भावार्थ—श्रुतके अभ्यास हीतैं ध्यान होयहै ज्ञान विना ध्यान  
नाहीं, कैसाहै स्वाध्यायतष विस्तारकी प्राप्ति भया जो संसाररूप अंडुर  
ताके सोपनेकी सूर्यममान है ॥ ८७ ॥

गुणाः पवित्राः शममयमाद्या  
विवोधहीनाः क्षणतश्चलन्ति ।

कालं कियंतं दलपुष्पपूर्णा-

स्तिष्ठन्ति वृक्षाः क्षतमूलबंधाः ॥ ८८ ॥

अर्थ—कषायनिकी मंदतारूप शमभाव अर संयमभाव इत्यादिक  
जे पवित्र गुण हैं ते ज्ञानरहित क्षणमात्रमै चलायमान होयहै जैसे पत्र  
अर पुष्पनिकरि भरे ऐसे वृक्ष हैं ते नष्ट भयाहै जडका बंधान जिनका  
ऐसे कितनेकाल तिष्ठैहै किछु भी न तिष्ठैहै ।

भावार्थ—सत्र गुणनिका मूल ज्ञान है सो ज्ञानविना और गुण  
होय नाहीं, ऐसा जानना ॥ ८८ ॥

जानात्यकृत्यं न जनो न कृत्यं

जैनेश्वरं वाक्यमबुद्धयमानः ।

करोत्यकृत्यं विजहाति कृत्यं

ततस्ततो गच्छति दुःखमुग्रम् ॥ ८९ ॥

अर्थ—जिनरात्रके वचनकी न जानता जो जीवहै सो न करने  
योग्यकी वा करने योग्यकी न जानैहै तातैं अकार्य जो हिंसादिक तादि

करैहै अर कार्य जो वैराग्यादिक ताहि सजै हे तातैं तीन दुःखकौ प्राप्त होयहै ॥ ८९ ॥

अनात्मनीनं परिहर्तुकामा  
प्रहीतुकामाः पुनदात्मनीनम् ।

पठन्ति शशज्जिननाथवाक्यं  
समस्तकल्याणविधायि संतः ॥ ९० ॥

अर्थ—संत पुरुषहैं ते निरंतर जिनराजके वचनकौ पढ़ैहैं कैसा हे जिनवचन समस्तकल्याण करनेवाला हे कैसे हैं जिनवचनके पढ़नेवाले पुरुष आत्माके हितरूप नाही ऐसे मिथ्यात्वादिक भाव तिनके दूर करनेके बाँधकहै यहुरि आपके अर्थ हित जे सम्पत्तादिभाव तिनके महण करनेके बाँधक है ॥ ९० ॥

सुखाय ये सूत्रमपास्य जैनं  
मूढाः श्रयन्ते वचनं परेषाम् ।  
सापच्छिदे ते परिमुच्य तोषं  
भजन्ति कल्पध्वयकालवक्षिम् ॥ ९१ ॥

अर्थ—जे मूढ जिनराजके वचनकी त्यागकैं मुखके अर्थ अन्य मिथ्यादृष्टीनिके वचन सेवै हे ते साप दूर करनेके अर्थ जलकौ छोड़के प्रलयकालके अतिकौ सेवै हे ॥ ९१ ॥

विहाय वाक्यं जिनचंद्रदृष्टं  
परं न पीयूषमिहास्ति किंचित् ।  
मिथ्यादर्शां वाक्यमपास्य नूनं  
पश्यामि नो किंचन कालहृष्टम् ॥ ९२ ॥

अर्थ—इस लोकविश्वे जिनराजकरि कदा जो वचन ता सिवाय और अमृत नाही अर मिथ्यादृष्टीनिके वचन विना और काळकूटविष में नि-  
श्चयकरि किहू नाही देखूं हूं ॥ ९२ ॥

विधीयते येन समस्तमिष्टं

कल्पद्रुमेणैव महाफलेन ।

आवर्ज्यतां विश्वजनीनवृत्ति

मुक्ता परं कर्म जिनागमोऽसौ ॥ ९३ ॥

अर्थ—जा करि महाफलसहित कल्पवृक्षकी ज्यों सर्व मनोसंगीत  
कीजिए ऐसा यहू जिनागम सर्वलोकके हितरूप परिणति सिवाय और  
कार्यका वर्जन करहु ।

भावार्थ—जिनरचनके अम्यासते हमारे लौकिक कार्यकी बांझा बन  
होउ स्वपरके उपकाररूप परिणति होउ ॥ ९३ ॥

ऐसे स्वाध्याय नामा तपका वर्जन कियाः—

परेऽपि ये मति तपोविशेषा

त्रिनेंद्रचंद्रोदितमृगदृष्टाः ।

मग्नकितस्ते निगिला विधेयाः

विधानतः कर्मनिरुत्तेनाय ॥ ९४ ॥

अर्थ—स्वाध्यायपर्यंत तप तो पहले कहे अर ध्यान ता कर्म  
करेंगे । बहुरि और भी जे तपके भेद मिहनिःक्रीडिनादि त्रिनेत्रादी-  
संगुणने दिग्गज से अपनी शक्तिमान् समस्तविशानपूर्वक कर्मनशी दिग्-  
गके अर्थ ब्रह्मा योग्यदे ॥ ९४ ॥

मांश्वं श्वश्वं दीपते येन निग्यं

गगापेगद्विष्टयने येन गद्यः ।

येनानंदो जन्यते याचनीय-

स्नं संतोषं कुर्येते के न भव्याः ॥ ९५ ॥

अर्थ—जाकारे निरातुल्य सुख निम्न हीमिष्ट अर हागका तदय  
शाप्र ये दिष्टे अर जाकारे वांछनेयोग्य मुक्तिपदको आनंद उपजाए है  
ऐसा जो संतोष ही धर्म न करे, सर्वही करे ।

भावार्थ—सब तपनिर्भे साधका सुख लक्षण इत्यादिभिर्भे इत्या-  
निर्भे अर संतोष एकाही है ताने संतोष भव तपनिर्भे प्रयत्नो ही  
परमतप है, ऐसा जानना ॥ ९५ ॥

नेष्टं दातुं कोऽप्युपायः समर्थः

सौख्यं कृणामस्मि संतोषतोऽप्यः ।

अंभोजानां कः प्रबोधे विधातु

पत्तो द्वित्या भानुमते हि एतः ॥ ९६ ॥

अर्थ—मनुष्यनिर्भे वांछित सुख देनेकी संतोषविधाय को ही बंध  
भी उपाय नाही जैसे लोकमें कालनिके प्रयत्न करनेकी शूर्द्धिद्वय  
भीर कोई समर्थ न देखा तैमै संतोष बिना सुख भाटी ॥ ९६ ॥

विमुच्य संतोषमपास्तपुष्टिः

सुखाय यः कोऽस्ति वक्ष्यानन्दम् ।

दारिद्र्य दानाय स कल्पवृक्षे

निरस्य शूकानि विपद्भूमि हि ॥ ९७ ॥

अर्थ—जो अज्ञानी सुखके अर्थे संतोषको त्यागकरे अर वक्ष-  
भोगादिकको शूर्द्धि ही दारिद्र्यके मरणके अर्थे शूकके अर्थे  
विपद्को प्रलय करे ॥ ९७ ॥

सोपलोभमदमभादोका

धर्मदाजिपरः परिहार्याः ।

व्याधयो न सुखघातपटिष्ठाः

पोषयन्ति कृतिनः सुखकांक्षाः ॥ ९८ ॥

अर्थ—क्रोध लोभ मान मत्सर शोक इत्यादिक धर्मकी हानि करनेमें प्रवीण जे भाव से त्यागने योग्यहैं जातें मुझके बांछक जे भागवान पुरुषहैं ते मुझके नाश करनेमें प्रवीण जे रोगतिनहि पुष्ट न करै

भावार्थ—क्रोधादिभावहैं ते आनुरक्तानयहैं तातें मुझके घातहैं त्यागने योग्यहै अर संतोषहै सो सुखमयहै सो ही मुझार्थनि कसेवने योग्यहै ॥ ९८ ॥

मत्त्वेषु मंत्री गुणेषु प्रमोदं

क्रिष्टेषु जीवेषु कृपा परत्वम् ।

माध्यस्थ्यभावो विपरीतदृष्टौ

सदा विधेयो विदुषा शिष्याय ॥ ९९ ॥

अर्थ—एकेंद्रियादि मरे जीवनिविषे मंत्रीभाव करिषु कोई भी केंद्रिया मल होऊ ऐसी भावना, बहुरि सम्बन्धरानादि गुण महिन पुष्टिनि विषे अतिहर्य, अर रोगादि क्लेशकरि महिन जीवहै निनविषे क्लेशभाव, अर विपरीतदृष्टे श्रद्धा बाकी ऐमे पुरुष विषे माध्यस्थ्यभाव करि विपरीत पुरुषको देगके शिष्यता जो यह उपदेश योग्य नाहीं करि शिष्य करिनी करना, वा प्रकार ध्यार भावना ज्ञानदानकरि शिष्ये आदि सदा करणा योग्यहै ॥ ९९ ॥

अनधर्मप्रतिबंधेषु

प्रभूतदोषोपशितेषु निव्यम् ।

विगमभावः गुणिषा विधेयो

मार्गमोक्षेषु निव्यम् ॥ १०० ॥

अर्थ—ज्ञानी जीवकी संसार देह भोगभिविषै सदा वैराग्यभाव  
करणा योग्यहै, कैसे हैं संसार देह भोग अविनाशी लक्ष्मीके रोकनेवाले  
हैं पद्वीर अनेक दोषनिकीर युक्त हैं विनाशीक हैं ॥ १०० ॥

भावकधर्म भजति विशिष्टं  
योऽनघचित्तोऽमितगति दृष्टम् ।

गच्छति सांख्यं विगलितकण्ठं

म क्षपयित्वा सकलमनिष्टम् ॥ १०१ ॥

अर्थ—जो पुरुष अमितगति कहिए अनेक है ज्ञान जाया ऐसा जो  
जिनराज तानै दिग्गया अथवा अमितगति आचार्यनै दिग्गया जो धव-  
कया धर्म ताहि सेवैहै सो पुरुष सब अनिष्टनिका नारा बरके नाही है  
कष्ट जहां ऐसा सुखरूप जो मोक्ष ताहि प्राप्त होय है, केसाई धर्म  
विशिष्ट कहिए अन्य धर्मनिके न्यारा है लक्षण जाया ऐसा है, बरि  
कैसा है सो पुरुष पापरहित है चित्त जाया ऐसा है ॥ १०१ ॥

वर्षया ।

भावकधर्म कस्यो जिनराज यथाविधि ताहि असंदिग्ध धारै,  
सो अतिनिर्मलचित्त सुधी भवकष्ट अनिष्टममूह निवारै ।  
म्यर्गनिके गुरर भोगि तथा नर होय महाव्रत भाव सम्हारै,  
आत्म ध्याय विभाव नसाय महागुररसागर धाम निधारै ॥

इत्युपासकाचारे त्रयोदशः परिच्छेदः ।

इति श्री अमितगति आचार्यविरचित भाष्यकार  
विषै त्रयोदशमो परिच्छेदः

समाप्त भया ।



तहां इस जगतविषै और कौन जानेवाले नाहीं सर्वही परलोक  
जाय हैं ॥ ६ ॥

ऐसै अनित्यभावना कही । आगै अशरणभावनाकौ कहै है;—

यं करोति पुरतो यमराजा

भक्षणाय भुवने क्षुधितात्मा ।

कानने मृगमिव द्विपर्वरी

तस्य नास्ति शरणं भुवि कोऽपि ॥ ७ ॥

अर्थ—क्षुधासहित है आत्मा जाका ऐसा जमराज सो जीवकौ  
भक्षण करनेके अर्थ आगै करै है ता जीवका लोकविषै कोई भी शरण  
नाही जैसे वनमें मृगकौ मिठ भक्षण करनेकौ होय तब ताकौ कोई  
शरण नाही तैसे ॥ ७ ॥

अंतकेन यदि विप्रहमाजः

स्वीकृतस्य समपत्स्यत पाता ।

रक्षितः सुखरैरमरिष्य—

नो तदा सुखधूनिह्वरं वः ॥ ८ ॥

अर्थ—काउतै प्रधा जो प्राणी ताकी मरणतै जो रक्षा होय तौ  
इंद्रादिक देवनिकरि रक्षित जो देवागनानिका समूह सो न मरता ।

भावार्थ—मरणतै रक्षा होय तौ इंद्र अपनी देवागनानिकी न मरने  
देय, तानै मरण होतै जीवकै शरण नाही ॥ ८ ॥

यं निहंतुममरा न ममर्था

हन्यते न स परैः ममरती ।

यो द्विपन्नं ममर्दरपि ममो

मश्यते हि शशकं न पृथः ॥ ९ ॥

अर्थ—जा जमराजके हनिवेकों देष समर्थ नाही सो और जीवनि-  
फरि कैसें हनिए,

भारार्थ—जो इंद्रादिक देव भी मरणसौं न निवारि सकैं ती और-  
नकी कहा कया, जैसें मतवारे हार्थीन करि भी जो वृक्ष भग्न न भया  
सो मुस्तानि फरि भंग कैसें कीजिए ॥ ९ ॥

स्यंदनाद्विपपदातिनुरंगै-

मंत्रितंत्रजपपूजनहोमः ।

शुक्लते न रातु रक्षितुमंगी

जीवितव्यपगमे धियमाणः ॥ १० ॥

अर्थ—रथ हार्थी प्यादे घोडेनिफरि तथा मंत्र तंत्र जप पूजन होम  
हन करि आयुके नाश भये जो मरता जीव सो रातनेकों समर्थ न  
हजिएहे ॥ १० ॥

ये धरंति धरणीं सह शैले-

ये क्षिपंति सकलं ग्रहवधम् ।

ते भवंति भुवने न म कधि-

यो निहंति तरसा यमराजम् ॥ ११ ॥

अर्थ—जे जीव समस्त पर्वतनिसाहित पृथ्वीकों धरिहे अर मकळ  
गृहचक्रकों क्षेपिहे ऐसें पुरख ही लोकधिपिहे परंतु सो कोई पुरख नाही  
सो बेगकरि यमराजकों नाश करिहे ॥ ११ ॥

यो निहंति रमसेन पलिष्ठा-

निद्रचंद्ररविकेशवरामान् ।

रक्षको भवति कथन मृत्यो-

निगतो भवभृतो न तडोऽथ ॥ १२ ॥

अर्थ—जो समगज वेगकरि बटगान जे ईद चंद्र सूर्य नगनन  
बलभट तिनहि हनेहे मारी इम छांटागी जीवनिरा नाग कया जे  
यम ताते बनावनेसाछा कोऊ नाही ।

भावार्थ—अन्यमती समकी देव मानेरे सो मी भिष्यादे अर अणु  
का जो पूर्ण भये दोऊ गगनेकीं समर्थ नाही, गम्यरुद्रगनादिक व  
अरहतादिक शरणहे जाने यस्तुका स्वरूप जाने मग्नरा मय रहे  
नाही, अर मिदपद पावे तहां फेर मरण होय नाही, ताते पर कोऊ  
शरण नाही आपका आपही शरणहे ॥ १२ ॥

या प्रकार अशरण भावना कही, आगे संसार भावनाकीं कहैहे;—

चित्रजीवाकुलायां तनूमागिना ।

कुर्वता चेष्टितं सर्वदा मोहिना ।

गृह्णता मुंचता विग्रहं संसृतां

नर्तकेनेव रंगक्षितां अम्यते ॥ १३ ॥

अर्थ—इस मोही जीवकरि एकेद्रियादि नाना जीवनिकरि मरी दृष्ट  
करनेकी भूमिसमान जो यह संसारपरिणति ताविषे नटवा की औ  
भ्रमिणहे कैसाहे संसारी जीव सदा अनेक चेष्टा करैहे अर शरारकीं  
ग्रहण करैहे अर छोडैहे ॥ १३ ॥

श्वसति रोदिति सीदति सिद्यते

स्वपिति रुष्यति तुष्यति ताम्यति ।

लिखति दीव्यति सीथति नृत्यति

भ्रमति जन्मवने कलिलाकुलः ॥ १४ ॥

अर्थ—पापकर्मकरि व्याकुल यह जीव संसारवनविषे भ्रमैहे, उच्छ्वान  
लेपहे, रोवैहे, पीडित होयहे, खेदखिन्न होयहे, सोवैहे, रोप करैहे, रान-

करै, तातायमान होयहै, लिखिहै, फीडा करैहै, व्यवहार करैहै, सीविहै, रूच करैहै, या प्रकार अनेक चेष्टा करैहै ॥ १४ ॥

जनकस्तनयस्तनयो जनको  
जननी गृहिणी गृहिणी जननी ।

भगिनी दुहिता दुहिता भगिनी  
भवतीति घटांगिगणो बहुशः ॥ १५ ॥

अर्थ—पिता पुत्र होयहै पुत्र पिता होयहै माता स्त्री होयहै स्त्री माता होयहै बहण पुत्री होयहै पुत्री बहण होयहै सो बडे खेदकी बातहै यह जीव पूर्वोक्तप्रकार अनेकवार भूमहै ॥ १५ ॥

कलिलजालवशः स्वपमात्मनो  
भवति यत्र मुनो निजमातरि ।

किमपरं यत् तत्र निगद्यते  
विविधदुःखसर्पनां जननार्णवे ॥ १६ ॥

अर्थ—जा संसारसमुद्रविषै पापके समूहकरि यश भया संता जीव आप आपका पुत्र अपनी माताके गर्भविषै होय बडे खेदकी बातहै, ता संसार विषै और और व्यवस्था कहा कहिए, केसाहै भवसमुद्र मानादुःखनिके लपजाययेकी खानिहै ॥ १६ ॥

किमपि चेत्ति शिशुर्न हिताहितं  
विरहदुःखमुपैति युवा परम् ।

विकलतां भजते स्थविरमनरां  
भवति दाम् कदा यत् संश्रुतां ॥ १७ ॥

अर्थ—अहो संसारविषै मुग कब होयहै बालक ती किमु हिताहि-  
की न जानिहै, बहुरि जवान तीव्र कामके दुखकी प्राण होयहै बहुरि

बूढ़ाहै सो अतिशयकरि विकटताकी भजेहै शक्तिरहित होवापरे एउ  
बडजापरे ऐसे मुन्य कोई अवस्थामे नाही, दुःगर्हाहै ॥ १७ ॥

न मोऽस्ति संबंधविधिर्जगद्वये  
ममं समस्तरपि देहधारिभिः ।

अद्यापि यो न अमता भवार्णवे  
शरीरिणा कर्मनियंत्रितान्मना ॥ १८ ॥

अर्थ—गीन लोकविने सो मंत्रंभक्त विधान नाही जो जीवने मज्ज  
देहासीनकरि महिग अनेकराव न पाया, केमाहै जीव संगतगमुद्विने  
अमताहै अर कर्मनिकरि यंध्याहै आत्मा जाका वेगाहै ॥ १८ ॥

यत्र विप्रैर्विबर्त्तः पमारर्च्यते  
कर्मगानागतं भ्रम्यमाणो जनः ।

दुःगहं दुर्वचं मानसं कायिकं  
तत्र दुःसं न किं संश्रुतारणुते ॥ १९ ॥

अर्थ—जिन ममारगमुद्विने कर्म करि निंतर भवाया देना जो  
जीव सो नानाप्रकार परोपनिकरि उरउ पडत कीजिहै सो मज्ज  
विने दुर्वचनकीव ही मनकीव ही शरीरकीव ही दुःगह दुःसं काय न भोजि  
है, जेहियहै । वेगा ममारग अमन्य जाति मोक्षका यत्र कर्म  
॥ १९ ॥

या प्रकार ममार भावना बडी । अरि एकरा भावनाकी १९ है,—

देहवाधारनिनिषर्मेगिना  
कायधर्मं निर्विषं शिरीषते ।

एहधेन शरीरं निषर्ते  
नारकी मतिमुद्वेगा प्यथा ॥ २० ॥

अर्थ—शरीर शर बंधुजननिभे पोशनेके आर्थ जीवकरि पापकर्म नानाप्रकार कीजिएहै बहुरि ताके फलतै नरकगतिकी प्राप्तभया एक आप ताकरि ही पीडा सहिए है शरीर कुदुःखादिक कोऊ भेला होय नाही ॥ २० ॥

पद्मपत्रनयना मनोरमाः

कारयन्ति दुरितं दुरुचरम् ।

दुर्गतिं विकटदुःखसंकटा

मेककस्य शरणं न गच्छतः ॥ २१ ॥

अर्थ—कमलके पत्र समानहै नेत्र त्रिनके ऐसी मनकी रमावनेवाली है छी है से दुस्तर पापकी करारै है बहुरि दुःखनिकरि न्यास जो दुर्गति ता प्रति अवेले जानेकी शरण कोऊ नाही ॥ २१ ॥

मातृतातमुतदारवांधवाः

सर्वदा मम मुपेति तप्यते ।

कर्म पूर्वमपहाय विद्यते

नात्र कोऽपि मुखदुःखकारकः ॥ २२ ॥

अर्थ—माता पिता पुत्र छी बांधव ये सदा मेरे हैं ऐसी मानि-रि सदा खेद करैहै बहुरि पूर्व कर्म विना इस लोक त्रिपै मुखदुःखका रनेवाला कोऊ नाही ॥ २२ ॥

वेदनां गतवतः स्वकर्मजा-

मग्न यो न विदधाति किंपन ।

किं करिष्यति पन्न यत्नतो

देहजादिनिवहःम पालिनः ॥ २३ ॥

अर्थ—जो पान्या पोष्या ऐसा पुत्रादिबनिकर समूह सो अपने सोचयते 'उपजी, जो रोगादिककी वेदना ताकी प्राप्त भया जो जीव

अर्थ—इस लोक विषे कर्मनिके संयोगतै निपजे शरीर पुत्रादिक जे पदार्थहैं ते केवल दुःखकी परपराय बिना और किछु दुःखतै निपरीत जो मुख ताहि करवे सपर्य नहीं ।

भावार्थ—शरीरादिक परपदार्थमें आपकी बुद्धिहै सो दुःखका कारणहै मुखका कारण नाही ॥ २९ ॥

अनात्मनीना मवदुःखहेतवो

बिनश्वराः कर्मभवा यतोऽखिलाः ।

ततो न बाह्येषु विशुद्धबुद्धयो

ममेति बुद्धि मनसाऽपि कुर्वते ॥ ३० ॥

अर्थ—जातै कर्मणके उदयतै भये समस्त शरीरादिक पदार्थहैं ते आत्माके अर्थ हितरूप नाही अर संसार दुःखके कारण हैं अर विनाशीक हैं तातै बाह्य पदार्थनिविषे “ यह मेरेहैं ” ऐसी बुद्धिकौ मन करि भी न करैहैं ॥ ३० ॥

न विद्यते यत्रकलेवरं निजं

स्वकीयबुद्ध्या मनसि व्यवस्थितम् ।

तदीयसंबंधभवाः मुत्तादयः

परे कथं तत्र निजा निगद्यताम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—जहां आपकी बुद्धिकरि मनविषे तिष्ठया जो शरीर सो आपका नाही तहां ता शरीरके संबंधतै उपजे जे अन्य पुत्रादिक ते कहो ? आपके कर्म होय ॥ ३१ ॥

करोति बाह्येषु ममेति शेषुर्षीं

परेष्वयं यावदनर्थकारिणीम् ।

न निर्गमस्तावदमुष्य संसृते-

रिति त्रिधा सा विदुषा विमुच्यताम् ॥ ३२ ॥

अर्थ—जहां ताई बाप पर पदार्थनि त्रिपै ये मेर हें ऐसी अनर्थ करने वाली बुद्धिहै तहां ताई इस जीवका संसारतें निकसना नाही इस कारणतें सो बुद्धि मन बचन फाय करि त्यागना ॥ ३२ ॥

ऐसैं अन्यत्वभावना कहां । आगे अशुचित्वभावनाकी कहेंहैं;—

क्षणाद्मेध्याः शुचयोऽपि भावाः  
संसर्गमात्रेण भवंति यस्य ।

शरीरतः संततिपूतिगंधे-

स्ततः परं किंचन नास्त्यर्चाक्ष्यम् ॥ ३३ ॥

अर्थ—जा शरीरके संसर्गमात्र करि क्षणमात्रमें पवित्र पदार्थ भी अपवित्र होयहैं तातें निरंतर दुर्गंधरूप जो शरीर तातें अन्य किछु अपवित्र नाही ॥ ३३ ॥

बहुप्रकाराशुचिराशिपूर्णं

शुक्रासृजाने शुचिता क काये ।

अमेध्यपूर्णः किममेध्यकुंभो

दृष्टो हि मेध्यत्वमुपाददानः ॥ ३४ ॥

अर्थ—अनेक प्रकार शिष्टादिक अपवित्र वस्तुनि करि भरपा अर वीर्य अर गधिरतें उपम्या ऐना जो शरीर ताशिमें पवित्रता कहुं नाही, जातें शिष्टा करि भरपा अपवित्र कुंभ पवित्रताकी धारता कहुं देख्या नाही ॥ ३४ ॥

मज्जाम्बि मेदोमलमांसखानि

विगर्हणीयं कृमिजालगेहम् ।

देहं दधानः शुचितामिमानं

मूर्खो विधत्ते न विशुद्धबुद्धिः ॥ ३५ ॥



अर्थ—मज्जा अर हाड अर मेद अर मल विष्टादिक इनके उपवने-  
की खानि अर निंदने योग्य अर कीडानिके समूहका घर ऐसा जो देह  
ताहि धारता संता पवित्रपनेका अभिमान मूर्ख धारै है, निर्मल बुद्धि न  
धारै है ॥ ३५ ॥

अवन्नवस्रोतुविचित्रगूथं

यो वारिणा शोधयते शरीरम् ।

अद्वाय दुग्धेन निघृष्य मन्ये

विशुद्धमंगारमसां विधत्ते ॥ ३६ ॥

अर्थ—जो शरै है नव द्वारनिर्तै नाना प्रकार मल जातै ऐसा जे  
शरीर ताहि जल करि पवित्र करै है सो मै ऐसा मानूं हूं ये कोयलाकौ दू  
तै विसकै जलदी विशुद्ध करै है ॥ ३६ ॥

न हन्यते तेन जलेन पापं

विवद्धर्घते येन विवद्धर्घ रागम् ।

यद्यस्य वर्णप्रभवे समर्थं

तत्तस्य दृष्टं न विनाशकारि ॥ ३७ ॥

अर्थ—जा जलकरि रागादिभाव बढाय करि हिंसादिक पाप बढाई  
है ता जलकरि पाप कैसे नाश कीजिए, जातै जो वस्तुका वर्ण तपत्रापों  
विषै समर्थ है सो ताका नाश करनेवाला न देख्यो ॥ ३७ ॥

विनाश्यते चेत्सलिलेन पापं

धर्मस्तदानीं क्रियते किमर्थम् ।

आरोहणं कोऽपि करोति पृक्षे

फले हि हस्तेन न लभ्यमाने ॥ ३८ ॥

अर्थ—जो जलकरि पाप नाशिए तौ तपधरणादि धर्म काहेके अर्थ  
करिए जातै हाथमें फल आवे संते कोई पृक्षै चढ़े नाही ॥ ३८ ॥

माघेन तीयः क्रियते शशांको  
ग्रीष्मेण भानुर्वदिनाम शीतः ।

देहस्नदानीं पयसा विशुद्धो  
विधीयते दुर्वचगूधयूथः ॥ ३९ ॥

अर्थ—जो माघ मासकी श्रेयमा तस कौत्रिए अरपीष्मकीरि सूर्य  
शीतल कौत्रिए सौ जलकीरि शरीर विशुद्ध कौत्रिए केसाहै शरीर निद-  
नीक विशादिक मलका पुजहै ॥ ३९ ॥

मज्ञान सम्यक्तचरित्रतोयै-

विंशाद्यमानर्मनसाऽपि जीरः ।

विशोध्य मानस्तरसा पवित्रै-

र्न शुद्धिमभ्येति भवांतरेऽपि ॥ ४० ॥

अर्थ—मन कीरि भी अरगाहे जे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्तचा-  
रित्ररूप पवित्र जल तिनकीरि शीघ्र निर्मल किया जो जीव सो जन्मातर  
विषै भी अशुद्धिनाकी प्राप्त नाही होयहै ।

भावार्थ—जलादि परद्रव्यनिर्ते मिष्याद्यद्य शुद्धिता मानेहै सो मिष्याहे  
साते जीव सौ सम्यग्दर्शनादि आत्मपरिणामहीते शुद्ध होयहै ॥ ४० ॥

ऐसे अशुचि भावना कहा । आगे आश्रयभावनाका कहैहैः—

रंभरिवांबुवितर्तदुर्घा तरंडे

जीवे मनोवचनकायविकल्पजालैः ।

जन्मार्णवे विशति' कर्म विचित्ररूपं

सद्यो निमज्जनविधाधि मुदुर्निवारम् ॥ ४१ ॥

अर्थ—जैसे समुद्रमें नाव विषै विस्ताररूप छिद्रनिकीरि जल प्रवेश  
करेहै तैसे संसारसमुद्रविषै मन वचनकायके विकल्पजालते नानाप्रकार

कर्म आश्रयैहै ताकरि जीव दुःखकरि निवारण करने योग्य जउदी इव-  
नेकी प्राप्त होयहै ॥ ४१ ॥

चित्रेण कर्मपवनेन नियोज्यमानः

प्राणिप्लवो बहुविधोऽसुखभांडपूर्णः ।

संसारसागरमसारमलभ्यपारं

भूरिभ्रमं भ्रमति कालमनंतमानम् ॥ ४२ ॥

अर्थ—तीव्र मंदादि भेदनिमहित नानाप्रकार जो कर्मपवन साकरि  
प्रेम्या भया यह जीवरूप नौका संसारसमुद्रविषै अनंतकाल धनैहै  
कैसाहै जीवरूपी नाव नानाप्रकार दुःखरूप भांडनि करि भरया  
बहुरि कैसाहै संसारसमुद्र अमारहै जामै आत्महित नाही बहुरि नाहै  
पावने योग्यहै पार जाका ऐसा अपागहै अर बहुतहै भौर जा वि  
ऐसाहै ॥ ४२ ॥

कर्मादघाति यदयं भविनः कषायः

संसारदुःखमविधाय न तद्व्यर्पति ।

यद्वधनं हि विदघाति विपक्षवर्ग

स्तन्नाम कस्य विरचय्य गुणं प्रयाति ॥ ४३ ॥

अर्थ—जो यह कषायभाव जीवके कर्मरथ कोहै सो कर्मरथ दुःख  
दिये विना नाश नाही होयहै जैसे वैशिनिका मग्न जो बंधन बाधे है  
सो वह बौनकी गुण करिके जाय है दुःख करिके ही जाय है ।

भावार्थ—कषायकरि बंध्या जो कर्म ताका छुटना महाकठिन है  
तःने मुख्य आश्रयका कारण जो कषाय सो कषण योग्य नाही ॥४३॥

भेदाः सुग्गामुग्गविधानविधां समयां

ये कर्मणो विविधपंचगमा भवन्ति ।

जंतोः शुभाशुभमनः परिणामजन्या

स्तंभ्रम्यते भवने चिरमेव भीमे ॥ ४४ ॥

अर्थ—जीवके, नानाप्रकार के चित्तके परिणाम तिनकरि उपजे जे गुण दुःख करनेकी विधिभरि समर्थ नानाप्रकार कथके अनुभागभेद तिन करि बहुत जीव भयकर संगारवन विरै बहुत फाल भमाइए है ।

भावार्थ—कर्मनिका तीत्र भेद अनुभाग तीत्र भेद फलायत होय है साकरि जीव नरकादि पर्यायनिभै भ्रमे है ॥ ४४ ॥

शुद्धाति कर्म सुखदं शुभयोगश्रुत्या

दुःखप्रदायि तु यतोऽशुभयोगश्रुत्या ।

आद्या सुरार्थिभिरतः मततं विधेया

हेया परा प्रचुरकष्टनिधानभूता ॥ ४५ ॥

अर्थ—जाने शुभयोगकी परणति करि जीव सुखदायक कर्मका प्रहण करै रहुरि अशुभयोगकी परिणति करि दुःखदायक कर्मका प्रहण करै, इस कारणतै सुखके अर्था जे जीव तिनकरि आदिकी जो शुभपरणति सो निरंतर करणी योग्य है रहुरि प्रचुर दुःखके निधान-समान जो अशुभयोगकी परणति सो रपागनी योग्य है ॥ ४५ ॥

एकप्रकारमपि योगवशादुपेतं

कुर्वति कर्म विविधं विविधाः कृपायाः ।

एकस्वभावमुपगम्य जलं घनेभ्यः

प्राप्य प्रदेशमुपयाति न किं विभेदम् ॥ ४६ ॥

अर्थ—योगनिके बलकरि एक प्रकार प्रहण किया भी कर्म कृपाय नाना प्रकार करै है ।

भावार्थ—योगद्वार समयप्रबद्ध प्रहण कियौ सो तौ एक प्रकारही है परंतु जैसा तीत्र भेद फलाय होय तैसाही नानाप्रकार तीत्र भेद शक्ति

लिये होय है जैसे मेघनिर्ते जलहै सो एकस्वभावकों प्रात होयके निर  
आदि प्रदेशकों प्रात होय करि कहा विचित्र भेदकों नाही प्रात होय  
है, होयही है ॥ ४६ ॥

मिथ्यात्वदौर्घृत्त्यकपाययोग—  
प्रमाददोषा विविधप्रकाराः ।  
कर्माश्रवाः संति शरीरभाजां

जलाश्रवा वा सरसां प्रवाहाः ॥ ४७ ॥

अर्थ—मिथ्यात्व अर अश्रित अर कपाय अर योग अर प्रमाद ये  
दोषस्वरूप नाना प्रकार जीवनिके कर्माश्रवके कारण हैं, जैसे सरोवर-  
निके जलके आश्रवके कारण प्रवाह हैं तैसे ।

भावार्थ—मिथ्यात्वादिक भाव कर्मवचके कारण हैं ताते इनकी  
त्यागना, यह तात्पर्य है ॥ ४७ ॥

संवरणं तरमा दुरितानां—  
माश्रवगोधरुणेषु नरेषु ।

आगमनस्य कृते हि निरोधे

कृत्र विगतिं चलानि मरः सु ॥ ४८ ॥

अर्थ—मिथ्यात्वादिक आश्रवनिकों जे मभ्यक्तादि भावनि कों  
गंठनेवाले पुरुषहैं तिनके शीघ्र कर्मनिका रचना रूप संवर होयके जे  
जडनिके आवनेका द्वार रोके संते मगोवरनिये जड कर्तते अ  
कहूने भी न आये हे ॥ ४८ ॥

नश्यति कर्म कदाचन जंतोः

संवरणेन रिना न गृहीतम् ।

शुष्यति कृत्र जले हि तडागे

संगमने वृष्ट्याऽमिनरम्य ॥ ४९ ॥

अर्थ—जीवके घटण किया भया जो कर्म है सो मंत्र विना कदाच नारा न होयै, जैसे सरोवरविषै बहुत प्रकार नवीन जलका आगम होतसैंतैं जउ फातैं सूरी, अपि तु नाहीं सूरी है तैसेँ जानना ॥ ४९ ॥

योगनिरोधकस्य सुदृष्टे—

रस्तकपापरिपोर्विरतस्य ।

यत्नपरस्य नरस्य समस्तं

संघृतिमृच्छति नूननमेनः ॥ ५० ॥

अर्थ—मन बचन कायका रोकनेवाला अर सम्यग्दृष्टि अर नाश कियेहै कायाय बैरी जाने अर हिसादिकतैं विरक्त अर यनाचारसैं तपर ऐसा जो पुरख ताके समस्त नवीन कर्म रूके ई ।

भावार्थ—मिथ्याचारिके प्रतिपक्षी जे सम्यक्कादि भाव तिनकीरि संवर होय है ॥ ५० ॥

धर्मधरस्य परीपहजेतु—

वृत्तवतः समितस्य सुगुप्तेः ।

आगमवामितमानसघृत्तेः

संगतिरस्ति न कर्मरजोभिः ॥ ५१ ॥

अर्थ—उत्तम क्षमादि दश प्रकार धर्मका धरनेवाला अर क्षुधादि परीपहनिका जीतनेवाला अर सामाधिकारि चारित्रका धारी अर यन्ता चार रूप समितिनिकीरि गुक्त अर भले प्रकार योगनिका निग्रहरूप है गुप्ति जाके ऐसा जो पुरख ताके कर्मरूपी रजनि कीरि संगति नाही होय है ।

भावार्थ—इतिके होतसैंतैं इन्द्रियनर होय है, ऐसा जानना ॥५१॥

दर्शनबोधचरित्रतपोभि—

श्वेतसिकल्मषमेति न जुष्टे ।

शूरतरैः पुरुषैः कृतरक्षे

शत्रुबलं विशति क पुरे हि ॥ ५२ ॥

अर्थ—दर्शन ज्ञान चारित्र तप इनकरि सहित जो चित्त ता विपै पापकर्म नाही प्राप्त होय है जैसे शूरवीर पुण्यनिकरि करी है रक्षा जाकी ऐसा जो-नगर ताविपै शत्रुकी सेना कहां प्रवेश करै, अपि तु नाही करै है ॥ ५२ ॥

पातकमाश्रवति स्थिररूपं

संभृतिमात्मवतां न यतीनाम् ।

वर्मघरान्न नरान् रणरंगे

कापि भिनत्ति शिर्षामुखजालम् ॥ ५३ ॥

अर्थ—स्थिररूप आत्माका अनुभव करने जे आत्मज्ञानी यतीरर तिनके कर्म नहीं आश्रयैहै जैसे रणभूमिविषै वक्त वक्तरके धरनेवाटे पुण्य निनत्ति वाणनिका समूह कहू भी भेदै नाही ॥ ५३ ॥

कामकषायहृषीकनिरोधं

यो विद्धाति परैरमुमाध्यम् ।

केवललोकविलोकितलोको

याति स मुक्तिपुरीं दुःखापाम् ॥ ५४ ॥

अर्थ—ज्यो पुण्य काम अर कषाय अर इंद्रिय इनिका निरोध करै है सो पुण्य मुक्ति पुरीको प्राप्त होय है, किंत्ता है कामादिकका निरोध और सामान्य पुण्यनि करि असाध्य है, बहुरि किंत्ता है वह पुण्य केवल-लोकानुष्पी प्रकाश करि देख्या है लोक जानै किंत्ता है मुक्तिपुरी दुःख

करि है पावना जाका घडे घडे मुनाइवर जाके अर्थ रोद करि है तौ भी न पावे है ।

भावार्थ—जे कामादिकका सबर करैहैं ते केवली होय मुक्तिपुरीकौ पावे है इस बिना कोंटि कटने भी मुक्ति न होय है ऐसा तात्पर्य है ॥ ५४ ॥

दृढीकृतो याति न कर्मपर्वतः

शरीरिणां निर्जराया विना क्षयम् ।

न धान्यपुंजः प्रलयं प्रपद्यते

च्ययं विना कापि विवर्द्धितधिरम् ॥ ५५ ॥

अर्थ—जीवनीके दृढ किया जो कर्मरूपी पर्वत सो निर्जरा विना क्षयकौ प्राप्त न होय है जैसे बहुत कालते वृद्धिकौ प्राप्त किया जो धान्यका समूह सो खरच करे बिना कहु भी नाशकौ प्राप्त न होय है तैसे ।

भावार्थ—जितना कर्म बंध तितना ही उदय देय खिरे सौ अनादिकालके संघयरूप कर्म नमें नाही, बहुरि जब तपश्चरणादिकते अनेक कालके शेषे कर्म एककालमें छिरे तब कर्मका नाश होय तैसे तपश्चरणादिकमें प्रवर्तना योग्यहै, यह तात्पर्यहै ॥ ५५ ॥

निरंतरानेकमवाजितस्य या

पुरातनस्य क्षतिरेकदेशतः ।

विपाकजापाकजभेदतो द्विधा

यतीश्वरास्तां निगदन्ति निर्जराम् ॥ ५६ ॥

अर्थ—निरंतर अनेक भवनि विधे उपाग्नी जो कर्म ताकी एकदेश जो हानि साहि यतीश्वर निर्जरा कहेहै सो निर्जरा सविपाक अविपाक भेदते दोय प्रकारहै ॥ ५६ ॥



आर्गे सविपाक निर्जगा स्वल्प कर्हेह;—

अनेहसा या कलिलम्य निर्जग

विपाकजां तां फययंति मूरयः ।

अपाकजां तां भवदुःखग्विर्णी

विधीयते या तपसा गरीयसा ॥ ५७ ॥

अर्थ—जो अपनी स्थिति पूर्ण रूप उदय काय करि कर्मकी निर्जग है ताहि आर्य हैं ते विपाकजा निर्जग कहैहैं, बहुरि जो उप्र तपधरणा करि करिणहै ताहि संमार दु खका नाश करने वाडी अपाक निर्जग कहैहैं ॥ ५७ ॥

विपाकजायामुदितस्य कर्मणो

मता परस्यामखिलस्य विच्युतिः ।

यतो द्वितीयाऽत्र ततो विधानतः

सदा विधेया कुशलेन निर्जरा ॥ ५८ ॥

अर्थ—जातैं सविपाकजा निर्जरा विषे तौ उदयको प्राप्त भया जो कर्म ताकी हानि होयहै बहुरि अविपाकजाविषे उदय आया अर बिना उदय आया ऐसा सर्वही कर्मका नाश होयहै तातैं प्रवीण पुरुष करि दूसरी जो अविपाकनिर्जरा मो तपधरणादिविधानतैं सदा करणी योग्यहै ॥ ५८ ॥

तपोमिह्रैः सति संवरे रजो

निपृथमानं सकलं पलायते ।

निराश्रवं वारि विवस्वदंशुमि

र्न शोष्यमाणं सरसोऽवतिष्ठते ॥ ५९ ॥

अर्थ—आगामी कर्मनिका संवर होतसंतैं उप्र तपधरणा करि नाश किया जो कर्म सो समस्त नाशको प्राप्त होयहै जैसैं नवीन

जलके आश्रयरहित जो समोवरका जल सो सूर्यकी किरणानि बहि सोप्या भया न तिष्ठिहे तेमे जानना ॥ ५९ ॥

परेण जीवन्तपमा प्रतापिनो  
विनिर्मलन्वं रभसा प्रपद्यते ।

सुवर्णशैलस्य मलोज्यतिष्ठते

प्रताप्यमानस्य कृदानुना कथम् ॥ ६० ॥

अर्थ—उच्छेद तप बहि तपाया जो जीवते सो ताप्र निमंन पदार्थ प्राप्त होय हे जेमे अग्निरुति तपाया जो सुवर्णका गदा ताके मीन बने तिष्ठे, अपि तु नाही तिष्ठे हे ।

भावार्थ—सभ्यदर्शन ज्ञानादिवर्त जीवत मन्निजान विष्टे तब सिद्ध पदार्थ प्राप्त होय ताके सभ्यदर्शनादि आराधना योग्यते ॥ ६० ॥  
ऐसे निर्जग भावना वाली । आगे लोकभावनाको बने है—

प्योममध्यगमकृत्रिमं स्थितं  
लोकमंगिनियहेन संकुलम् ।

सप्तसज्जुपनगम्भितं जिना

वर्णयन्ति पयमानवेष्टितम् ॥ ६१ ॥

अर्थ—जिनगत्र है से लोकको ऐसा वर्णन करे है, देगा है संक. अनेकानेक जो आवरण ताके मध्य प्राप्त है, बहुरि काटुका काटा भया नाही बहुरि जीवनिके मण्डनिकरि भया है बहुरि सात सज्जुपन जो तीनरी तपार्थीय सज्जु ता प्रमाण है बहुरि सप्तसज्जुपनि बहि वेष्टित है, देगा है ॥ ६१ ॥

जन्मसृष्ट्युक्तितेन संतुना

कर्मवैरिदशवर्तिना मया ।

यो न यत्र ब्रह्मज्ञो विगाहितो

विद्यते न विषयः स कश्चन ॥ ६२ ॥

अर्थ—ता लोकविषे मां क्षेत्र नाही जो जीवने बहुत बार नाही अवगाथा कैसा है जीव जन्म मरणकरि व्यान है बहुरि कर्म बैरंग वरावर्ती है अर अस्तित्वरूप है ।

भावार्थ—तीनसै तेनालीस गजूमै ऐसा क्षेत्र नाही जहां यह जीव न उपज्या अर न मर्या ऐसा बैरग्यके अर्थ विचारना ॥ ६२ ॥

भूरिशोऽत्र मुखदुःखदायिनीः

भूतिजातिगतियोनिसंपदाः ।

यत्रितो विविधकर्मशृंखलः

का न निर्विंशति चेतनधिरम् ॥ ६३ ॥

अर्थ—नानाप्रकार कर्मरूप माकलनि करि वंध्या यह जीव है सो बारबार मुखदुःखका देनेवाली विभूति जाति देवाद्रिक गति योनि संपदा कौनसीकौ प्राप्त न होयहै सर्वहीकौ प्राप्त होय है ।

भावार्थ—इस लोकमें या जीवकौ मुखदुःखके कारण अनेकगर प्राप्त होय है तिनमें हर्ष विषाद करना कथा है, ऐसा विचारना ॥ ६३ ॥

बांधयो भवति शत्रवोऽपि वा

कोऽत्र कस्य निजकार्यवर्जितः ।

बंधुरेप मम शत्रुरेप वा

शेमुपीमिति करोति मोहितः ॥ ६४ ॥

अर्थ—इस लोकमें कार्य करि रहित कौन किसीका भाई बंधु वा शत्रु होयहै कोई भां न होय है ताते यह मेरा भाई है यह मेरा शत्रु है ऐसा बुद्धिकौ मोही जीव करे है यह बुद्धि मिथ्या है ऐसा जानना

॥ ६४ ॥

देवमर्ष्यपशुनारकेष्वयं

दुःखजालकालितेष्वनारतम् ।

कामकोपमदलोभवामितो

वर्चते मवविपर्ययाधूलः ॥ ६५ ॥

अर्थ—दुःखानिके समूहकरि भरे जे देव मनुष्य तिर्यच नारकी तिन भियै यह काम क्रोध मद लोभ इत्यादि विभावनिकरि वासित जीव निरंतर प्रवर्ते है, कैनाहै यह संसारधियै विपर्यय बुद्धिकरि आकुल है, संसारमें तो इष्टानिष्ट वस्तु नाही अर यह काहूको इष्ट मानै है काहूको अनिष्ट मानै है तातै दुःखी है ॥ ६५ ॥

जन्मवर्तिनिवहो विपोज्यते

योज्यते सकृतकर्मभिः पुनः ।

शुष्कपत्रनिकरः परस्परं

मारुतरिव विभीमवृत्तिभिः ॥ ६६ ॥

अर्थ—आप करि किए जे कर्म तिनकरि संसारी जीवनिक्का समूह कहूं परस्पर वियोगरूप कीजिए है कहूं संयोगरूप कीजिए है तै ह्य-वेगसीहित जो पवन तिनकरि पत्तानिका समूह कहूं निटार है क्यूँ विदुगाइएहै मूरे “ संयोग वियोगका कारण कर्म है कोउ नरक नहीं ” देना विचारना ॥ ६६ ॥

एष वेष्टयति भोगकांक्षया

कोशकार इव लालया स्वप् ।

कर्मर्वाजभवया विनिघया

घोरमृत्युभयदानदक्षया ॥ ६७ ॥

अर्थ—जैसै कोशकार जो कुत्तरा तो कन्टै लाल करे कारकी बांधै तैसै यह जीव भोगनिकी काहाकरि कर्तरी कानकी बांधै है

कैसी है भोगनिकी बांछा कर्मधाजकीर उपजी है, मोहोदय जनि है  
स्वभावतैं नाहीं, बहुरि विशेषपनें निग्रहैं अर भयानक मृत्युके देनेनैं  
प्रवाण है अनंतवार मरण करावै है ऐसी है ॥ ६७ ॥

चेतसीति सततं वितन्वतो

लोक रूपमुपजायते परा ।

राक्षसीत इव संसृतेः स्फुटं

धर्मकर्मजननी विरक्तता ॥ ६८ ॥

अर्थ—या प्रकार जो लोकका स्वरूप चित्तविषे विचारै है ताके  
धर्म कर्मकी उपजावनेवाली संसारतैं परम उदासीनता प्रगट उपजै है  
जैसें राक्षसीतैं भय उपजै तैसें संसारतैं भय उपजै है ॥ ६८ ॥

या प्रकार लोकभावना कही । आगे बोधिदुर्लभभावनाको कहै है;—

देशजातिकुलरूपकल्पता

जीवितव्यवलवीर्यसंपदः ।

देशनाग्रहणबुद्धिधारणाः

संति देहिनिबहस्य दुर्लभाः ॥ ६९ ॥

अर्थ—भुक्ति होने योग्य भरमादिक्षेत्र अर क्षत्रियादिजाति अर  
कुल बहुरि सुंदररूप अर नीरोगता बहुरि दीर्घ आयु अर शरीरसंगी  
बल अर आन्मामंत्रधी वीर्य अर संपदा अर जिनशानीका उपदेश अर  
ताके जाननेकी बुद्धि बहुरि जानकरि ताका धारणा रागनी यह वस्तु  
जीवनिके समूहको पावना दुर्लभ है बड़े भाग्यके उदयतैं मिलै है ॥ ६९ ॥

हंत ! तामु गुणदानकोविदा

ज्ञानदर्शनचरित्रसंगतिः ।

लभ्यते तनुमताऽतिच्छतः

कामिनीध्वज कृतप्रता मती ॥ ७० ॥

अर्थ—आचार्य गेदकारि कहैहैं—अहां तिन पूर्वोक्त सामग्रीनिविष्यै भी मुसदेनभै प्रवीण ऐसी जो ज्ञानदर्शन चारित्रकी संगति सो जीवकारि कछतै पाइएहै जैसे खीनिविष्यै मुदर कृतज्ञता कछतै पाइए तैसे पूर्वोक्त सामग्रीनिभै बोध पावना दुर्लभहै ॥ ७० ॥

साधुलोकमहिता प्रमादतो  
बोधिरत्र यदि जातु नश्यति ।  
प्राप्यते न भविना तदा पुन  
नीरधाविव मनोरमो मणिः ॥ ७१ ॥

अर्थ—इम लोकमें साधु पुण्यनिकरि पूजिन ऐसी सम्यक्तादिककी प्राप्तिरूप जो बोधि सो कदाचित् प्रमादतै नसिजाव ; तौ फेरि जीवनि करि न पाइए है जैसे समुद्रविष्यै पडी मुदर मणि न पाइए तैसे बोधि पावना दुर्लभहै ॥ ७१ ॥

हंत ! बोधिमपहाय शर्मणे  
योऽधमो वितनुतेऽधनार्जनम् ।  
जीविताय विपवल्लीरं स्फुटं  
संबनेऽमृतलतामपास्य सः ॥ ७२ ॥

अर्थ—अहो बडे श्रेदकी बातहै: जो अधम पुरुष सम्यक्तादिककी प्राप्तिरूप बोधिकी छोडकारि मुसके अर्थ धन उपार्जन करैहै सो जीवनेके अर्थ अमृतवेल्की छोडके प्रगटपने विपवेल्की सेवेहै ॥ ७२ ॥

योऽत्र धर्ममुपलभ्य मुंचते  
केशमेप लभतेऽतिदाह्यम् ।  
यो निधानमनघं व्यपोहते  
सिघते स नितरां किमद्भुतम् ॥ ७३ ॥

अर्थ—जो पुण्य धर्मकों पापकरि छोड़ैहै सो यहू अति मयानन  
हेराकी पावैहै जैमि जो निर्मल मंडारकी छोड़ै सो अत्यंत रोद छि  
होयही होय, यामे कहा आश्रयहै ॥ ७३ ॥

मुंचता जननमृत्युयातनां

गृह्णा च शिवतातिमुत्तमाम् ।

शाश्वती मतिमता विधीयते

बोधिरद्रिपतिचुलिका स्थिरा ॥ ७४ ॥

अर्थ—जो जीव जन्म मरणकी तीव्र वेदनाकों त्यागताहै यहू  
शाश्वती कल्याणकी संतानिकों प्रदण करता है ता बुद्धिमान पुण्यकरि  
दर्शनादिककी प्राप्तिरूप जो बोधि सां मुमुक्षुकों चूडिकाममान शिव  
कीजिग है ।

भारार्थ—जो जीव दुःखकी त्यागि मुगी भया चाहै सो सम्पद-  
शानादिककी दृष्ट गर्गे यहू तापर्य है ॥ ७४ ॥

ऐमै बोधिभावना कही । आगे धर्म भावनाका वर्गन करेहै;—

निरूपमनिश्चयशर्ममूले

द्वितममिपूजितमम्नमवंदोपम् ।

मज्जति त्रिननिवेदितं स धर्म

भवति जनः गुणमात्रनं मदा यः ॥ ७५ ॥

अर्थ—जो पुण्य त्रिनभाषित धर्मकी सेवेहै सो मदा गुणकमात्रन  
रूप है, वैसाहै त्रिनभाषित धर्म उपमाश्रित अर पापश्रित गुणक  
मूले कहूँ शिवश्रावण है अर मज्जतिहै त्रिन है अर नष्ट भवे है  
निर्गमनरूप अर्थात् शान्त अर वैसा है ॥ ७५ ॥

व्यपनयति मां दुःखदूःखं

विनयति मुक्तिपदं निगमयं यः ।

भवति कृत्रधिया त्रिधा विधेयः

सकलसमीहितसाधनः स धर्मः ॥ ७६ ॥

अर्थ—पूर्ण है बुद्धि जाकी ऐसे पुण्य करि सो धर्म मन बचन कायकीर करणा योग्य है, केमाहै धर्म सकल वांछित वस्तुका साधन है जानै ममस्त इष्ट पदार्थ मिठे हैं, बढ़ीर जो धर्म—दूरहै अंतजाका ऐसा है दुःख जायै ऐसा जो संसार ताहि दूर करैहै, अर निर्दोष मुक्तिपदको देय है ॥ ७६ ॥

मनुजभवमवाप्य यो न धर्म

विषयसुरसाकुलितः करोति पथ्यम् ।

मणिकनकनगं समेत्य मन्ये

पिपतिपति स्फुटमेव जीवितार्थी ॥ ७७ ॥

अर्थ—मनुष्य जन्मको पापके विषयनिके सुरानि विषे आकुलित जो पुरुष हितरूप धर्मको न करै है सो मैं ऐसा मानूं हूं कि यह रत्न मुक्कणके पर्वतको प्राप्त होय करि प्रगटपने जीवनेका अर्था पढनेको इच्छे है, मनुष्यभय पापकीर तो धर्म करनाही योग्य है ॥ ७७ ॥

कलुषपति कुर्षानिरस्तधर्मा

भवशतमेकभवस्य कारणं यः ।

अभिलषितफलानि दातुमीशं

त्यजति तृणार्थितया स कल्पवृक्षम् ॥ ७८ ॥

अर्थ—जो त्यागाहै धर्म जानै ऐसा कुबुसी पुरुष एक भयके अर्थ अनेक भय विगाडैहै सो फलनिके देवे ममर्थ जो कल्पवृक्ष ताहि न्यागैहै अर तृणके अर्थ अभिलाषा करै है ।



भाषार्थ—जो एक भगवन् मंत्र है किंचित् प्रिय मुग्धों अर्थ वन छोड़ते सो अनेकवार निगोदादि पर्यायनिर्भे भ्रमते ताने अनेक मन्त्र विगाडना फलाहे, ऐसा जानना ॥ ७८ ॥

श्रमयमनियमव्रताभिरामं

चगति न यो जिनधर्ममस्तदोपम् ।

भवमग्ननिर्पीडितो दुर्गत्मा

भ्रमति चिरं भवकानने य मीमे ॥ ७९ ॥

अर्थ—जो पुरुष दूर क्रिये है हिमादि शेष जाने ऐसा जो जिन-धर्म ताहि नाही आचरण करेहै सो जन्म मरण करि दुःखित दुर्गत्मा बहुत काल ताई भयानक संसारवन विषे भ्रमते, कैसाहै जिनधर्म कदायके अभावरूप श्रमभाव अर यावर्जाव त्यागरूप धम अर कालकी मर्यादारूप नियम अर अहिंसादि व्रत इनकरि मुदर है युक्त है ॥ ७९ ॥

विगलितकलिलेन येन युक्तो

भवति नरो भुवनस्य पूजनीयः ।

शुचिवचनमनःशरीरवृत्त्या

भजति बुधो न कथं तमत्र धर्मम् ॥ ८० ॥

अर्थ—जो पापरहित धर्म करि युक्त मनुष्य है सो लोकके पूजनीक होयहै ता धर्मको इसलोकमें पवित्र मन वचनकायकी परणति करि कौन पडित जन न सेवैहै, सेवैहीहै ॥ ८० ॥

शान्तिमार्दवमार्जवं निगदितं सत्यं शुचित्वं तप-

स्त्यागोऽकिंचनता मुमुक्षुपतिभिर्ब्रह्मव्रतं संयमः ।

धर्मस्पृष्टि जिनोदितस्य दशधा निर्दूषणं लक्षणं

कुर्वाणो भवयंत्रणाधिरहितो मुक्त्यंगनां श्लिष्यति ॥ ८१ ॥

अर्थ—प्रोधकारावके अभावरूप क्षमा अर मानके अभावरूप मर्दव अर मायाके अभावरूप आर्जव अर सत्यरचन अर लोभके अभावरूप शुचिपना अर अनशनादि तप अर शक्तिसागर त्याग अर निष्परिग्रहता अर ब्रह्मचर्य अर संयम ऐं दशप्रकार लक्षण त्रिनधर्मका मुनीश्वरनि करि कदा ताहि जो आचरण करैहै सो संसारबंधनकरि रहित भया सेवा मुक्तित्री कौ आलिखैहै ॥ ८१ ॥

ऐसे धर्मानुपेक्षा कही । आगे अशिकायकौ संकोचैहै;—

योऽनुप्रेक्षा द्वादशार्पाति नित्यं

भग्न्यो भक्त्या ध्यायति ध्यानशीलः ।

हेयादेयान्नेषतच्चावशोर्षी

सिद्धिं सद्यो याति स ध्यस्तकर्मा ॥ ८२ ॥

अर्थ—या प्रकार जो पुण्य द्वादश अनुप्रेक्षानिकौ ध्यान करैहै स्वभाव जाका ऐसा भग्न्य भक्ति करि नित्यही ध्यावैहै विचारैहै सो हेय उपादेय सायका जाननेसाडा शीघ्रही मुक्तिपदकौ प्राप्त होयहै कैसाहै मो नाश कियेहै कर्म जानै ऐसाहै ।

भावार्थ—जो द्वादश अनुप्रेक्षा भावैहै सो मुक्तिकौ प्राप्त होयहै, ऐसा भावनाका फल दिखपाहै ॥ ८२ ॥

सूचिततत्त्वं ध्यस्तकृतत्वं

भवमयविदलनदमयमकथनम् ।

यो हृदि घने पापनिवृत्ते

शुचिरुचिरुचिरं त्रिनपतिवचनम् ॥ ८३ ॥

केवललोकालोकितलोकोऽ-

मितगतियविपतिमुरपतिमहिताम् ।

## यानि म सिद्धि पावनशुद्धि

मकलितकलिमलगुणमणिमहिनाम् ॥ ८४ ॥

अर्थ—जो पुरुष जिनगजकं वचनकी पापगति हृदयविषै घारै है सो पुरुष मोक्षकी प्राप्त होयहे, कैसाहे जिनगजका वचन मूचित किया है ( बताया है ) वस्तुका स्वरूप जानै बहुरि नाश किया है अन्यथा वस्तुका स्वरूप जानै ( वस्तु तो जैसा अनेकांतरूप है तैसाही है परंतु अन्यथा माननेरूप मिथ्या अभिप्रायका जानै नाश किया है ऐसा है ) बहुरि ससार भयका नाश करनेवाला है इन्द्रियनिका दमन अर संयमका कथन जाविषै बहुरि पवित्र रचिकरि मुंद्र है रचिकारी है, बहुरि कैसाहे सो जिनवचनकी हृदयमें धारनेवाला पुण केवलज्ञान दर्शनरूपी प्रकाशकरि देखाहे लोक जानै,

भावार्थ—जिनवचनके अम्यासतै केवला होय है, कैसाहे मुक्ति अनंतहे महिमा जिनकी ऐसे जे गणधरादिक अर देवनिके इद्र तिनकरि पूजितहे बहुरि रागादि दोषरहित अत्यंत पवित्र है बहुरि खंडित कियेहे पापरूप मूल जिननै ऐसे सम्यक्कादिगुणरत्ननिकरि पूजित है युक्तहे, ऐसा जानना ॥ ८३-८४ ॥

सर्वथा इकतांसा ।

जग है अनित्य तामें सरन न वस्तु कोय,

तातें दुखरासि भववासकां निहारिए ।

एक चित्त चिन्ह सदा भिन्न परद्रव्यनितै

अशुचि शरीरमें न आपाबुद्धि धारिए ॥

रागादिक भाव करै कर्मको बढाय तातें

संवरस्वरूप होय कर्मबंध डारिए ।

तीन लोक मांदि जिनधर्म एक दुर्लभ है  
ताते जिनधर्मकों न छिनह विमारिए ॥

दोदा ।

ऐमें द्वादश भावना भार्पी अमितगतीम ।  
जो भार्पी मो मुखलई कर्ममहागिरि पीम ॥

इत्युपासकाचारे चतुर्दशः परिच्छेदः ।

ऐमें थी अमितगति आचार्यविरचित भाषकाचार्यविर  
चतुर्दशमां परिच्छेद समाप्त भया ।

## अथ पञ्चदशः परिच्छेदः ।



नियम्य करणग्रामं व्रतशीलगुणादृतैः ।

सर्वो विधीयते भव्यविधिरेव विमुक्तये ॥ १ ॥

न सा संपद्यते जंतोः सर्वकर्मक्षयं विना ।

रजोपहारिणी दृष्टिर्वलाहकमिवोजिता ॥ २ ॥

समस्तकर्मविश्लेषो ध्यानेनैव विधीयते ।

न भास्करं विनाऽन्येन हन्यते शार्धरं तमः ॥ ३ ॥

यत्नः कार्यो बुधैर्ध्याने कर्मभ्यो मोक्षकांक्षिभिः ।

मेमेभ्यो दुःखकारिभ्यो व्याधितैरिव भैषजम् ॥ ४ ॥

अर्थ—व्रत अर शील अर गुणनिर्भर कियार्ह आदर जिननै ऐमे भव्य जीवनिकरि इन्द्रियनिके समूहकौ रोक करि यह सर्व पूर्वोक्त व्रतारि आचरण मुक्तिके अर्थ कीजिएहै ॥ १ ॥

मो मुक्ति सर्व कर्मनिके क्षयविना जायके न होयहै जैमे धेनुरिना रत्नका उपसमाधनेवाली वृष्टि न होय तैमे ॥ २ ॥

बहुदि समस्त कर्मका नाश ध्यानही करि करिएहै जैमे सूर्य विना और करि रात्रिमंधरी अंधकार न निवारिए तैसै ॥ ३ ॥

तानै कर्मननै मोक्षके बांछक जे पंडितवन तिनकारि ध्यान गिरे वन करणा योग्यहै जैमे रोगननै छुटनेके बांछक जे मेरी गिनिकी औषधका घन करणा योग्यहै तैमे ॥ ४ ॥

आगे ध्यानका सामान्य लक्षण बंदहै,—

आद्यत्रिसंहतः सार्धसंवर्माहृतिकं परम् ।

वस्तुन्येकत्र चित्तस्य स्थैर्यं ध्यानमुदीर्यते ॥ ५ ॥

अर्थ—आदिके वस्तुन्येकत्र चित्तस्य स्थैर्यं ध्यानमुदीर्यते ये तीन संहतन जिनके पाइए ऐसे जे ध्यानके साधनेवाले पुण्य निजि करि एक वस्तुनिषे उच्छेद अतर्मुहूर्त मनयरी धित्ता बीजिण सो ध्यान बहिर्गहे ॥ ५ ॥

तदन्वेषां यथाशक्ति मनोरोधविधायिनाम् ।

एकद्वित्रिचतुः पंच षडादिक्षणगोचरम् ॥ ६ ॥

अर्थ—बहुरि सो ध्यान, मनके रोधनेवालेनिषे, यथाशक्ति, एक, दोय तीन चार-पांच छह आदि समयनिषे, गोचरहे ।

भाषार्थ—उच्छेद ध्यान उच्छेद महननवालेके अंतर्मुहूर्तवाते बीज-  
निकं यथाशक्ति एक आदि समयनी ध्यान होयहे, ऐसा जानना ॥ ६ ॥

साधकः साधनं साध्यं फलं चेति चतुष्टयम् ।

विषोद्वयं विधानेन पुर्थः सिद्धिं विविक्तुभिः ॥ ७ ॥

अर्थ—साधक, साधन, साध्य, फलं चेति चतुष्टयम् तिनकरि साधन करनेवाला साधक, अर जाकरि साधन सो साधन, बहुरि साधने योग्य होय सो साध्य, अर साधनकर फल पर ध्यान बाग विधान सहित जानना योग्य हे ॥ ७ ॥

सो ही बदे हे;—

संगरी साधको भव्यः साधनं ध्यानसुखलम् ।

निर्वाणं कथ्यते साध्यं फलं साध्यमनःशरम् ॥ ८ ॥

अर्थ—संगरी भव्य जीव सो साधनेवाला साधक है, सुखे निर्वाण ध्यान हे सो साधनहै, बहुरि भोज्य साधने योग्य साध्य है बहुरि अदि-  
मारी सुख है सो ध्यानकर फल हे ऐसा जानना ॥ ८ ॥

आगे ध्यानके भेद बदे हे;—

आर्त्त रौद्रं मतं घम्यं शुक्रं चेति चतुर्विधम् ।

ध्यानं ध्यानवतां मान्यैर्मवनिर्वाणकारणम् ॥ ९ ॥

अर्थ—ध्यानवान जे मुनीश्वर तिनि करि मानने योग्यजे गजशर  
दिक तिनि करि आर्त्त, रौद्र, धर्म, शुक्र ऐमें चार प्रकार का ध्या  
संसारका अर निवारणका कारण कथा है ॥ ९ ॥

संसारकारणं पूवं परं निवृत्तिकारणम् ।

इत्याद्यं द्वितयं त्याज्यमादेयमपरं बुधः ॥ १० ॥

अर्थ—पहले आर्त्त रौद्र ती मसागके कारण हैं बहुरि पर जे धर्म  
शुक्र ते मोक्षके कारण है इस हेतुते पंडितनिकरि आदिके आर्त्त,  
रौद्र दोनों त्यागने योग्य हैं बहुरि और जे धर्म शुक्र ते ग्रहण करणा  
योग्यहैं ॥ १० ॥

तहां प्रथम ही आर्त्तध्यानके भेद कहैहैं,—

प्रिययोगाऽप्रियायोगपीडालक्ष्मीविचिंतनम् ।

आर्त्तं चतुर्विधं ज्ञेयं तिर्यग्गतिनिबंधनम् ॥ ११ ॥

अर्थ—इष्ट वस्तुका वियोग अर अनिष्ट वस्तुका संयोग अर रोगा-  
दिककी पीडा अर लक्ष्मीकी अभिलाषारूप जो विचार सो चार प्रकार  
आर्त्तध्यान तिर्यचगतिका कारण जानना ॥ ११ ॥

आगे रौद्रध्यानका स्वरूप कहैहैं,—

रौद्रं हिंसानृतस्तेयभोगरक्षणचिंतनम् ।

ज्ञेयं चतुर्विधं शक्तं श्वभ्रभूमिप्रवेशने ॥ १२ ॥

अर्थ—हिंसा अर शूठ अर चोरी अर विषयनिकी रक्षा इनिविषै  
हर्षरूप जो चिंतनन सो चार रौद्रध्यान नरकभूमिप्रवेश कराने  
विषै समर्थ जानना योग्य है ॥ १२ ॥

आगे धर्मध्यानके भेद कहैहैं,—

आज्ञापायविपाकानां चित्तं लोकमंस्थितेः ।

पशुर्पाण्डित्तं धर्म्यं निमित्तं नाकशर्मणः ॥ १३ ॥

अर्थ—सर्वत्र दीनशर्मण आज्ञा अर समार दुःखका नाश अर कर्मनिष्ठा उदय इनका विचारना अर लोकके आकारकाविचारना ऐसै प्रकार प्रकार धर्मध्यान शर्मशुण्णका कारण कया है ॥ १३ ॥

आगे शुरुध्यानके भेदनिर्णय करेंतः—

शुभ्रं पृथक्त्वर्तकवीचारं प्रथमं मतम् ।

जिनदेवनि करि पृथक्त्वर्तकवीचारं च द्वितीयकम् ॥ १४ ॥

अन्यन्मूक्ष्मक्रियं तुयं ममुच्छिन्नक्रियं मतम् ।

इत्थं चतुरविधं शुभ्रं सिद्धिमौघप्रवेशकम् ॥ १५ ॥

अर्थ—जिनदेवनि करि पृथक्त्वर्तकवीचार पहला शुरुध्यान कया अर पृथक् करिवे भिन्न भिन्नपने करि चित्तक जो श्रुत ताका वीचार करिवे, अर्थ शब्द अर योगकी फलटना ताकी पृथक्त्वर्तक वीचार करिवे, बहुणि एक पनाकरि धुनका जाये चित्तवन होय फलटन न होय सो एकत्वर्तकवीचार कयाहै, बहुणि योगनिकी क्रिया जाये सूक्ष्म होय सो मूक्ष्मक्रियातीसगहै, बहुणि नष्ट भईहै योगनिकी क्रिया जाये सो ममुच्छिन्नक्रियहै, ऐसै प्रकार शुरुध्यान मुक्तिमहलके प्रवेश करावनेवाला कया है ॥ १५ ॥

आगे ध्यानके स्वामी कहेंहैं—

आर्त्तं तन्मतां ध्यानं प्रमत्तांतगुणाश्रितम् ।

मंयतामंयतांतानां रौद्रं ध्यानं प्रवर्त्तते ॥ १६ ॥

अर्थ—जीवनके आर्त्तध्यानहैसो छहा प्रमत्त गुणस्थान पर्यंत तिष्ठैहै अर संयतासंयत जो पंचम गुणस्थान तहां ताई रौद्रध्यान प्रवर्त्तैहै ॥ १६ ॥



अनपेतस्य धर्मस्य धर्मतो दशमेदतः ।

चतुर्थः पंचमः षष्ठः सप्तमश्च प्रवर्त्तकः ॥ १७ ॥

अर्थ—आज्ञादिक दशप्रकार धर्म जो स्वभाव ताकरि युक्त जो धर्मध्यान ताका प्रवर्त्तविने वाला ध्यायनेवाला चतुर्थ पंचम षष्ठ सप्तम गुणस्थानवर्त्ता जीव जानना ।

भावार्थ—यद्यपि चतुर्थोदि गुणस्थाननिर्मे परिणामनिर्का निर्मलता वा वस्तुविचारमें लीनता अधिक अधिकहै तथापि सामान्यमें सर्व धर्मध्यानही कशाहै ॥ १७ ॥

समर्थ निर्मलीकर्तुं शुक्लं रत्नशिखास्थिरम् ।

अपूर्वकरणादीनां मुमुक्षूणां प्रवर्त्तते ॥ १८ ॥

अर्थ—निर्मल करनेको समर्थ ऐसा जो शुक्लध्यानहै सो अपूर्वकरण आदि सात गुणस्थानवाले मोक्षके वांछक जे आत्मा तिनके प्रवर्त्तहै, कैसाहै शुक्लध्यान रत्नकी शिखासमान स्थिरहै, जैसे रत्नकी शिखा पवनादिकते न चलै तैसे शुक्लध्यान रागादिकते न चलैहै ॥ १८ ॥

अहायोद्भूयते सर्वं कर्म ध्यानेन संचितम् ।

वृद्धं समीरणेनैव बलाहककदंबकम् ॥ १९ ॥

अर्थ—संचय किया जो सर्व कर्महै सो ध्यानकरि शीघ्र उडाइएहै जैसे वृद्धिको प्राप्त भया बादलानिका समूह सो पवनकरि उडाइएहै तैसे ॥ १९ ॥

ध्यानद्वयेन पूर्वेण जन्यते कर्मपर्वताः ।

वज्रेणैव विमिद्यते परेण सहसा पुनः ॥ २० ॥

अर्थ—पहले दोष ध्यान जे आर्त रीति तिनिकरि कर्मरूपी पर्वत उपजाइएहै, बहुरि पीछले जे दोष धर्मध्याय शुक्लध्यान तिनिकरि कर्मपर्वत शापही भेदिहै ।

भावार्य—आर्तसौद्रते कर्म बधेहै अर धर्म शुक्रनिते कर्मनिका नाश होयहै, ऐसा जानना ॥ २० ॥

यो ध्यानेन विना मूढः कर्मच्छेदं चिकीर्षति ।

कुशिलेन विना शूलं स्फुटमेव विमित्मति ॥ २१ ॥

अर्थ—जो मूढ ध्यान विना कर्मनिका नाश करनेको इच्छैहै सो प्रगट यह यज्ञविना पर्वनके छेदनेको इच्छैहै ॥ २१ ॥

ध्यानेन निर्मलेनाऽऽशु हन्यते कर्ममंचयः ।

हुताशनकणेनापि स्नुष्यते किं न काननम् ॥ २२ ॥

अर्थ—निर्मल ध्यान करि शीघ्र कर्मनिका समूह नाश कीजिएहै जैसे अग्निके कण करि भी कहा वन न जलाइए है, जलाइएही है ॥ २२ ॥

ध्यानं विधित्सता श्रेयं ध्याता ध्येयं विधिः फलम् ।

विधेयानि प्रसिद्धयंति सामग्रीतो विना न हि ॥ २३ ॥

अर्थ—ध्यान करनेको इच्छता जो पुरुष ताकरि ध्याता कहिये ध्यानका करनेवाला अर ध्येय कहिये ध्यावने योग्य वस्तु विधि कहिये ध्यानका विधान अर ध्यानका फल ये जानने योग्य है, ते सामग्री विना सिद्ध होय नाही, ध्याता आदिका स्वल्प जाने तो ध्यानकी सिद्धि होय ॥ २३ ॥

आगे ध्याताका स्वल्प कहै है;—

निर्मगमार्द्रवोपेतो निष्कपापो जितेन्द्रियः ।

निर्ममो निरहंकारः पराश्रितपरीपहः ॥ २४ ॥

हेयोपादेयतत्त्वज्ञो लोकाचारपराध्वरः ।

विरक्तः कामभोगेषु भवभ्रमणभीलुकः ॥ २५ ॥

लाभेऽलाभे सुखे दुःखे शत्रौ मित्रे प्रियेऽप्रिये ।  
मानापमानयोस्तुल्यो मृत्युर्जीवितयोरपि ॥ २६ ॥

निरालस्यो निरुद्वेगो जितनिद्रो जितासनः ।  
सर्वत्रनकृताभ्यासः संतुष्टो निष्परिग्रहः ॥ २७ ॥

सम्यक्कालंकृतः शांतो रम्यारम्यनिरुत्सुकः ।  
निर्भयो भाक्तिकः श्राद्धो वीरो वैरंगिकोऽप्यठः ॥ २८ ॥

निर्निदानो निरापक्षो विभंभुदं हंपंजरम् ।

भव्यः प्रशस्यते ध्याता धियामुः पद्मव्ययम् ॥ २९ ॥

अर्थ—स्वभाव करि ही कोमल परिणाम करि युक्त होय, कषायरहित होय ( तीव्रकषायी न होय ) अर जीते हैं इंद्रिय जानै ऐसा होय बहुरि परद्रव्यनिर्भे ममकाररहित होय, अहंकार रहित होय ( पर द्रव्य भेरेहैं ऐसी बुद्धि सो ना ममकार कहिये, परहैं सो भे हूं ऐसी बुद्धिकें अहंकार कहिए इन करि रहित होय ) अर जीते हैं क्षुधादि परिग्रह जानै ऐसा होय ॥ २४ ॥

अर त्यागने योग्य अर ग्रहण करण योग्य जे तब निनका ज्ञानी होय अर लौकिक आचारतैं अपूठो होय, अर काम भोगनि विरै शिरक होय, अर संसारभ्रमणतैं भयभीत होय ॥ २५ ॥

लाभ अलाभ, सुख दुःख, शत्रु मित्र, प्रिय वस्तु अप्रियवस्तु, मान अपमान, अर मरण जीवन विरै भी समान होय ।

भावार्थ—सर्वकौ क्षेपणा करि समान जानि इष्टानिऽपुष्टि नाहीं करे ॥ २६ ॥

निरालसी होय, उद्वेगरहित होय, जीनाहैं इंद्रियो जानै, अर जीपाहैं आसन जानै, आमन वारनेभैं हठे चड़े नाहीं, अर सर्व अरिस्तारि

व्रतानिका व्रतपा है अम्यास जानै, अर संतोष सहित प्रसन्नचित्त होय,  
अर परिश्रमगति होय ॥ २७ ॥

अर सम्बन्धदर्शनकरि शोभित होय, शांतपरिणामी होय, अर सुंदर  
चित्तकी, समावनेवाली वस्तु तिनमें उल्माहरहित होय, निर्भय होय, देव  
शुभ धर्म विषे भक्त होय, धर्म बैराके जातनेकी सुभट होय, बैरागी  
होय, पंडित होय ॥ २८ ॥

निदान रहित होय, काहूकी अपेक्षा लिये न होय, देहरूपी पीजरेके  
भेदनेका इच्छुक होय, भव्य होय ऐसा अविनाशी स्थानके जानेका  
इच्छुक प्याता सरादिये है ॥ २९ ॥

ऐसे प्याताका स्वरूप कदा । आगे ध्येयकी कहैहै;—

ध्येयं पदस्थपिंडस्थरूपस्थारूपभेदतः ।

ध्यानस्थालंबनं प्राज्ञश्चतुर्विधमुदाहृतम् ॥ ३० ॥

अर्थ—ध्यानका आलंबन कहिए जाकी ध्यानविषे चितिए ऐसा  
ध्येय, पदस्थ १ पिंडस्थ २ रूपस्थ ३ अरूप ४ इन भेदनिकरि बुद्धि-  
माननिने प्यार प्रकार कदा है ॥ ३० ॥

तहा प्रथमही पदस्थका स्वरूप कहैहै;—

यानि पंचनमस्कारपदादीनि मनीषिणा ।

पदस्थं ध्यातुकामेन तानि ध्येयानि तत्त्वतः ॥ ३१ ॥

अर्थ—जे पंचनमस्कारपद आदि अक्षरनिके समूहरूप पदहै ते  
पदस्थ ध्यावनेका वाञ्छक जो बुद्धिमान पुरुष ताकरि निश्चयनै ध्यावने  
योग्य है ।

भावार्थ—पदस्थमें पंचनमस्कारमंत्र आदि पद ध्यावना ॥ ३१ ॥

आगे मंत्रनिका विधान कहैहै;—

मरुत्सन्निभो वर्णो भूतान्तः शशिरोत्तरः ।

आघलघ्वादिको ज्ञात्वा ध्यातुः पापं निवृद्धते ॥ ३२ ॥

स्थितो ऽ सि आ उ सा मंत्रशतुष्यत्रेः कुशेऽगये ।

ध्यायमानः प्रयत्नेन कर्मान्मूलयनेऽग्निलम् ॥ ३३ ॥

तन्नाभौ हृदये वक्त्रे ललाटे मस्तके स्थितम् ।

गुरुप्रमादतो वृद्धा चितनीयं कुशेऽगयम् ॥ ३४ ॥

अप्युपवित्यमी वर्णाः स्थिताः पद्मे चतुर्दले ।

विश्राणयन्ति पञ्चापि सम्यग्ज्ञानानि चिन्तिताः ॥ ३५ ॥

स्थितपञ्चनमस्काररत्नत्रयपदैर्दलैः ।

अष्टमिः कलिते पद्मे स्वरकेमरराजिते ॥ ३६ ॥

स्थितोऽर्ह मित्ययं मंत्रो ध्यायमानो विधानतः ।

ददाति चिन्तितां लक्ष्मीं कल्पवृक्ष इवोर्जिताम् ॥ ३७ ॥

हसर्तां कारस्तोमः सोऽर्हं मध्यस्थितो विगतमूर्द्धा ।

पार्श्वप्रणवचतुष्को ध्येयो द्विप्रांतकृतमायः ॥ ३८ ॥

हीं	ॐ	ह्रीं	ॐ	हीं
सः				हः
ॐ				ॐ

मंत्रः

सहस्रा द्वादश प्रोक्ता जपहोमविचक्षणैः ।

ॐ जोगेत्यादिमंत्रस्य तद्भागो दशमः पुनः ॥ ३९ ॥

ॐ जोमे ममे तच्च भूदे भवे भविस्ते अन्वे पन्वे त्रिणपारस्ते  
गहा । अयं मंत्रः, जाप्यं द्वादशसहस्रं १२०००, होमः द्वादशसहस्रं  
२०० ।

पञ्चस्योपरि जापेन जातीपुष्पर्मनोरमः ।

विधा मूचयते मन्व्यन् स्वप्ने सर्वं शुभाशुभम् ॥ ४० ॥

ॐ ह्रीं कारद्रव्यात्तस्यो हंकारो रेफभूपितः ।

ध्यातव्योऽष्टदले पद्मे कल्मषक्षपणक्षमः ॥ ४१ ॥

सप्ताक्षरं महामंत्रं ॐ ह्रीं कारपदानतम् ।

विदिग्दलगतं तत्र स्वाहांतं विनिवेशयेत् ॥ ४२ ॥

'दिशि स्वाहांतमो ह्रीं ह्रीं नमो ह्रीं ह्रीं पदोत्तमम् ।

तत्र स्वाहांतमो ह्रीं ह्रीं कर्णिकायां विनिक्षिपेत् ॥ ४३ ॥

तत्पत्रं त्रिगुणीभूत मायावीजिन घेष्टयेत् ।

विधितयेच्छुषीभूतः स्वेटकृत्यप्रतिद्वये ॥ ४४ ॥

पञ्चस्योपरि यत्नेन देवोपादेयलक्षये ।

मंत्रेणानेन कर्तव्यो जपः पूर्वविधानतः ॥ ४५ ॥

ॐ ह्रीं ह्रीं नमो ह्रीं नमो अरहताय ह्रीं नम इति गुल्मरः ।

जाप्य १०००० ताम् १००० ।

मन्वेनाप्रनिघण्डेण कट्टिति प्रत्येकमक्षरम् ।

कोणपङ्के विश्रवाय स्वाहा वाद्येऽप्यमव्यतः ॥ ४६ ॥

निविश्य विधिना दधो मध्ये तस्य निवेशयेत् ।

भूतांतं बिंदुसंपुनः चिंतयेद्य विगुदधोः ॥ ४७ ॥

विधाय बलयं वाद्ये तस्य मध्ये विधानतः ।

जमो त्रिणाणभित्वाद्यः पूरयेत्प्रसवादिर्कः ॥ ४८ ॥

१ अ ह व क ड १ २ ए न ती षो ष २ म न ये वर ७१० इत ३४५१०—

दिति कशादीन्मो ह्रीं ह्रीं नमो ह्रीं ह्रीं पदोत्तमम् ।

तत्र स्वाहा नमो ह्रीं ह्रीं कर्णिकायां विनिक्षिपेत् ॥

ॐ णमो त्रिणागं १ ॐ णमो परमोत्रि त्रिणागं २ ॐ णमो  
 मन्त्रोत्रि त्रिणागं ३ ॐ णमो अणतोत्रि त्रिणागं ४ ॐ णमो केद-  
 बुदीगं ५ ॐ णमो वीजबुदीगं ६ ॐ णमो पादानुमार्गं ७ ॐ  
 णमो मन्त्रिणमोदरागं ८ ॐ णमो टञ्जुमदीगं, ९ ॐ णमो विडलमदीगं  
 १० ॐ णमो दसपुत्रीगं ११ ॐ णमो चौदसपुत्रीगं १२ ॐ णमो  
 अष्टगणिभित्तकुमलागं १३ ॐ णमो विगुञ्जणडिट्टिपत्तागं १४ ॐ  
 णमो विञ्जाहगणं १५ ॐ णमो चारणागं १६ ॐ णमो पद्मनम-  
 गाणं १७ ॐ णमो आगासगामीगं १८ ॐ त्रौं त्रौं श्रीं हीं धृति  
 कीर्तिं बुद्धिं लक्ष्मीं स्वाहा इति पर्दर्वेल्यं पूर्येत् । एवं पंचनमस्कारेण  
 पचागुलान्यस्तेन सकळी कियते; ॐ णमो अरहंतागं ह्रीं स्वाहा अंगुष्टे,  
 ॐ णमो सिद्धागं ह्रीं स्वाहा तर्जण्यां, ॐ णमो आयरियागं हं स्वाहा  
 मध्यमाया, ॐ णमो उवञ्जायाणां ह्रीं स्वाहा अनामिकायां, ॐ णमो  
 टोए सञ्चसाहूण कनिष्ठकायां, एवं चारत्रयमंगुलीषु विन्यस्य मस्तकस्फो-  
 परि पूर्वदक्षिणापरोत्तरेषु विन्यस्य जपं कुर्यात् ।

इहा ताई यहू मंत्रविधान वा यंत्ररचना वा क्रियाविशेष आदि  
 वर्णन किया, सो याका अर्थ हमको यथार्थ सर्व प्रतिभास्या नाहीं ताँ  
 न लिख्याहं, विशेषबुद्धि जिनको मंत्रशास्त्रका ज्ञान होय ते यथार्थ समझ  
 लीज्यो ।

अभिधेया नमस्कारपर्देयं परमेष्ठिनः ।

पदस्थास्ते विधीयन्ते शब्देऽर्थस्य व्यवस्थितेः ॥ ४९ ॥

अर्थ—जे अर्हतादि परमेष्ठी नमस्कारपदनिकरि कहनेयोग्यहैं ते  
 पदस्य कहिएहै, जातै शब्दविषे पदार्थकी व्यवस्थितिहै ।





कहिण, बहुरि कसाहै पिंडस्य ध्यान औदारिकादि पंच शरीरनिका नारा  
करनेवालाहै, सिद्धपदकी देने वालाहै ॥ ५३ ॥

आगे रूपस्य ध्यानकी कहेंहैं;—

प्रतिमायां समारोप्य स्वरूपं परमेष्ठिनः ।

ध्यायतः शुद्धचित्तस्य रूपस्यं ध्यानमिष्यते ॥ ५४ ॥

अर्थ—परमेष्ठीका स्वरूप प्रतिमात्रिये भले प्रकार आरोपण करके  
ध्यानकरता शुद्ध है चित्त जाका ऐसा जो पुण्य ताके रूपस्य ध्यान  
कहिण है ॥ ५४ ॥

आगे अक्षयस्य ध्यानकी कहेंहैं;—

मिद्धरूपं विमोक्षाय निरस्ताशेषकल्पमम् ।

जिनरूप मिवध्येयं स्फटिकप्रति विंचितम् ॥ ५५ ॥

अरूपं ध्यायति ध्याने परं संवेदनात्मकम् ।

मिद्धरूपस्य लाभाय नीरूपस्य निरेनमः ॥ ५६ ॥

अर्थ—दूर भये है समस्त कर्म जाके ऐमा मिद्धभगवानका स्वरूप  
त्रैमा स्फटिकत्रिये प्रतिविंचित जिनरात्रका स्वरूप,

माचार्य—स्फटिकमणि त्रैमा जिनत्रिय होय तैमा ध्यायता; वर्ग  
गैवम स्पर्शगहित ऐमा अगूर्तीक अरु मरुकरुमरुति ऐमा त्रीमिद्धभग-  
वानका स्वरूप ताकी प्रातिके अर्थ केवलज्ञानस्वरूप अक्षय ध्यानकी  
ध्याये है ॥ ५५ ५६ ॥

आगे परमात्माका ध्यान कैसे करना, सो कहेंहैं;—

वदिरंतः परधेति त्रेधात्मा परिकीर्तितः ।

प्रथमं द्वितीयं दिव्या परात्मानं विंचितयेत् ॥ ५७ ॥

अर्थ—बहिरात्मा अंतरात्मा परमात्मा ऐसे आत्मा तीन प्रकार कया है, नहां बहिरात्मा अर अंतरात्माकी छोडके परमात्माका चितवन कौ ॥ ५७ ॥

बहिरात्मात्मविभ्रान्तिः शरीरे मुग्धचेतसः ।

या चेतस्यात्मविभ्रान्तिः सौञ्जरात्मा विधीयते ॥ ५८ ॥

अर्थ—जो मूढपुर्वाकै शरीरविधै आत्माकी भाति है शरीरमें आपी मानैहै सो बहिरात्मा है, बहुरि चैतन्यके विकार जे रागादिक निनविधै आपी मानैहै सो अंतरात्मा कहिए है ॥

इहा प्रश्न—जो और भ्रमनिमें तौ निष्पादयीकौ बहिरात्मा कया है अर सम्यग्दृष्टीकौ अंतरात्मा कयाहै इहां ऐसा कैमें कया ।

साका उत्तर—देहमें आपा मानना सो बहिरात्मा अर रागादिकमें आपा मानना सो अंतरात्मा ऐमें इहां तौ दोऊ त्यागनेयोग्य कहे । अर जहां अंतरात्मा सम्यग्दृष्टीकौ कया तहां उपादेय कया, किछु आराधनै विरोध नाही ब्रह्मकी इच्छानै अर्थ भेदही है, ऐसा जानना ॥

आगे बहिरात्माका स्वरूप कहै है,—

श्यामोर्गारःकृशःस्पृलःकागःकुंठोज्वलो कली ।

वनिता पुरुषः पंडो विरूपो रूपवानहम् ॥ ५९ ॥

जातदेहात्मविभ्रान्तिरेषा भवति कल्पना ।

विवेकं पश्यतः पुंमो न पुनर्देहदेहिनोः ॥ ६० ॥

अर्थ—मैं काला हूं, गौरा हूं, पतला हूं, मोटा हूं, कागा हूं, हानि हूं, बडवान हूं, निर्बल हूं, स्त्री हूं, पुरुष हूं, ननुमक हूं, विरूप हूं रूपवान हूं, ऐसी यह कल्पना है सो उपबी है शरीरमें आत्मा की भाति जाके जो शरीरही आत्माहै ऐमें निष्पादयीके होय है जाने काला गौरा आदि देहके धर्म हैं आत्माके नाही, बहुरि जो पुरुष शरीरका



अर्थ—इ, शत्रुहृ, पीडितहृ, मूर्खहृ, दरिद्रहृ, धनवानहृ, निर्धनहृ, शोभीहृ, ईर्ष्यायुक्तहृ, मोहीहृ, द्वेषहृ, गमीहृ, अज्ञानहृ, ज्ञानीहृ, ।  
नान्नहृ, दुर्जनहृ, दीनहृ, लोभाहृ, प्रमादी हृ अपमानसहितहृ ऐसी यह  
बुद्धि उपजाहै रागादिकभावनिभै आपेकी भाति जाके ऐसा जो पुरुष  
जाके होयहै ॥ ६४-६५ ॥

आगे निष्पाबुद्धि सम्बन्ध बुद्धिरा फल कहैहै,—

देहे यान्ममतिजनोः सा वर्द्धयति संस्थितिम् ।

आत्मन्यान्ममतिर्या मा नयो नयनि निर्धृतिम् ॥ ६६ ॥

अर्थ—जो देहरिषे आपकी बुद्धि है सो जावके सत्ता बढ़ावे  
बढ़ि जो आत्माविषे आत्मबुद्धि है सो शीघ्र मुक्ति का प्राप्त  
करैहै ॥ ६६ ॥

यो जागत्यन्मिनः कार्ये कायकार्यं स मुंचति ।

यः स्वपित्वात्मनः कार्ये कायकार्यं करोति सः ॥ ६७ ॥

अर्थ—जो पुरुष आत्माके कार्यमें जागैहै अपने हितमें साधनहै  
सो पुरुष शरीरके कार्यको त्यागैहै शरीरसंबंधी क्रिया में उदात्तान  
रहै, बढ़ि जो आत्माके कार्य विषे सोचैहै आत्माके हित में उद्यमी  
नैहै सो शरीरसंबंधी क्रियाको करैहै ॥ ६७ ॥

ममेदमहमस्यास्मि स्वामी देहादिवस्तुनः ।

यावदेपा मतिर्यासे नावद्वयानं कुतस्तनम् ॥ ६८ ॥

अर्थ—ये शरीरादि परद्रव्य मेरा है अरु मैं शरीरादि परवस्तुका  
स्वामीहूँ ऐसी बुद्धि जहा ताई बाय परद्रव्यविषे है तहां ताई प्यान  
कराने होय ॥ ६८ ॥

नाहं कस्यापि मेकाधिन्न भावोऽस्ति बहिस्तनः ।

यदेपा शेषुपी साधोः शुद्धध्यानं तदा मतम् ॥ ६९ ॥

अर्थ—मैं कोई वाद्य पदार्थका नहीं अरु वाद्यपदार्थ मेग कोई नहीं ऐसी यह बुद्धि जब साधुकै होय तब शुद्धय्यान कराई ॥ ६९ ॥

रागद्वेषमदक्रोधलोभमन्मयमन्मराः ।

न यस्य मानसे संति तस्य ध्यानेऽस्ति योग्यता ॥७०॥

अर्थ—जाके मन विषै गग अद्वेष अरु मान अरु क्रोध अरु लोभ अरु मत्सर अरु काम अरु ईर्ष्याभाव ये नहीं ता पुरुषकै ध्यान विषै योग्यताहै ॥ ७० ॥

रागद्वेषादिभिः क्षिप्तं मनः स्थैर्यं प्रचाल्यते ।

कांचनस्येव काठिन्यं दीप्यमानैर्दृताशुनैः ॥ ७१ ॥

अर्थ—रागद्वेषादि करि आक्षिप्त ऐसी मनकी स्थिरता चलायमान होजायहै जैसे दीप्यमान अग्नि करि मुवर्णका काठिनपनां चलाय मान होजाय तैसे ।

भावार्थ—मन चाहे जेता स्थिर होय परंतु रागद्वेषादि करि चलाय मान होहां जायहै ॥ ७१ ॥

विद्यमाने कषायेऽस्ति मनसि स्थिरता कथम् ।

कल्पांतपवनैः स्थैर्यं तृणं कुत्र प्रपद्यते ॥ ७२ ॥

अर्थ—जैसे प्रलयकालकी पवनविषै तृणहै सो स्थिरताको कैसे प्राप्त होय तैसे कषाय भाव विद्यमान होत तैसे मनकी स्थिरता कैसे होय ॥ ७२ ॥

अक्षय्यकेवलालोकविलोकितचराचरम् ।

अनंतवीर्यशर्माणममूर्त्तमनुपद्रवम् ॥ ७३ ॥

१ यह श्लोक बचनिकाकी प्रतिमें नहींहै, संस्कृत प्रतिसे लिख कर बचनिका कर दी है ।

निरस्तकर्मसंबंधं गूह्यं नित्यं निराश्रयम् ।

ध्यायतः परमात्मानमात्मनः कर्मनिर्जरा ॥ ७४ ॥

अर्थ—अविनाशी जो केवल दर्शन केवल ज्ञान निरकरी देवे वा जानेहैं चराचर समस्त वस्तु जानें, बहुत अनंतहैं स्वप्नमें न चलने रूप धीरे अर निराकुलतारूप आनंद जाकें, अर कर्णादि रहित अमूर्ती-कहें, अर रोगादि उपद्रव रहितहैं, अर दूर कियारें समस्त कर्मकारणबंध जानें, बहुत जाफौ मन. पर्ययज्ञानी भी देवे सकें नाही ऐसा गूह्यहैं, नित्यहैं, अर रागादिकके अभावमें निराश्रयहैं ऐसा जो परमात्मा सिद्ध भगवान साहि ध्यायता जो पुरुष ताकें आपके कर्मनिरी निर्जरा होय है ॥ ७३—७४ ॥

आत्मानमात्मना ध्यायन्मात्मा भवति निर्धृतः ।

पर्ययमात्मनाऽऽत्मानं पावयती भवति द्रुमः ॥ ७५ ॥

अर्थ—जैसै वृक्षहैं सो वृक्षकी विन्या संता अग्निमें भावकी प्राण होयहैं तैसै आनाहैं सो आपकी आपकी ध्यायता सेना मुनी होयहैं, सिद्ध स्वल्प होयहैं ॥ ७५ ॥

न यो विविक्तमात्मानं देहादिभ्यो विलोकते ।

न मज्जति भवाभोर्था लिंगस्थोऽपि दूरचरे ॥ ७६ ॥

अर्थ—जो पुरुष देहादि परद्रव्यनी आपकी न्याय नाही देखेंहैं नाही भ्रमन करे है सो पुरुष मुनि भावके बाह्य लिंगमें निरुद्ध भी दुलार सेसार समुद्र विषे हूयें है, द्रव्योंकी मुनिधारक. सो सेनाती हो रहें तब और जीवनिरी बता क्या है ॥ ७६ ॥

मविज्ञानमविज्ञाने विनधायनधम् ।

मदानात्मीयमात्मीयं गुणदं दुःखकारणम् ॥ ७७ ॥

अनेकमेकमंगादि मन्यमानो निरस्नधीः ।

जन्ममृत्युजरारवर्त्ते बंध्रमीति भवोदर्घा ॥ ७८ ॥

अर्थ—जो अज्ञानी पुरुष शरीरादि जे अचेतन पदार्थ तिनकों चेतन मानता अर बिनाभीककों अविनाशी मानता अर सदा आपका नाही ताकों आपका मानता अर दुःखका कारण ताकों मुखदायी मानता अर एक नाही ताकों एक मानता सो जीव संसारसमुद्रविषै अतिशयकारी भ्रमैहै कैसाहै संसारसमुद्र जन्म मरण जरारूप है मोरे जा विषै ॥ ७७-७८ ॥

आत्मनो देहतोऽन्यत्वं चिंतनीयं मनीषिणा ।

शरीरभारमोक्षाय सायकस्येव कोशतः ॥ ७९ ॥

अर्थ—जैसे तरकशतें तीरकों न्यारा देखिए तैसे बुद्धिवान पुरुषकी शरीरका भार त्यागनेके अर्थ मोक्ष होनेके अर्थ शरीरतें आत्माका भिन्नपना चितवना योग्यहै ॥ ७९ ॥

या देहात्मैकताबुद्धिः सा मज्जयति संसृता ।

सा प्रापयति निर्वाणं या देहात्मविभेदर्घाः ॥ ८० ॥

अर्थ—जो देहमें अर आत्मामें एकताकी बुद्धिहै सो संसारमें दुबो वैहै अर जो शरीरकी अर आत्माकी भिन्नबुद्धिहै सो मोक्षकों प्राप्त करैहै ॥ ८० ॥

यः शरीरात्मनोरैक्यं सर्वथा प्रतिपद्यते ।

पृथक्क श्रेमुषी तस्य गूथमाणिक्ययोः कथम् ॥ ८१ ॥

अर्थ—जो देह अर आत्मा विषै सर्वथा एकपना मानैहै ताके विद्या अर माणिक्यरत्नविषै भिन्नपनेकी बुद्धि कैमें होय ।

भावार्थ—आत्मा तो रत्नममान पवित्रहै अर देह विद्यासमान अपवित्रहै सो कारणवश विद्यामें तिष्ठता जो रत्न ताहि जैसे मूल्ये एक मानै

तैर्न कर्मोद्भयके वना शरीरमे तिष्ठता जो आत्मा ताहि विष्यादृष्टी एक मानेहै ऐसा जानना ॥ ८१ ॥

देहचेतनयोर्भेदो भिन्नज्ञानोपलब्धितः ।

सर्वदा विदुषा ज्ञेयशुभ्रः घ्राणार्थयोरिव ॥ ८२ ॥

अर्थ—ज्ञानवान करि देहका अर चेतनका भेद जानना योग्यहै जातै भिन्न ज्ञानकरि जाननेमें आवैहै जैसे नेत्र इन्द्रिय अर नासिका इन्द्रियके विषय जे रूप गंध ते भिन्नज्ञानकरि जाननेमें आवैहै तातै भिन्नहीहै ।

भावार्थ—देहती इन्द्रियज्ञानकरि दीमैहै अर आत्मा स्वसंवेदनकरि दीमैहै, इन्द्रियज्ञानकरि आत्मा न दीसैहै अर स्वसंवेदनमें शरीर न आवैहै, ऐसै न्यारे ज्ञान करि जाने जायहै तातै शरीर अर आत्मा भिन्नहै; जैसे रूप नेत्र करि जान्या जायहै गंध नासिकाकरि जानिए है, रूप नासिकाकरि न जानिएहै अर गंध नेत्रकरि न जानिएहै; तातै गंध रूप भिन्न भिन्नहै ऐसा अनुमान दिताया है ॥ ८२ ॥

न यस्य हानितो हानिर्न वृद्धिर्द्विद्धितो भवेत् ।

जीवस्य मह देहेन तेनैकत्वं कुतस्तनम् ॥ ८३ ॥

अर्थ—जा शरीरकी हानितै जीवके हानि नाही अर जाशरीरकी वृद्धितै जीवकी वृद्धि नाही होयहै, तान जीवके देहके साथ एकपना काहेका ? ॥ ८३ ॥

तत्पतः मह देहेन यस्य नानात्वमात्मनः ।

किं देहयोगज्ञस्तस्य महैकत्वं गुणादिभिः ॥ ८४ ॥

अर्थ—परमार्थतै जित आत्माके देहके साथ भिन्नपनाहै ताके देहके संयोगतै उपजे जे पुत्रादिक तिनकीर एकपना कैसे होय ॥ ८४ ॥

ममत्वधिषणा येषां पुत्रमित्रादिगोचरा ।

साऽऽत्मरूपपरिच्छेदच्छेदिनी मोहकल्पिता ॥ ८५ ॥



अर्थ—जिनके पुत्र मित्रादिविषै जो ये मेर हैं ऐसी ममत्वबुद्धि है  
तिनके ऐसी बुद्धि आत्मज्ञानका नाश करनेवाली मोहकीरि भई ।

भावार्थ—मिथ्यात्वके उदयकीरि कल्पना मात्रहै सन्त्यार्थ नहीं ॥

पत्तनं काननं सौधमेपा नात्मधियांमतिः ।

निवासो दृष्टतत्वानामात्मं वास्त्यक्षयोऽमलः ॥ ८६ ॥

अर्थ—मैं नगरमें वसूं हूं वनमें वसूं हूं महलमें वसूं हूं ऐसी यह  
बुद्धि आत्मज्ञानरहित मिथ्यादृष्टीनिके होयहै, बहुत देखाहै तत्व जिनमें  
ऐसे सम्यग्दृष्टीनिके अविनाशी, नित्य, निर्मल ऐसा जो आत्मा सो ही  
निवास है ॥ ८६ ॥

शुद्धस्य जीवस्य निरस्तमूर्त्तेः

सर्वे विकाराः परकर्मजन्याः ।

मेघादिजन्या इव तिग्मरश्मे-

विनश्वराः संति विभास्वरस्य ॥ ८७ ॥

अर्थ—अमूर्त्तिक जो शुद्ध आत्मा ताके समस्त विकार हैं ते कर्म-  
दयते उपजैहैं,

भावार्थ—द्रव्यदृष्टि करि देखिए तौ विकार कर्मजनित है किंशु  
आत्माके स्वभाव नहीं; जैसे दर्दाप्यमान जो सूर्य ताके विनाशक जे  
विकार ( कहू थोडा प्रकाश होना कहू बहुत प्रकाश होना इया-  
दिक ) बादला आदिके निमित्तसै होयहै, स्वभावजनित नहीं ॥ ८७ ॥

दृष्टात्मतत्त्वो द्रविणादिलक्ष्मीं

न मन्यते कर्मभवां स्वकीयाम् ।

विपक्षलक्ष्मीं भुवने विषेकी

प्रपद्यते चेतमि कः स्वकीयाम् ॥ ८८ ॥

अर्थ—देखा है आत्माका स्वरूप जानै ऐसा पुण्य है सो कर्मोदय-  
की उपत्री जो धनधान्यादिकी लक्ष्मी ताहि आपकी न मानै है,  
लोकविषै ऐसा बौन विवेकी है जो शत्रुकी लक्ष्मीको चित्तविषै आपकी  
मानै ॥ ८८ ॥

ज्ञानदर्शनमयं निरामयं  
मृत्युसंभवविकारवर्जितम् ।  
आमनन्ति मुषियोऽथ चेतनं

सूक्ष्ममव्ययमपास्तकल्मषम् ॥ ८९ ॥

अर्थ—लोकविषै पढित है ते आत्माको ऐसा मानै है:—आत्मज्ञान-  
दर्शनमयी है अर रोगरहित है अर मरण उपजने आदि विकाररहित है अर  
नष्टभया है पाप जाका ऐसा निर्मल है अविनाशी है सूक्ष्म है ॥ ८९ ॥

विग्रहं कृमिनिकायसंकुलं  
दुःखदं हृदि विचिंतयन्ति ये ।

गुप्तिवद्गमिव ने सचेतनं

मोचयन्ति तनुपत्रमंयितम् ॥ ९० ॥

अर्थ—बीडानिके समूहकी भ्रष्टा दुःखदायी ऐसा जो शरीर ताहि  
हृदयविषै जे पुण्य भिन्न विचारे है ते पुरुष शरीर रूप पंचकी बंध्या  
ऐसा जो आत्मा ताका मानै गुप्तिबंधन सो है ।

भाषार्थ—जे शरीर अर आत्माको भिन्न भावै है तिनके कर्मबंधकी  
निर्जरा होय है ॥ ९० ॥

स्थित्वा प्रदेशे विगतोपमर्गे  
पर्यकबंधस्थितपाणिपद्मः ।

नासाग्र संस्थापित दृष्टिपालो

मंदीकृतोच्छ्रामविशुद्धवेगः ॥ ९१ ॥

विधाय वश्यं चपल स्वभावे  
 मनोमनीषी विजिताक्षयुक्तिः ।  
 विमुक्तये ध्यायति ध्वस्तदोषं  
 विविक्तमात्मानमनन्यचित्तः ॥ ९२ ॥

अर्थ—नाहीं अन्य वस्तुविषे चित्त जाका ऐसा ज्ञानी पुरुष मुक्तिके  
 अर्थ रागादिदोषरहित समस्त परद्रव्यनिर्ते भिन्न जो आत्मा ताहि  
 ध्यायेहै कैसाहै सो पुरुष दंशमशकादिकी बाधारहित क्षेत्रविषे तिष्ठ करि  
 पर्येकासनविषे धरेहै हस्तकमल जानै बहुरि नासिकाके अग्रविषे घाण्याहै  
 दृष्टिका पडना जानै बहुरि वृद्धिकी प्राप्त भया ऐसा श्वासोच्छ्वासका वेग  
 सो मंद कियाहै बहुरि चंचलहै स्वभाव जाका ऐसा जो मन ताहि बस  
 करिके जीतीहै इंद्रियनिकी परणति जानै ऐसा पुरुष आत्माकौ ध्यायेहै  
 ॥ ९१—९२ ॥

अभ्यस्यतो ध्यानमनन्यवृत्ते-  
 रित्थं विधानेन निरंतरायम् ।  
 व्यपैति पापं भवकोटिवद्धं  
 महाशमस्येव कपायजालम् ॥ ९३ ॥

अर्थ—या प्रकार पूर्वोक्त विधान करि अंतरायरहित निरंतर  
 ध्यानकौ अभ्यास करंता अर नाहींहै परपरणति जाके ऐसा जो पुरुष  
 ताके कोटि भवकरि बांध्या जो पाप सो नाशकौ प्राप्त होयहै, जैसे  
 उपशमभावसहित पुष्पके कपायनिका समूह नाश होय तेमें ॥ ९३ ॥

ध्यानं पटिष्ठेन विधीयमानं  
 कर्माणि मस्मीकुरुने विशुद्धम् ।  
 किं प्रेर्यमाणाः पवनैः नाग्नि-  
 धितानि मघोदहर्नाषनानि ॥ ९४ ॥

अर्थ—ज्ञानी पुरस्कार करवा भया निर्मल ध्यान है जो कमनिवी  
भय करे है जैसे पवनकार प्रेरणाभया अग्नि है जो सवयत्प ने इस  
नितहि शीप्रकहा नाही दग्ध करे है, करे है ॥ ९४ ॥

त्यागेन हीनस्य कुतोऽस्ति कीर्तिः

मत्पेन हीनस्य कुतोऽस्ति पूजा ।

न्यायेन हीनस्य कुतोऽस्ति लक्ष्मी

ध्यानेन हीनस्य कुतोऽस्ति मिद्धिः ॥ ९५ ॥

अर्थ—दानकार हीन जो पुरस् ताकी कीर्ति कैसी होय, अर मत्प  
कार हीन पुरस्की पूजा कैसी होय, अर न्यायकार हीन पुरस्की लक्ष्मी  
कैसी होय, अर ध्यान कार हीन जो पुरस् ताकी मिद्धि जो भोग हो  
कैसी होय ॥ ९५ ॥

तपांसि रौद्राण्यनिर्दं विधत्ता

शाखाण्यधीतामगिलानि नित्यम् ।

धर्मा चरित्राणि निरस्तर्जद्री

न मिष्यति ध्यानशृते तथाऽपि ॥ ९६ ॥

अर्थ—घोर तपनिवी निरस्त धर्म तो धारो, बहुत कठोर  
शाखनिवी करे है तो पत्रो, आश्रय रहित चरित्रनिर्दं आधारे तो  
आधरो, तो भी ध्यान रितो मिद्धि न करे है । ताके धर्मके अन्तरे  
ध्यान शुरु करे ॥ ९६ ॥

ध्यानं यददाय ददाति मिद्धिं

न तस्य वेदः परमदीदाने ।

सदान्ते हंति यदधुंते

न तस्य वेदः परमदीदानेः ॥ ९७ ॥

अर्थ—नाश किया है स्पर्शनादि सर्व इंद्रियनिके कार्यानिका सन्तु  
जानै,

भावार्थ—जानै स्पर्शादि विषयनिर्मे इंद्रियनिका रागसहित परिणमन  
रोक्या है, बहुरि अपने आत्माके कार्यविषै उद्यम सहितहै चित्तकी  
परणति जाकी ऐसा जो धन्य पुरुषहै सो ध्यानरूप कार्यको करै है  
॥ १०३ ॥

यद्विडमानं जगदंतराले

धत्तु न शक्यं मनुजामरेंद्रः ।

तन्मानसं यो विदधाति वश्यं

ध्यानं म धीरो विदधात्यवश्यम् ॥ १०४ ॥

अर्थ—जो जगतविषै हीडता डोलता नरेन्द्र देवेंद्रनिकरि न रोकने  
योग्य ऐसा जो मन ताहि बस करैहै सो धीर पुरुष निधयमेगी  
ध्यानको करैहै ।

भावार्थ—जाके वशीभूत मन है सो ही ध्यान करनेको समर्थ  
॥ १०४ ॥

वार्षः ममं पंचमिरुग्रवेग-

विद्वग्भिलोकस्थितजीववर्गः ।

न मन्मथस्निष्टति यस्य चित्ते

विनिधलस्निष्टति तस्य योगः ॥ १०५ ॥

अर्थ—तीन लोकमें निष्ठया जो जीवनिका समूह सो जानै उग्रहै  
ग विनका ऐंम त्रे पंच वाण निनकरि एके का/३ बेव्या देगा जो  
उम मां जाके चित्तविषै न निष्ठै ताके ध्यान निधय निष्ठै ॥ १०५ ॥

न रोषो न मोषो न मोषो न दोषो

न कामो न क्रोधो न दंभो न लोभः ।

न मानो न माया न खेदो न मोहः

यदीयेऽस्ति चित्ते तदीयेऽस्ति योगः ॥ १०६ ॥

अर्थ—जा पुरुषके चित्तमें मोघ नहीं राग नहीं चोभे नहीं  
धन्यायादिदोष नहीं काम नहीं भय नहीं दंभ नहीं लोभ नहीं  
मान नहीं माया नहीं खेद नहीं मोह नहीं ता पुरुषके ध्यान होयहै,  
जाके रागादिविकार है ताके ध्यान न होय है ॥ १०६ ॥

प्रवर्द्धमानोद्धतसेवनायां

जीवस्य गुप्ताविव मन्यते यः ।

शरीरकुट्यां वसति महात्मा

हानाय तस्या यतते स शीघ्रम् ॥ १०७ ॥

अर्थ—वर्द्धमानहै तीव्र दुःखरूप परणति जा विपै ऐसा जो शरीर-  
रूप कुट्टी ताविपै घेदीगानेकी वसती समान यमतीकौ जो मानैहै मो  
महात्मा तिम शरीरकुट्टीके नाशके अर्थि शीघ्रही यान करैहै, मोक्ष  
होनेका उपाय करैहै ऐसा जानना ॥ १०७ ॥

समाधिविध्वंसविधौ पटिष्ठं

न जातु लोकव्यवहारपाशम् ।

करोति यो निस्पृहचित्तवृत्तिः

प्रवर्तते ध्यानममुष्य शुद्धम् ॥ १०८ ॥

अर्थ—जो पुरुष एकामचित्तके नाश करनेमें प्रवीण जो निस्पृह  
लोकव्यवहार नाहि पटाचित् नहीं करैहै अर बांझारहित है चित्तकी  
परणति जाकी ऐमे पुरुषके निर्मळ ध्यान प्रवर्तै है ॥ १०८ ॥

विधीयते ध्यानमवेक्षमाणं—

यद्भूतबोधरिह लोककार्यम् ।

रींद्रं तदात्तं च वदन्ति संतः

कर्मद्रुमच्छेदनवद्वकक्षाः ॥ १०९ ॥

अर्थ—जो इस लोकसंबंधी कार्यकी बांछते जे अज्ञानी पुरुष तिन करि ध्यान करि रहे ता ध्यानकी संतपुरुष रींद्र वा आर्त्त कहैहैं, कैमहैं संत पुरुष कर्मद्रुमके छेदनेकी बांधीहैं कर्मर जिननैं ॥ १०९ ॥

सांसारिकं सांख्यमवाप्तुकामं—

ध्यानं विधेयं न विमोक्षकारि ।

न कर्पणं मस्यविधायि लोके

पलाललामाय करोति कोऽपि ॥ ११० ॥

अर्थ—मोक्षका कर्ता जो ध्यान मो संसारके मुक्तकी बांछा करि करना योग्य नाही, जातैं लोकमें धान्यकी उपजावनेवाली जो खेती सो पलालके लाभके आर्थ कोई भी करे नाही । धान्यके अर्थ जो खेती करेगा ताके पलाल तो स्वयमेव ही होयगा । तसैं मोक्षके आर्थ जो ध्यान करे ताके संसारमुक्तता यावन् शुभगर्ह तावन् स्वयमेव होयदे, पद्विधायि मस्यमुक्तकी बांछा करे तो उलटा रींद्रध्यान होय तानें संसारमुक्तता पलालमदित ध्यान करना युक्त नाही ॥ ११० ॥

अभ्यस्यमानं बहूधा स्थिरत्वं

पर्यति दूर्वोद्यमपीह शाश्वम् ।

नूनं तथा ध्यानमपीति मन्या

ध्यानं गदाभ्यस्यतु मोक्तुकामः ॥ १११ ॥

अर्थ—जैसे दृ ली हे जानना जाका ऐसा कठिन शाश्वती बहुत अभ्यास किया भदा स्थिरताकी प्राप्त होयदे तैसे ध्यान-भ्यास भी तथा दृआ मोक्षकी प्राप्त करेदे, तानें मुक्त होनेका इच्छुक पुरुष ध्यानं गदाभ्यस्यतु करो ॥ १११ ॥

अराध्य मानुष्यमिदं सुदुर्लभं

करोति यो ध्यानमनन्यमानसः ।

मनक्ति संसार दुःखतपञ्जरं

स्फुटं स सद्यो गुरु दुःखमंदिरम् ॥ ११२ ॥

अर्थ—जो यह दुर्लभ मनुष्यपनेको पायकरि नाही है अन्यवस्तु-  
रिपै मन जाका ऐसा ध्यान करैहै सो पुण्य दूर है अंत जाका ऐसा  
जो संसाररूपी पीञ्जरा ताको प्रगटपने भेदैहै, कैसाहै ससाररूपी पीञ्जरा  
बदे दुःखानिके बसनेकर परैहै ॥ ११२ ॥

यो जिनष्टं शमयममहितं

ध्यानमपाहृतसकलविकारः ।

ध्यापति धन्यो मुनिजनमहितं

चित्तनिवेशितपरमविचारः ॥ ११३ ॥

अर्थ—जो पुण्य जिनराजकरि बट्या जो कयायानिके अभावरूप  
शमभाव अर जन्मपर्यंत पापक्रियाका त्यागरूप यमभाव तिनकरि सहित  
जो ध्यान ताहि ध्यावैहै सो पुण्य धन्यहै, कैसाहै ध्यान मुनिजननिकरि  
शुभितहै, बहुरि कैसाहै सो ध्यानी पुण्य दूर कियेहै रागादि सकल  
विकार जानै, बहुरि चित्तविषै निवेशित कहिए उपग्याहै परमविचार  
कहिए आत्माका विचार जाकै ऐसाहै ॥ ११३ ॥

नाकिनिकायस्तुतपदकमलो

दीर्णदुरुत्तरभवभयदुःखाम् ।

याति स भव्योऽमितगतिरनयां

मुक्तिमनश्वरनिरूपमसौष्याम् ॥ ११४ ॥

अर्थ—सो पूरौक्त ध्यान करनेवाला भव्यपुरुष अविनाशा अर अनु-  
पमहै मुरा जाविषै ऐसी जो निर्मल मुक्ति अवस्था ताको प्राप्त होयहै,



कैसीहै मुक्ति अवस्था विदोरेहै नाशकियेहै दुस्तर संसारके भय दुःख जानै, बहुरि कैसाहै सो पुरुष देवनिके समूहनि करि स्तुतहै चरणकमल जाके बहुरि अमर्यादरूपहै ज्ञान जाका ।

भावार्थ—ऐसै ध्यानका फल मुक्ति अवस्था कही ॥ ११४ ॥  
सबैया तेईसा ।

ध्यानस्वरूप कह्यो जिनराज व्रतादिसमाजसमेत विचारै,  
चित्त वसै परमारथमें सत्र रागविरोध विकार विडारै ।  
सो सुरपूजितपादसरोज अनंतगुणात्म रूपनिहारै,  
मत्त रहै सुखवारिधमें नाहिं जन्म भवावलिमें फिर धारै ॥  
इत्युपासकाचारे पंचदश परिच्छेदः ।

ऐसै श्री अमितगति आचार्यविरचित श्रावकाचारवियै  
पंद्रहमां परिच्छेद समाप्त भया ।

## ग्रंथकर्तुः प्रशस्तिः ।



अथ आचार्य अपने गुणों परिपाटी कहेंहें;—

अभून्ममो यस्य न तेजसेनः  
 न शुद्धबोधोऽजनि देवसेनः ।  
 मुनीश्वरो निर्वृतकर्मसेनः  
 पादागर्विदप्रणतेंद्रसेनः ॥ १ ॥

अर्थ—निर्मल है ज्ञान जाका ऐसा सो देवसेन नामा आचार्य मुनि-  
 नका ईश्वर प्रगट होना भया, तेज करि मूर्ख जाके समान न होता  
 भया, कैसाहै सो आचार्य जीतीहै कामकी सेना जानै, बहुरि चरणक-  
 मणिविधि नर्चाभूत भेएहैं ईश्वरकी सेना कहिए देवनिका समूह जाके  
 ऐसा है ॥ १ ॥

दोषांधकारपरिमर्दनवद्धकक्षो  
 भूतस्ततोऽमितगतिर्भुवनप्रकाशः ।  
 तिग्मघुनेरिव दिनः कमलावषोधी  
 मार्गप्रबोधनपरो युधपूजनीयः ॥ २ ॥

अर्थ—तिम देवसेन आचार्यका शिष्य लोककी प्रकाशः करनेवाला  
 अमितगतिनामा आचार्य भया, कैसाहै सो मिथ्यावादिदोषरूपी अध-  
 कारके नाश करनेकी बांधाहै कमर जानै सो जैसे सूर्यते कमलनिका  
 प्रसुद्धित करनेवाला अरु मार्गकी प्रगट करनेमें तत्पर ऐसा पंडितनिकरि  
 पूजनीय दिन प्रगटै तैमै देवसेन आचार्यके शिष्य अमितगति सो भी

कमला कहिए लक्ष्मी तार्की प्रफुल्लित करनेवाला अर मांशुमार्गका प्रगट करनेवाला अर पंडितनिकरि पूजनाक होता भया ॥ २ ॥

विद्वत्समूहार्चितचित्रशिष्यः

श्रीनेमिपेणोज्जनि तस्य शिष्यः ।

श्रीमाधुरानूकनमः शशांकः

सदा विधूताऽऽर्हततत्त्वशंकः ॥ ३ ॥

अर्थ—ता अमितगति मुनिका शिष्य श्री नेमिपेण आचार्य होता भया कैसाहै सो पंडितानिके समूहकरि पूजितहै अनेक शिष्य जाके बहुरि श्रीमाधुरसंप्रदायरूप आकाशविपै प्रकाशकरनेतैं चंद्रमा समानहै, बहुरि सदा नाश करीहै अर्हतभापित तत्त्वनि विपै शंका जानैं ॥ ३ ॥

माधवसेनोज्जनि महनीयः

संयतनाथो जगति जनीयः

जीवनराशेरिव मणिराशी

रम्यतमोऽतोऽखिलतिमिराशी ॥ ४ ॥

अर्थ—तिस नेमिसेनके पदविपै जगतविपै पूज्य संयमीनका नाथ श्री माधवसेन आचार्य प्रगट होता भया, कैसा है सो संसारी जीव-निका हितकारहै अर सुंदर रत्ननिकी राशि ज्यौं समस्त मिथ्याभावरूप अंधकारका नाश करनेवाला ऐसा माधवसेन आचार्य भया ॥ ४ ॥

विजितनाकिनिकायमवज्ञया

जयति यो भदनं पुरुविक्रमम् ।

त्यजति मां किमयं परनाशधी-

रिति कपायगणो विगतो यतः ॥ ५ ॥

अर्थ—जीत्याहै देवनिका समूह जानैं ऐसा महापराक्रमी जो कान ताहि तिरस्कारकरि जो जीतैहै सो यहू आचार्य मौकी कैसे छोड़ेगा



भी ज्ञानादिगुणनिकरि ऊंचाई, मेघ ऊंचाई ऐसै मेघसमान उरुन  
आमितगतिमूरि यह शास्त्र रचते भर ॥ ७ ॥

मदत्र सिद्धांतविरोधि भाषितं

विशोध्य मद्ग्राह्यनिमं मनीषिभिः ।

पलालमत्यस्य न भास्कांधिभिः

किमत्र शालिः परिगृह्यते जनैः ॥ ८ ॥

अर्थ—इम शास्त्ररिषे जो किछु सिद्धांतविरोध कया होय तरे मोरिषे बुद्धियाननिकरि यह शुद्ध ग्रहण कया योग्यटे, जाते लोरीषे मादके वांछक जे पुरूप भिनकरि पलाल छोडिके कया चांउइ हसन न कीजणहे, कीजिणहीहे ॥ ८ ॥

( काव्य )

यावन्निष्ठति शामने जिनपतेः पापापहारोयतं

यावद्भ्रमयते हिमेतर्गुचिर्विशं तमः शार्करम् ।

यावद्भाग्यते महीघघस्वचितं वातत्रयी विष्टपं

तावन्नाममिदं करोतु रिदुषामभ्यस्यमानं सुदम् ॥

अर्थ—पापके हरनेमें उद्यमी जो जिनराजका मत सो जहा ली निष्टे अरु जहा लई गुरुं सारि सेकी मकल अस्कारकी होटे कुरि जहा लई परेननिकरि नदिल सो लोक ताहि सीनी वाता उप ली महनाहे यह आचकाचार शास्त्र अभ्यास किया सोना ज्ञानी होतनिषे आनेद कइ, टेमे आचारने आगीराद दिवाटे ॥ ९ ॥

इति धर्मदर्पः प्रशस्तितः ।

## भाषाकारकी प्रशस्ति ।

रागादिक हानि जहां बतें बद्धमानरूप  
तार्ते आनजनित प्रमोद बढ़वारीहै ।

महित प्रमाद प्रसहिंसा आदि पाप मूल  
धोय धोय अधिक विशुद्धिता मम्हारीहै ॥

ऐसे दर्शनादि धान एकादश श्रावकके  
तामें एक भी जो नर धारै दगधारी है ।

माधुपद चाह जाके नाहीं उर भोगदाह  
“भागपंद” ताकी चार बार बलिहारी है ॥ १ ॥

गोपाचलके निकट मिथिया नृपति कटकवर,  
जैनी जन बहु धर्म जहां जिनमक्तिभाग्यर ।

तिनमें तेरहपंच गोष्टि गजव विशिष्ट अति  
पान्दनायजिनधाम रच्यो जिन सुम उन्नंग अति ॥

तहें देशव्यवहारकामय भली “भागपंद” रचना करिय ।  
अपवंत होट मतसंग यह जा प्रमाद शृषि विस्तरिय ॥ २ ॥

सुन्द अर्थ जो ग्यून तहें गोपष्ट सुधी सुदान ।  
मोदि अल्पभुत जानिके हेमदू न ग्यून विज्ञान ॥ ३ ॥

साधननबी श्रेण्या वा जिनधन अनुगाम ।  
उभयदोषधन से तिरयो विमति अर्थ दि न्याम ॥ ४ ॥

भजू देव सर्वज्ञ अज्ञजनभ्रमतमनाशक,  
 ध्याऊं सिद्धसमूह ध्यान जिस स्वपरप्रकाशक ।  
 आचारज मुनिराज तने पदवारिज बंदू  
 उपाध्याय गुण गाय पापतरुमूल निकंदू ॥  
 पुनि सर्व माधु यह लोकमें तहँ नितप्रति चितवन करूं।  
 यह मंगल उत्तम शरण लखि धार धार जिन चित धरूं ॥५॥  
 संवतसर उगणीससौ द्वादश ऊपरि धार ।  
 अष्टादिक आपाढ़की पूर्ण बचनिका सार ॥ ६ ॥  
 इति श्री आचार्य अमितगतिष्ठत ध्यायकाचारकी  
 बचनिका समाप्त भई ।

\* \* \*

## मूलाचार ।

मुनि श्रीअनन्तकीर्ति दि० जैन ग्रन्थ-मालाका यह पंद्रह  
 ग्रन्थ है । इसके मूल ग्रंथ कर्ता आचार्य बहुकेर स्वामी हैं । मूल ग्रन्थ  
 प्राकृतमें है । उसकी भाषाटीका पं० मनोहरलालजी शास्त्रीने की  
 है । यह मुनियोंके आचारमंत्रधी ग्रन्थ है । निर्णयमागर प्रेममें छा  
 हुआ है । मूल्य तीन रुपये ।

मिटनेका पना—

जैन-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय  
 हीमवाग, पो० गिरगांव, बम्बई ।

